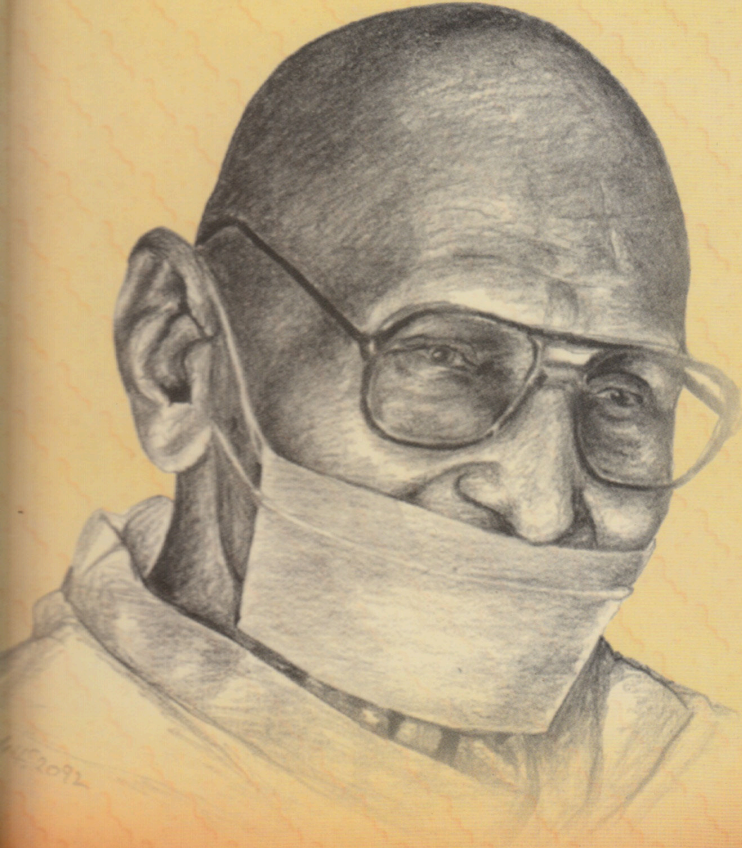


नैतिकता, चरित्र और अणुव्रत

आचार्य महाप्रज्ञ



नैतिकता, चरित्र और अणुव्रत



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत



नैतिकता, चरित्र और अणुव्रत

आचार्य महाप्रज्ञ



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

संपादक
मुनि धनंजयकुमार

प्रकाशक :

जैन विश्व भारती

पो.: लाडनूं (राज.) 341306

जिला : नागौर (राजस्थान)

फोन : 01581-226080/224671

फैक्स : 01581-227280

e-mail:secretariatldn@jvbharati.org

ISBN 978-81-7195-266-3

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

प्रथम संस्करण : जुलाई 2014 ई. (प्रतियां 1100)

मूल्य : तीन सौ पचास रुपये मात्र

आवरण स्केच : अडिग

मुद्रक : सांखला प्रिंटर्स

विनायक शिखर, शिवबाड़ी रोड, बीकानेर 334003



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

पुरोवाक्

परम पूज्य गुरुदेव तुलसी ने अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया। जनता के नैतिक उत्थान की दृष्टि से गुरुदेव का यह महत्वपूर्ण अवदान था। किसी भी राष्ट्र के विकास के लिए आर्थिक और भौतिक विकास का होना भी जरूरी होता है परंतु वह अधूरा विकास होता है। विकास की परिपूर्णता के लिए शैक्षिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास भी अपेक्षित होता है।

परम पूज्य आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने समय-समय पर नैतिकता, चरित्र और अणुव्रत पर अपने प्रवचन किए। उनके साहित्य में भी यत्र तत्र इस प्रकार की सामग्री मिलती है, प्रस्तुत ग्रंथ चारित्रिक विकास के संदर्भ में बहुत महत्वपूर्ण है। गुरुदेव तुलसी के जन्म शताब्दी वर्ष के दौरान यह सुसंपादित हो रहा है। शासनगौरव मुनि धनंजयकुमारजी आचार्यश्री महाप्रज्ञ के साहित्य के संपादन कार्य से लंबे काल से जुड़े हुए हैं। उन्होंने पाठक-वर्ग पर बड़ा उपकार किया है। यह ग्रंथ विद्वज्जनों और सामान्यजनों को पथदर्शन देने वाला और उनमें नैतिक चेतना को जाग्रत करने वाला बने। शुभाशंसा।

जून, 2014
पश्चिम विहार, नई दिल्ली

—आचार्य महाश्रमण



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

संपादकीय

मैं यदा कदा जीवन पर दृष्टिपात करता हूँ, जीवन की स्थितियों का निरीक्षण और विश्लेषण करता हूँ, चिन्तन की गहराई में उतरता हूँ तब अनेक बार यह प्रश्न मस्तिष्क में कौंधता है—क्या जीवन और समस्या का सह-अस्तित्व है? क्या जीवन और समस्या का अनुबंध शाश्वत है?

जीवन था, जीवन है और जीवन रहेगा—यह जितना सच है क्या उतना ही सच यह नहीं है—समस्याएं थीं, समस्याएं हैं और समस्याओं का अस्तित्व बना रहेगा?

वर्तमान युग की समस्याओं से प्रायः जन परिचित हैं और चिन्तित भी हैं किन्तु क्या कोई भी युग ऐसा रहा है, जिसमें समस्याएं नहीं थी? आज भ्रष्टाचार और रिश्वतखोरी की समस्या व्यापक है। ढाई हजार वर्ष पूर्व के इतिहास को पढ़ें तो इसी सच का साक्षात् होता है। महामात्य चाणक्य का कथन इस तथ्य का स्वयंभू प्रमाण है—

‘पानी की गहराई में तैरने वाली मछलियां पानी पीती हैं, इसका पता लगाना कठिन है। इसी प्रकार राज्य-कर्मचारी रिश्वत लेता है, उसका पता लगाना कठिन है।

आकाश में उड़ने वाले पक्षियों की गति का पता लगाया जा सकता है किन्तु प्रच्छन्न भाव से रिश्वत लेने वाले राज्यकर्मचारी की गतिविधि का पता नहीं लगाया जा सकता।

जीभ के नीचे रखे हुए मधु या विष का आस्वाद न ले, क्या यह हो सकता है? नहीं हो सकता। क्या यह हो सकता है कि राज्य-कर्मचारी हो और रिश्वत न ले?’ चाणक्य-युग में यह प्रश्न केवल राज्य-कर्मचारी के संदर्भ में उभरा होगा किन्तु आज क्या कोई ऐसा क्षेत्र है, जहां रिश्वत की समस्या न हो?

क्या कोई युग ऐसा रहा है, जिसे अपराध-मुक्त कहा जा सके। चोरी, डकैती, लूटपाट, अपहरण जैसी घटनाएं उस युग में भी होती रही हैं, जिसे सतयुग की संज्ञा दी जाती है। हम किसे कलियुग कहें और किसे सतयुग? जैन आगम प्रश्नव्याकरण सूत्र में अपराध के संदर्भ में जिन दंडात्मक विधियों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है, वे लोमहर्षक और रोंगटे खड़े करने वाली हैं। जितना पुराना है मानवीय सभ्यता के विकास का इतिहास उतना ही पुराना है अनैतिक और अमानवीय आचरणों का इतिहास। स्वत्व-हरण, कलह, छीना-झपटी और संघर्ष की बढ़ती प्रवृत्ति ने ही आदिम युग में समाज व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था और दंडनीति को जन्म दिया था। उस युग में समाज व्यवस्था, राज्य व्यवस्था और दंडनीति का सूत्रपात अपराध-मुक्त समाज और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के लिए हुआ था। कालान्तर में इस दृष्टि से समय-समय पर विश्व में अनेक

व्यवस्थाओं का प्रवर्तन हुआ, अनेक प्रकार की राजनीतिक प्रणालियां अस्तित्व में आईं पर मानवीय जीवन की समस्याएं समाहित नहीं हुईं।

वस्तुतः जहां जीवन है, वहां समस्याएं हैं। जहां जीवन नहीं है वहां समस्याएं भी नहीं हैं। क्या किसी जीवन-मुक्त ने समस्या को देखा है? क्या किसी ने इस दुनिया में समस्या-मुक्त जीवन के अस्तित्व का साक्षात् किया है?

इस दुनिया में अनेक समस्याएं हैं। उनकी सूची भी इतनी लंबी है कि नामोल्लेख मात्र से अनेक पृष्ठ भर जाएं। यदि हम समस्याओं का वर्गीकरण करें तो कहा जा सकता है—विश्व-मानस दो प्रकार की समस्याओं से आक्रांत है—1. आध्यात्मिक, 2. भौतिक।

अध्यात्मवेत्ता मनीषी कहते हैं—जहां संसार है, वहां समस्या है। जहां समस्या है वहां संसार है। इतना ही नहीं, संसार स्वयं समस्या है, समस्या का स्रोत है।

संसार का अर्थ है जन्म-मरण की परम्परा। जन्म-मरण का हेतु है कर्म। कर्म के बीज हैं राग और द्वेष। जिसने राग-द्वेष को जीत लिया, उसने संसार-सागर को तर लिया।

इस आध्यात्मिक सचाई को इस भाषा में भी कह सकते हैं—समस्या की जड़ है राग और द्वेष। इस दुनिया में जितनी समस्याएं हैं, वे या तो राग से उपजी हुई हैं या द्वेष से उपजी हुई हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ इसी का परिवार है। जितना राग-द्वेष कम होता है, उतनी समस्याएं कम होती हैं। जितना राग-द्वेष बढ़ता है, उतनी ही समस्याएं प्रबल होती हैं। जो राग-द्वेष को कम करने की साधना करता है, उसे समस्या के सागर में समाधान का द्वीप उपलब्ध हो जाता है।

इस दुनिया में भौतिक समस्याएं भी कम नहीं हैं। उपाध्याय यशोविजयजी ने वि. संवत् 1723 में शांतसुधारस भावना ग्रंथ लिखा। संस्कृत भाषा में सृजित उस ग्रंथ में भौतिक समस्याओं की शृंखला का हृदयस्पर्शी रेखांकन है—

प्रथममशनपानप्राप्तिवाञ्छाविहस्ता,
तदनुवशनवेशमालंकृतिव्यग्रचित्ताः।
परिणयनमपत्यावाप्तिमिष्टेन्द्रियार्थान्,
सततमभिलषन्तः स्वस्थतां क्वाश्नुवीरन्॥

पहली समस्या—रोटी, पानी को पाने की इच्छा से व्याकुल।

दूसरी समस्या—वस्त्र, मकान, अलंकार आदि के लिए चित्त की व्यग्रता।

तीसरी समस्या—विवाह, संतान प्राप्ति की आकांक्षा।

चौथी समस्या—प्रिय इंद्रिय विषयों की सतत अभिलाषा।

जहां इतनी समस्याएं हैं वहां शांति और स्वास्थ्य कैसे उपलब्ध हो सकता है?

भौतिक संसाधन सहज-सुलभ नहीं होते। मनुष्य रात-दिन इनकी चिन्ता में घुला रहता है। जब वांछित संसाधन स्वस्थ तरीके से प्राप्त नहीं होते तब वह येन-केन-प्रकारेण पाने का प्रयत्न करता है। यह जैसे-तैसे प्राप्त करने का प्रयास अनेक अनर्थों, अपराधों और जटिल समस्याओं को जन्म देता है। नैतिक मूल्यों का हास और चरित्र का पतन इसकी स्वाभाविक निष्पत्ति है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

प्रसिद्ध इतिहासकार टायनबी ने लिखा—मनुष्य के समक्ष दो विकल्प हैं—आस्थाहीन रोटी और रोटी-हीन आस्था।

जहां आस्था है, वहां रोटी नहीं है। जहां रोटी है वहां आस्था नहीं है। क्या रोटी और आस्था—दोनों एक साथ नहीं मिल सकते?

रोटी का अभाव भौतिक समस्या है और आस्था का अभाव आध्यात्मिक। कोई भूखा न रहे, सबको रोटी मिले—यह राज्य सत्ता का प्राथमिक दायित्व माना जाता है। राज्य-सरकारें अपने इस दायित्व के प्रति सचेष्ट भी रहती हैं कि सबको भोजन मिले, शिक्षा और चिकित्सा सुलभ हो। खाद्य सुरक्षा विधेयक आदि कानूनों के निर्माण का उद्देश्य भी यही बताया जाता है।

वस्तुतः आज रोटी का अभाव जितना चिन्ता का विषय है, आस्था का अभाव उतना चिन्ता का विषय नहीं है। आज सबका ध्यान रोटी की व्यवस्था पर केन्द्रित है, गति और मति का नियोजन भी इसी दिशा में है। आस्था, जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा जीवन का लक्ष्य-बिन्दु नहीं है। इस दिशा में न मति का नियोजन है और न गति का। इस स्थिति में आस्थाहीनता की विकट समस्या कैसे समाहित हो सकती है?

किसका मूल्य ज्यादा है? रोटी का या आस्था का, नैतिक और चारित्रिक मूल्यों की प्रतिष्ठा का? रोटी का मूल्य क्या है? इसे हर व्यक्ति जानता है। आस्था का मूल्य क्या है? इसे कितने लोग जानते हैं?

रोटी भूख की समस्या का समाधान है, इसलिए उसका मूल्य स्पष्ट है। आस्था भूख की समस्या का प्रत्यक्ष समाधान नहीं है इसलिए उसके मूल्य का बोध स्पष्ट नहीं है। यथार्थ यह है—रोटी की समस्या के सुलझने पर भी जीवन की अनेक समस्याएं जटिल बनी रहती हैं। आस्थाहीनता की समस्या के सुलझने पर जीवन की कोई समस्या जटिल प्रतीत नहीं होती। यदि इस यथार्थ का मूल्यांकन होता तो मनुष्य आस्था का मूल्य रोटी से कभी कम नहीं आंकता, वह नैतिक एवं चारित्रिक मूल्यों की कभी उपेक्षा नहीं करता, उसे इस सचाई का भी साक्षात् होता—जहां आस्था का अभाव प्रबल होता है, नैतिक एवं चारित्रिक मूल्यों का हास होता है, वहां रोटी की समस्या जटिल ही नहीं होती, वह अनेक अनर्थों और अपराधों को जन्म देने वाली होती है। जहां आस्था-भाव प्रबल होता है, नैतिक एवं चारित्रिक मूल्यों की प्रतिष्ठा होती है वहां अनर्थों और अपराधों को पनपने का अवसर नहीं मिलता, रोटी की समस्या भी अकिंचित्कर प्रतीत होती है।

यह अनुभवपूरित सच है—जब आस्था-बल प्रबल होता है, पदार्थों के अभाव में भी मनुष्य दुःखी नहीं होता। जब आस्था-बल क्षीण होता है, पदार्थों के अतिभाव में भी मनुष्य सुखी नहीं रहता।

सुख-दुःख का मूल कारण पदार्थ का अभाव अथवा अतिभाव नहीं है। उसका कारण है इच्छा, आसक्ति और असंयम। असीम इच्छा, तीव्र आसक्ति और असंयत जीवन शैली से मनुष्य दुःखी बनता है, समस्या की शृंखला अंतहीन हो जाती है। यदि इच्छाओं की बाढ़ से संयम की नदी के तटबंध टूट जाए तो क्या महाविनाश से बचा जा सकेगा? यदि महत्वाकांक्षाएं अनियंत्रित होकर आकाश को छूने के लिए कटिबद्ध हो जाएं तो क्या सर्वोच्च जीवन-मूल्य अधोमुख होकर पाताल को नहीं छुएंगे? यदि भोग-विलास और असंयम की तरंगें सुनामी बन मचलती रहे तो क्या सदाचार की जीवन-बगिया उजड़ नहीं जाएगी?

इच्छाओं का अल्पीकरण, महत्वाकांक्षाओं का परिसीमन, अनासक्ति और संयम की चेतना का विकास—ये सुखी जीवन के सूत्र हैं। इन सूत्रों का अनुशीलन और प्रयोग नैतिक और चारित्रिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अनिवार्य है। इस अनिवार्यता की अनुभूति किए बिना समस्याओं के समाधान के सूत्र हस्तगत नहीं हो सकते, स्वस्थ समाज संरचना के प्रयत्न सफल नहीं हो सकते।

उपेक्षणीय की अपेक्षा और अपेक्षणीय की उपेक्षा—इसका अर्थ है समस्या को आमंत्रण। जहां अपेक्षणीय तत्व की उपेक्षा होती है और उपेक्षणीय तत्व को प्रश्रय मिलता है, वहां समस्याएं उत्पन्न होती हैं। वर्तमान समस्याओं के समाधान के लिए आज अपेक्षा है इच्छाओं के अल्पीकरण और सीमाकरण की, त्याग और व्रत की, संयम और अनासक्ति के विकास की। ये तत्व आज उपेक्षित और गौण बने हुए हैं। अंतहीन इच्छाओं, आकांक्षाओं और संग्रह की वृत्ति अस्वीकृत और उपेक्षित होनी चाहिए, किन्तु आज मनुष्य इनमें आसक्त और निमग्न बना हुआ है। युगीन समस्याओं का प्रमुख कारण यही है कि जो जीवन-तत्त्व हेय और उपेक्षणीय हैं, वे समाज में व्यापक बने हुए हैं और जो जीवन-तत्त्व सर्वाधिक अपेक्षित और आदेय हैं, वे जन-मानस में प्रतिष्ठित नहीं हो पा रहे हैं। यदि नैतिक और चारित्रिक मूल्य, जिनकी आज सर्वाधिक अपेक्षा है, प्रतिष्ठित और व्यापक बनते तो समाज में पारदर्शिता, प्रामाणिकता, करुणा और संवेदनशीलता का विकास होता। हर व्यक्ति चाहता है कि समाज का आभामंडल साफ-सुथरा और निर्मल रहे, वह भद्रा, कुरूप और मटमैला न हो। इस चाह की पूर्ति तभी संभव है, जब नैतिकता एवं सदाचार के संस्कारों से मानवीय जीवन भावित एवं प्रभावित हो।

अणुव्रत अनुशास्ता आचार्यश्री तुलसी क्रांतद्रष्टा आचार्य थे। वे मानव धर्म के महान् प्रवक्ता और व्याख्याता थे। उन्होंने नैतिक एवं चारित्रिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए अणुव्रत-आंदोलन का प्रवर्तन किया। इस आंदोलन ने युगधारा को प्रभावित किया, जन-मानस में नई आशा और नई आस्था का संचार किया। युगीन समस्याओं के समाधान में अणुव्रत आंदोलन ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। धर्म के क्षेत्र में अभिनव क्रांति की। वर्ण, वर्ग, जाति और संप्रदाय से मुक्त धर्म की परिभाषा प्रस्तुत की। धर्म को ग्रंथों, पंथों और धर्मस्थानों से निकाल कर मनुष्य के जीवन-व्यवहार से जोड़ा। धर्म का वह रूप जनता के सामने रखा, जिसे प्रतिदिन और प्रतिक्षण जीया जा सके। प्रस्तुत ग्रंथ आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रवर्तित उसी मानव धर्म का विशद भाष्य है।

परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ आचार्यश्री तुलसी के श्रेष्ठ शिष्य और यशस्वी उत्तराधिकारी ही नहीं थे, आचार्य तुलसी द्वारा प्रस्तुत क्रांति सूत्रों के अद्वितीय भाष्यकार भी थे। अक्षीण था उनका प्रज्ञाबल, विलक्षण थी उनकी मेधा, तीक्ष्ण थी तर्कशक्ति और विचक्षण थी दृष्टि। समस्याओं को देखने और समझने का उनका नजरिया मूलस्पर्शी था। वे केवल समस्या का विश्लेषण ही नहीं करते थे, उसके कारणों का अन्वेषण भी करते थे और समस्या की जड़ तक पहुंच जाते थे। आचार्यश्री महाप्रज्ञ का यह दृढ़ विश्वास रहा—समस्या की जड़ को पकड़े बिना उसे नहीं सुलझाया जा सकता। वे मानवीय मनोवृत्ति का चित्रण करते हुए कहते थे—‘हम पत्तों और फूलों के सिंचन पर ज्यादा विश्वास करते हैं, जड़ के अभिसिंचन की ओर कम ध्यान देते हैं इसीलिए पत्र और पुष्प भी मुरझा जाते हैं।’

आचार्यश्री महाप्रज्ञ प्रस्तुत संदर्भ में आधुनिक चीन के निर्माता माओत्से तुंग का हृदयस्पर्शी संस्मरण भी सुनाते—माओ ने मां की रुग्णावस्था में फूलों के बगीचे की सार-संभाल का दायित्व लिया। फूलों पर पानी सींचा। पौधे कुम्हला गए। मां स्वस्थ होकर बगिया में आई। कुम्हलाए हुए पौधों को देखकर मां ने कहा—‘बेटा तुमने इन पौधों को सींचा नहीं, ऐसा लगता है।’

माओ का उत्तर था—‘मैंने बहुत बुद्धिमानी से सींचा है। मैंने प्रत्येक फूल को सींचा है।’



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

मां ने कहा—‘बेटा! तुम समझते नहीं हो। मूल को सींचा जाता है तो फूल खिल उठते हैं और फूलों को सींचा जाता है तो सब मुरझा जाते हैं।’

माओ ने लिखा—‘इससे मैंने एक बोधपाठ पढ़ा कि समस्या की जड़ को पकड़े बिना उसे सुलझाया नहीं जा सकता।’ (नैतिकता, चरित्र और अणुव्रत, पृ. 161)

जीवन में समस्या है, यह हर व्यक्ति मानता है, जानता है और भोगता भी है। समस्या क्यों है? समस्या का मूल कारण क्या है? इसे बहुत कम लोग जानते हैं। समस्या का समाधान क्या है? समस्या कैसे समाहित हो सकती है? विरल विचक्षण व्यक्ति ही समाधान-सूत्रों के ज्ञाता और प्रयोक्ता होते हैं। आचार्यश्री तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञ उन विरल महापुरुषों में थे, जिन्होंने समस्याओं के मूल को ही नहीं पकड़ा, उनके सटीक समाधान भी प्रस्तुत किए। प्रस्तुत ग्रंथ में गुरु-द्वय की मूलस्पर्शी समाधायक दृष्टि का साक्षात्कार किया जा सकता है।

प्राचीन साहित्य में दो प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख मिलता है—सैही वृत्ति और श्वानी वृत्ति। प्राकृत का एक बहुत मार्मिक पद है—

पत्थरेणाहतो कीबो, खिप्पं डसइ पत्थरं।
मिगारी उ सरं पप्प, सरुप्पत्तिं व मग्गति॥

कुत्ता पत्थर से आहत होता है और शीघ्र ही पत्थर को चाटने लग जाता है। सिंह को तीर लगता है तो वह तीर को नहीं देखता, तीर के उत्पत्ति स्रोत की खोज करता है और उस दिशा में प्रत्याक्रमण करता है।

कुत्ता ढेले को देखता है। वह यह कभी नहीं देखता कि ढेला कहां से आया है? ढेला किसने फेंका है? सिंह तीर को कभी नहीं देखता। वह यह देखता है कि यह तीर कहां से आया है? यह तीर किसने फेंका है? वह सीधा तीर फेंकने वाले की ओर लपकता है।

समस्या को देखना—यह है श्वानी वृत्ति। समस्या की जड़ को खोजना और उसका समाधान करना—यह है सैही वृत्ति।

एक वह वृत्ति होती है जो परिणाम को देखती है और एक वह वृत्ति होती है, जो प्रवृत्ति के मूल को पकड़ती है। आचार्यश्री तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञ के दर्शन, चिन्तन और सृजन में इसी सैही वृत्ति की प्रवर प्रस्फुरणा है। प्रस्तुत ग्रंथ **नैतिकता, चरित्र और अणुव्रत** का स्वाध्याय, अनुशीलन और मनन करने वाला पाठक इस तथ्य का स्वयं अनुभव करेगा।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ सत्यान्वेषी दार्शनिक थे। जीवन और जगत् के रहस्यों की खोज उनका जीवन-मिशन रहा। जिन खोजा तिन पाइया—जो खोजता रहता है, शोध-कार्य में निरंतर लीन रहता है, उसे नित नई सचाइयां उपलब्ध होती हैं।

सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चरित्र की आराधना उनका जीवन-व्रत था। इस जीवन-व्रत की साधना से चेतना निर्मल बनती रही और सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति से नित नया प्रकाश मिलता गया। चेतना के निर्मल आकाश में सच का दीप्तिमान् सूरज उदित हो गया। उसकी विचार-रश्मियों से न केवल जीवन अद्भुत आलोक से प्रभास्वर बनता है अपितु समस्या की अंधियारी राहों में दिव्य ज्योति का अवतरण भी होता है। नई दृष्टि, नया दर्शन, नई दिशा और नया पथ देने वाले ज्योतिर्मय विचार-कण महाप्रज्ञ की पारदर्शी प्रतिभा के स्वयंभू साक्ष्य हैं—



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

आध्यात्मिक व्यक्ति असदाचार और भ्रष्टाचार नहीं कर सकता। जो भ्रष्टाचार और असदाचार करता है, वह आध्यात्मिक हो ही नहीं सकता। (पृ. 23)

लोभ की समस्या पहले नंबर की समस्या है और व्यवस्था की समस्या दूसरे नंबर की समस्या है। पहले नंबर की समस्या गरीब में भी है और अमीर में भी, निर्धन में भी है और धनपति में भी। (पृ. 25)

गरीबी और भुखमरी की समस्या इतनी जटिल नहीं है जितनी जटिल है भोगोपभोग की समस्या। अगर यह समस्या हल हो जाए तो गरीबी की समस्या भी कम हो जाए। (पृ. 33)

नैतिकता का दर्शन पारस्परिक संबंधों में होता है। यदि एक ही आदमी हो तो नैतिकता की कोई आवश्यकता नहीं होती। दो हैं और उन दोनों के बीच संबंध है। वह संबंध कैसा होना चाहिए, यह नैतिकता का मूल आधार है। (पृ. 34)

जितना परिग्रह उतना बंधन, जितना बंधन उतना मोह, जितना मोह उतनी मिथ्या धारणाएं—यह एक क्रम है, जो मनुष्य में भटकने की तर्क बुद्धि पैदा करता है। (पृ. 53)

व्रत एक ही है, वह है अहिंसा। सत्य अहिंसा का नैतिक पहलू है। अपरिग्रह उसका आर्थिक पहलू है। अचौर्य और ब्रह्मचर्य उसके सामाजिक पहलू हैं। (पृ. 55)

आज धर्म को नास्तिक लोगों से जितना खतरा नहीं है, उससे ज्यादा आस्तिक लोगों से है। धर्म को न मानने वालों से इतना खतरा नहीं है, जितना खतरा धार्मिकों से है। (पृ. 63-64)

एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ करुणा, दया और मृदुता का व्यवहार करे तो इससे बड़ा नैतिक कार्य और क्या होगा? (पृ. 70)

नैतिकता का जितना संबंध मानसिकता से है, उतना भौतिकता या पदार्थ से नहीं है। पदार्थ के साथ नैतिकता का संबंध बाद में है और मानसिकता के साथ पहले है। (पृ. 93)

जितनी चंचलता उतना दुःख और जितना दुःख उतनी ही अनैतिकता। जितनी जितनी मन की एकाग्रता, उतना उतना सुख और उतनी उतनी नैतिकता। यह एक नियम बन सकता है, व्याप्ति बन सकती है। (पृ. 99)

जब तक कष्ट और दुःख को सहने की क्षमता, प्रतिकूल परिस्थिति को झेलने का साहस नहीं आता तब तक मूर्च्छा भंग नहीं होती और मूर्च्छा-भंग के बिना सफलता नहीं मिलती। (पृ. 109)

अपने अस्तित्व के प्रति पूर्ण जागरूक हुए बिना कोई भी आदमी चरित्रवान् नहीं बन सकता, नैतिक नहीं बन सकता। (पृ. 135)

आज धर्म का प्रश्न तिलक, चोटी, नमाज और उपासना में ही उलझ गया है। जहां हमारे जीवन की पवित्रता का प्रश्न है, जीवन-संघर्ष में जूझने का सवाल है, वहां हमने मूल लक्ष्य को भुला दिया। (पृ. 157)

जीवन जीने के लिए आवश्यक है—प्रवृत्ति, विकास और आसक्ति। जीवन को पवित्र बनाने के लिए आवश्यक है—निवृत्ति, चैतन्य की अनुभूति, सत्यनिष्ठा और अनासक्ति। (पृ. 158)

समाज का अर्थ है सीमा की स्वीकृति। वह हार्दिक नहीं होती, राज्यशासन-कृत होती है। अणुव्रत का अर्थ है सीमा की स्वीकृति। वह हार्दिक होती है, व्यवस्थाकृत नहीं होती। (पृ. 160)



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

उपासना छत और दीवारों का काम कर सकती है पर नींव का काम कभी नहीं कर सकती। नींव का काम कर सकती है व्रत शक्ति या संकल्प शक्ति। (पृ. 165)

जिस व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की संकल्प-शक्ति दृढ़ होती है उसे दुनिया में कोई जीत नहीं सकता। जिस व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की संकल्प-शक्ति कमजोर हो जाती है, उसे पराजित करने के लिए दूसरे व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की आवश्यकता नहीं होती, वह स्वयं नष्ट हो जाता है। (पृ. 167-168)

राज्य की सत्ता एक धर्मगुरु के हाथ में होती है तो अहिंसा के आसन पर हिंसा और सत्य के सिंहासन पर झूठ आसीन हुए बिना नहीं रहता। आध्यात्मिक संत राजनीति या राज्य के लिए पथदर्शक हो सकता है किन्तु उसे राज्य की व्यवस्था का कर्णधार नहीं होना चाहिए। (पृ. 189)

किसी संप्रदाय की धारणा से राष्ट्र को शासित करना जितना खतरनाक है उतना ही खतरनाक है धर्मविहीन राजनीति से राष्ट्र को संचालित करना। इसलिए राजनीति के धर्म पर अवश्य चिन्तन होना चाहिए। (पृ. 191)

जो राष्ट्र भौतिक संसाधनों का विकास करता है पर मानवीय संसाधनों का विकास नहीं करता वह पतन के गहरे गर्त में गिर जाता है फिर उसका उत्थान संभव नहीं बनता। (पृ. 194)

लोकतंत्र और व्रतों में गहरा संबंध है। अणुव्रतों को छोड़कर हम लोकतंत्र की सुंदर कल्पना नहीं कर सकते और लोकतंत्र के बिना अणुव्रत की कल्पना करना भी कठिन है। (पृ. 199)

जो सूक्ष्म चेतना का स्पर्श करता है, वह व्रत है। जो स्थूल चेतना का स्पर्श करता है, वह कानून है। हमने शायद कानून पर ज्यादा भरोसा कर रखा है, व्रत पर हमारी श्रद्धा कम है। अगर कानून के साथ व्रत भी चले, दोनों एक साथ चलें तो स्थिति को बदला जा सकता है। (पृ. 213)

व्यक्ति से भिन्न कोई समाज नहीं है, बिन्दु से भिन्न कोई सिन्धु नहीं है। एक-एक बिन्दु से सिन्धु का विराट् रूप बनता है। व्यक्ति-व्यक्ति से समाज बनता है। व्यक्तियों को हटा दें तो समाज शून्य होगा, कुछ नहीं बचेगा। (पृ. 224)

सहानुभूति समाज का सूत्र है और पीड़ा व्यक्ति का सूत्र। ज्ञान व्यक्ति का सूत्र है और उपयोग समाज का सूत्र। जो व्यक्ति में होता है उसका प्रतिबिंब समाज पर पड़ता है। (पृ. 224)

जहां अहिंसा, करुणा और संवेदनशीलता है, जहां पारस्परिक हितों का समझौता है, सीमाकरण है वहां समाज बना है और समाज ने विकास किया है। (पृ. 230)

राजनीति का काम केवल जनता को सुखी बनाना नहीं है, केवल जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति करना नहीं है, उससे पहला काम है मनुष्य का निर्माण करना। (पृ. 238)

जहां मैत्री, एकता, सहयोग व सेवा की भावना होगी वहां दंडनीति की अपेक्षा कम होती चली जाएगी, अपराध अपने आप कम हो जाएंगे। (पृ. 238)

कोरा पदार्थ का विकास हो और चेतना कुंठित होती चली जाए, वह विकास मानव के लिए हितकर नहीं है। वह विकास मानव को राहु बन कर ग्रस लेगा। विकास वह है, जहां पदार्थ के विकास के साथ-साथ पदार्थ का प्रयोग करने वाली चेतना का भी विकास होता रहे। (पृ. 240)

जिस समूह के साथ ये तीन शक्तियां होती हैं—सत्य की खोज करने की शक्ति, प्रयोग करने की शक्ति और प्रतिरोध करने की शक्ति—उसे कहीं रुकने की जरूरत नहीं है। उसके सामने विकास का दरवाजा सदा खुला रहता है। (पृ. 243)

जीवन का सर्वोपरि मूल्य है शांति। वह बनी रहे इसके लिए पवित्रता की अपेक्षा है। पवित्रता को संयम की अपेक्षा है। संयम को आत्म-रमण की अपेक्षा है। संयमी वह है जो दूसरों का सुख न लूटे। (पृ. 250)

‘अहिंसा अच्छी है’—इसे प्रमाणित करने की अपेक्षा वह जीवन-व्यापी हो सकती है, इसे प्रमाणित करने की अधिक आवश्यकता है। अणुव्रत आंदोलन उसी दिशा में एक चरणन्यास है। (पृ. 252)

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के मूल्यों की व्याख्या अभी तक मोक्ष के संदर्भ में ही हुई है। सुखी और स्वतंत्र सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में उनकी व्याख्या की जाए तो निश्चित ही नई दिशा उद्घाटित होगी। (पृ. 260)

प्रस्तुत ग्रंथ आचार्यश्री महाप्रज्ञ का मौलिक वैचारिक अवदान है। इसमें अणुव्रत दर्शन से संबंधित वक्तव्यों/आलेखों का समवाय है। यह समवाय एक सुनिश्चित लक्ष्य और सुव्यवस्थित योजना की फलश्रुति है, जिसकी निर्धारणा परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने स्वयं अपने मार्गदर्शन एवं दिशा-निर्देशन में की। उनके द्वारा प्राप्त दिशा-दृष्टि ही इस ग्रंथ की सृष्टि का मूल बीज है।

आदरणीय आगम-मनीषी मुनिश्री दुलहराजजी आचार्यश्री महाप्रज्ञ के साहित्य संपादन कार्य से दीर्घकाल तक जुड़े रहे। मुनिश्री ने आचार्यवर की अनेक महत्वपूर्ण कृतियों का संपादन किया। प्रस्तुत ग्रंथ में मुनिश्री द्वारा संपादित अनेक आलेखों का उपयोग हुआ है। मेरी साहित्यिक प्रतिभा के उन्नयन में भी मुनिश्री का अविस्मरणीय योग रहा है। हार्दिक कृतज्ञता सहज स्वाभाविक है।

मेरे लिए अतिरिक्त प्रसन्नता का विषय यह है कि प्रस्तुत ग्रंथ अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी के जन्म शताब्दी वर्ष के मध्य प्रकाशित हो रहा है। नैतिक एवं चारित्रिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए जिनका समग्र जीवन समर्पित रहा, उन महामानव की जन्म शताब्दी पर नैतिक-चारित्रिक मूल्यों के उन्नयन का पथ प्रशस्त करने वाले ग्रंथ का प्रकाशन एक गुणात्मक श्रद्धांजलि है, जिसकी प्रासंगिकता और उपयोगिता चिरकाल तक बनी रहेगी।

प्रस्तुत ग्रंथ का पुरोवाक् परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाश्रमणजी ने लिखा है। पूज्यवर का शुभंकर आशीर्वाद और शिवंकर अनुग्रह मिलता रहे, यही मंगल अभीप्सा है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने आचार्यश्री तुलसी जन्म शताब्दी वर्ष को व्यक्तित्व निर्माण वर्ष के रूप में मनाने की संकल्पना की। परम श्रद्धेय आचार्यश्री महाश्रमणजी ने उस संकल्पना को आगे बढ़ाया। प्रस्तुत ग्रंथ में व्यक्तित्व निर्माण की अपेक्षा और महत्ता का हृदयस्पर्शी रेखांकन है, संयम और अंतर्दृष्टि संपन्न मनुष्य के निर्माण के मंत्र-सूत्र हैं। इन्हें पढ़ें, जीएं। जीवन को स्वस्थ, सफल और सार्थक बनाने की चाबी आपके हाथ में होगी।

21 जून, 2014

कीर्तिनगर, नई दिल्ली

—मुनि धनंजयकुमार



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अनुक्रम

नैतिकता	17-120
1. उपासना, नैतिकता और अध्यात्म	19-28
2. जैन दर्शन में नैतिकता की धारणा	29-33
3. अध्यात्म और नैतिकता	34-37
4. सेवा और नैतिकता	38-41
5. राजनीति का आकाश : नैतिकता की खिड़की	42-50
6. भौतिक प्रगति और नैतिकता	51-57
7. उद्योग में नैतिकता	58-64
8. व्यापार और नैतिकता	65-71
9. वितरण और नैतिकता	72-73
10. अनैतिकता का कारण : गरीबी या आंतरिक दोष ?	74-79
11. इच्छा और नैतिकता	80-84
12. नैतिकता और अचेतन मन	85-92
13. नैतिकता और मन के खेल	93-99
14. नैतिकता और संयम	100-105
15. नैतिकता और व्यवहार	106-111
16. नैतिकता की आधारशिला : काम का परिष्कार	112-120
चरित्र	121-150
17. चरित्र का प्रश्न : वैयक्तिक या सामाजिक	123-130
18. चरित्र और नैतिकता की आवश्यकता क्यों ?	131-135

19. चरित्र निर्माण का प्रश्न	136-138
20. सदाचार का आधार : नानात्व का बोध	139-145
21. चरित्र-परिवर्तन के सूत्र	146-150
अणुव्रत	151-272
22. व्यवस्था बदलें या चेतना ?	153-155
23. विशेषणहीन धर्म	156-157
24. अणुव्रत की अनिवार्यता को नकारा नहीं जा सकता	158-160
25. शक्ति-संवर्धन का माध्यम : अणुव्रत	161-168
26. अनुभव की वेदी पर संयम का प्रतिष्ठान	169-172
27. अणुव्रत और मूल्यों की खोज	173-175
28. जीवन-निर्माण की दिशा और अणुव्रत	176-180
29. अहिंसा सार्वभौम और अणुव्रत	181-187
30. राजनीति का धर्म और अणुव्रत	188-191
31. धर्म-निरपेक्ष राज्य का धर्म और अणुव्रत	192-195
32. लोकतंत्र और अणुव्रत	196-201
33. अणुव्रत और विश्व-शांति	202-207
34. नए मनुष्य का जन्म और अणुव्रत	208-214
35. पूंजीवाद और अणुव्रत	215-217
36. अणुव्रत का आर्थिक दर्शन	218-223
37. अणुव्रत का समाज दर्शन	224-231
38. अणुव्रत का राजनीतिक दर्शन	232-239
39. अणुव्रत का शिक्षा दर्शन	240-243
40. अणुव्रत का अध्यात्म दर्शन	244-246
41. भूदान यज्ञ, व्यवहार-शुद्धि और अणुव्रत आन्दोलन	247-253
42. अणुव्रत आन्दोलन : कुछ प्रश्न, जो समाधान चाहते हैं	254-257
43. अणुव्रत आन्दोलन की मंजिल	258-260
44. अणुव्रत : प्रगति है, प्रवंचना नहीं	261-272



नैतिकता



1

उपासना, नैतिकता और अध्यात्म

प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति आस्था के सहारे जीवन चलाता है। उसकी आस्था का बिंदु है—धर्म। आज धर्म तीन आयामों में विभक्त हो गया है। वे तीन आयाम हैं—आध्यात्मिकता, नैतिकता और उपासना। आध्यात्मिकता मूल केंद्र है, उपासना भक्ति-संबद्ध केंद्र है और नैतिकता समाज-संबद्ध केंद्र है। धर्म का सर्वोपरि मूल्य है आध्यात्मिकता, प्राणीमात्र के प्रति समता। प्रत्येक आत्मा में समत्व का अनुभव करना आध्यात्मिकता है। लगभग सभी धर्मों की यह स्वीकृति है कि सब जीव एक हैं, समान हैं। या तो अन्यान्य धर्म-संप्रदाय जीवों को समान मानते हैं या एक मानते हैं। इन दो मान्यताओं में सब धर्म समा जाते हैं।

वह होता है आध्यात्मिक

अध्यात्म में न संप्रदाय होता है, न वेश होता है, न रूप होता है और न मान्यता होती है। वह वेशातीत, रूपातीत और मान्यतातीत होता है। यही वास्तव में धर्म है। प्रत्येक प्राणी में एक-जैसी चेतना का प्रवाह है, एक-जैसी प्राणधारा है। इसकी आंतरिक अनुभूति का नाम है आध्यात्मिकता। यह अनुभूति नयी दृष्टि का सृजन करती है और इसके आधार पर व्यक्ति सब में साम्य या एकत्व का अनुभव करता है।

कबीर का पुत्र कमाल घास काटने गया। घास के प्रति तन्मय हुआ और उसे यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगा कि जैसी प्राणधारा उसमें प्रवाहित हो रही है, वैसी ही प्राणधारा घास के कण-कण में प्रवाहित है। जिसको यह अनुभव हो जाता है, वह फिर घास नहीं काट सकता। कमाल घास काटे बिना घर लौट आया।

जिस व्यक्ति को इतनी गहरी अनुभूति हो जाती है, आध्यात्मिक अवबोध हो जाता है, वह सही अर्थ में धार्मिक बन जाता है। ऐसा व्यक्ति न किसी को धोखा दे सकता है, न भ्रष्टाचार कर सकता है और न ठगाई कर सकता है। वैसा आध्यात्मिक व्यक्ति ही मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा कर सकता है।

क्या व्यर्थ है उपासना ?

यह बात बहुत स्पष्ट है कि सभी धार्मिक व्यक्ति इतनी गहरी आत्मानुभूति लिए हुए नहीं होते। बहुत सारे धार्मिक व्यक्ति धर्म के दूसरे या तीसरे आयाम में जीने वाले होते हैं। धर्म के दूसरे आयाम—नैतिकता में जीने वाले भी कम होते हैं। बहुत सारे धार्मिक व्यक्ति तो धर्म के तीसरे आयाम में जीते हैं। वे उपासना-प्रधान होते हैं। वे मानते हैं ईश्वर की पूजा करो, माला जपो, इष्ट का स्मरण करो, सब कुछ ठीक हो जाएगा, सारे पाप समाप्त हो जाएंगे। भगवान् क्षमा कर देगा। इस आशा के आधार पर वे उपासना में लगे रहते हैं और उसको आगे बढ़ाते रहते हैं।

मैं यह कहना नहीं चाहता कि उपासना व्यर्थ है। उपासना बहुत आवश्यक है। किंतु उसके सही स्वरूप को समझने का प्रयत्न करें। एकांगी धारणा ने उसके स्वरूप को भी विकृत बना डाला है। आदमी मानता है—दिन भर जो बुराई होती है, उसके पाप से छूटने का सरलतम रास्ता है उपासना। दिन भर कुछ भी करो, सुबह-शाम भगवान् के समक्ष प्रार्थना कर लो, माला जप लो बस, सारे पाप समाप्त हो जाएंगे। इस दृष्टि से उपासना बुराई का उन्मूलन करने वाली नहीं रही, वह उस बुराई को समर्थन देने वाली या प्रश्रय देने वाली बन गई। यदि पेट का कोई रोगी डॉक्टर के पास जाकर कहे कि आप मुझे ऐसी दवा दें, जिससे जो कुछ खाऊँ पच जाए, हजम हो जाए। अब यदि वह दवा लेता है तो वह दवा उसकी लोलुपता को बढ़ाने वाली ही मानी जाएगी। वह लोलुपता को मिटाने वाली नहीं, उसको प्रोत्साहन देने वाली होगी। वह खाने को रोक नहीं सकता। अतः भोजन को पचाने में असमर्थ है तो दवा उसे पचाये। उपासना का भी यही रूप बन गया है।

उपासना का शुद्ध स्वरूप

उपासना का शुद्ध स्वरूप यह है कि आज यदि बुरा काम हो गया है तो वह व्यक्ति भगवान की साक्षी से कहता है—‘भगवन्! मैं संकल्प करता हूँ कि यह बुराई पुनः कल नहीं करूँगा। ‘इयाणिं नो जमहं पुव्वमकासी पमाणं—अब मैं वैसा आचरण कभी नहीं करूँगा जो मैंने प्रमादवश कर लिया था।’ यदि उपासना का यह स्वरूप हो तो उपासना का वास्तविक मूल्य हो सकता है। आज यह नहीं रहा। आदमी भगवान् के सामने भूल स्वीकार कर लेता है, किंतु फिर उसी भूल को करने में नहीं हिचकिचाता। वह भगवत्-कृपा से पाप को नष्ट कर देना चाहता है, पर पापकारी प्रवृत्ति को छोड़ना नहीं चाहता। उपासना की यह धारणा, यह स्वरूप धर्म के लिए बहुत घातक बन गया। धर्म की इस मिश्रित धारणा के आधार पर पाश्चात्य लोगों ने भारतीय धर्म पर टिप्पणी करते हुए कहा—‘भारतीय धर्म सामाजिक दायित्व नहीं सिखाता।’ ब्रिटेन के कुछ अर्थशास्त्रियों ने अध्ययन के बाद यह निष्कर्ष प्रकाशित किया कि ‘भारतीय धर्म सामाजिक चेतना को जाग्रत करने में अक्षम रहा है। उसमें नैतिकता की अवधारणाएं नहीं हैं, इसीलिए भारत में भ्रष्टाचार, अनैतिकता और अप्रामाणिकता अधिक है।’

परिणाम उपासना धर्म का

मैं नहीं कहना चाहता कि उनकी यह अवधारणा या उनका यह निष्कर्ष सही है। यह गलत तथ्यों पर आधारित है पर हमें कुछ सचाइयों को स्वीकार करना ही होगा। उन सचाइयों का आधार हमारी सैद्धांतिकता



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

नहीं है, व्यावहारिकता है। सभी धर्मों के सिद्धांतों में नैतिकता पर बल दिया गया है और सदाचार को प्रथम स्थान प्राप्त है। 'आचारः प्रथमो धर्मः'—जैसा स्वर यहां गुंजित हुआ है, फिर भी व्यवहार में धर्म की कमी सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। आदमी ने शॉर्टकट रास्ता अपना लिया है। संयम और तपस्या करना कठिन होता है। उसमें खपना पड़ता है, तपना पड़ता है, कठिनाइयां झेलनी पड़ती हैं। आदमी खपना नहीं चाहता, तपना नहीं चाहता। वह सीधा, आरामदायक रास्ता चाहता है। टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर वह नहीं चलना चाहता। वह सीधा रास्ता है उपासना धर्म। इष्ट के समक्ष हाथ जोड़कर समर्पण कर दो, सब पाप समाप्त हो जाएंगे। इससे सस्ता रास्ता धर्म का और कौन-सा होगा? इसका परिणाम यह आया है कि आदमी का नैतिकता से विश्वास उठ गया है, आध्यात्मिकता से विश्वास उठ गया है। आध्यात्मिकता और नैतिकता केवल दोहराने की बात रह गई। नैतिकता के प्रति आदमी का झुकाव नहीं रहा।

एक ओर है आध्यात्मिकता, दूसरी ओर है उपासना और बीच में है नैतिकता। अकेला व्यक्ति आध्यात्मिक हो सकता है। आध्यात्मिकता और उपासना व्यक्ति के लिए बहुत उपयोगी हैं। किंतु आध्यात्मिकता और उपासना का लाभ केवल व्यक्ति को मिलता है। उसका प्रतिफलन समाज में होना चाहिए। यदि वह नहीं होता है तो लगता है कि आध्यात्मिकता भी एक छलावा है, उपासना भी एक छलावा है।

क्षेत्र अध्यात्म और नैतिकता का

अध्यात्म अकेले में हो सकता है। नैतिकता दो के बिना नहीं हो सकती। अकेले व्यक्ति का प्रामाणिक होना या न होना कोई सिद्धांत नहीं बनता, कोई कसौटी नहीं बनती। जहां दूसरा व्यक्ति आता है वहां नैतिकता-अनैतिकता का स्वर उभरता है। नैतिकता का क्षेत्र है—समाज। आध्यात्मिकता और उपासना का क्षेत्र है—व्यक्ति। यह इनकी भेदरेखा है। धर्म का यह दूसरा आयाम (नैतिकता) समाज से संबंधित है। एक व्यक्ति चोरी करता है, विश्वासघात करता है, ठगता है—यह सब अनैतिकता है। इसे अनैतिकता कहा जाएगा। इसे न अधर्म कहना चाहिए, न अन-आध्यात्मिक कहना चाहिए और न अनुपासना कहना चाहिए।

कसौटी है व्यवहार

धर्म ने एक महत्वपूर्ण पाठ पढ़ाया कि दूसरों के साथ कैसा व्यवहार होना चाहिए। जहां तक व्यवहार का प्रश्न है, धर्म ने कुछ निश्चित मानदंड दिए, सूत्र दिए। धर्म की इस अवस्था का अवबोध देने वाला प्रसिद्ध सूक्त है—'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'—दूसरों के साथ वैसा व्यवहार मत करो जो स्वयं के लिए प्रतिकूल हो। यह कसौटी है व्यवहार की। क्या आज भ्रष्टाचार करने वाला इस कसौटी को काम में लेता है? क्या कोई धार्मिक व्यक्ति इस सूक्त को जीता है? क्या वह कभी सोचता है—जो मेरे लिए प्रतिकूल है, उसका आचरण दूसरों के प्रति क्यों करूं? जब वह बाजार से घी खरीदने जाता है तो मिलावटी घी देखकर झल्ला उठता है। राज्य कर्मचारी को रिश्वत लेते देख अप्रसन्न होता है। पर क्या वह इन्हीं बुराइयों को करते समय दुःख या कष्ट का अनुभव करता है? क्या वह मिलावट की दवाइयां बेचते समय कष्टानुभूति करता है? उसे अपनी इन बुराइयों से अर्थ का लाभ होता है और वह इन बुराइयों से प्रसन्न भी होता है कि आज इतना धन बटोर लिया। आज उसको ठगकर लाख रुपये कमा लिये। अब हम सोचें कि



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

लाभ में कौन है? कौन नहीं ठगा जा रहा है? पूरा समाज इस चक्रव्यूह में फंसा हुआ है। अब इस चक्र को अभिमन्यु बनकर कौन तोड़े! अभिमन्यु चक्रव्यूह में प्रवेश कर तो गया, पर बाहर निकलने में असमर्थ-सा हो रहा है। स्थिति यह बन गई है कि एक आदमी दूसरे आदमी को ठगकर खुश होता है और जब स्वयं ठगा जाता है तो नाखुश होता है।

कौन ठगा गया ?

एक जाट घी का बड़ा बर्तन भरकर शहर में आया। एक बनिए की दुकान पर गया, बोला—मुझे गहने चाहिए। घी के बदले में सोने के गहने दो। बनिए ने घी देखा। बड़ा बर्तन। सस्ते में आ रहा था। उसने स्वीकार कर लिया। बनिए ने घी का घड़ा लेकर, गहने दे दिए। बनिया इसलिए प्रसन्न है कि उसने घी लेकर पीतल के गहने किसान को दे दिए। किसान इसलिए प्रसन्न हो रहा है कि उसने घी के घड़े में गोबर देकर सोने के गहने ले लिये। जब बनिए ने घी का घड़ा खाली किया तो आश्चर्यचकित रह गया कि ऊपर-ऊपर तो घी था और नीचे गोबर भरा था। किसान गांव के सुनार के पास गया और गहनों की जांच करवाई। सुनार बोला—गहने पीतल के हैं। ऊपर स्वर्ण का झोल चढ़ा है।

दोनों ठगे गए। किसान ने बनिए को ठगा और बनिए ने किसान को ठगा। दोनों नुकसान में रहे।

आज अनैतिकता का चक्रव्यूह चल रहा है। हर आदमी दूसरे को ठग रहा है। हर आदमी खुश हो रहा है, सिर-दर्द पैदा कर रहा है।

उपेक्षित है मध्य बिन्दु

तीन आयाम या तीन बिंदु बहुत स्पष्ट हैं। हम अध्यात्म की बहुत चर्चा कर रहे हैं। उपासना में बहुत रस लेते हैं। इतने उपासना-स्थल हैं। प्रतिदिन और नये-नये बनते जा रहे हैं। कोई अंत नहीं है। किंतु मध्य का बिंदु, जो नैतिकता का है, वह उपेक्षित पड़ा है। आने वाली पीढ़ी न आध्यात्मिक बनेगी और न उपासनात्मक। धर्म के दोनों बिंदु हम अपने ही हाथों समाप्त कर रहे हैं। यदि हमें धर्म के मूल्यों को जीवित रखना है तो वर्तमान पीढ़ी का यह उत्तरदायित्व है कि वह नैतिकता का विकास करे और इस अपेक्षित बिंदु को उभारे। यह बिंदु उभरना चाहिए, अन्यथा अनर्थ होगा। आज आदमी स्वयं धर्म के मूल्य को समाप्त कर रहा है। कौन कितना आध्यात्मिक है, यह गूढ़ बात है। इसका दूसरे पर कोई प्रभाव नहीं होगा। कौन व्यक्ति कितनी उपासना करता है, कितना समय उपासना में बिताता है, इसका भी दूसरे पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। दूसरे पर प्रभाव इस बात का होता है कि कौन व्यक्ति कैसा व्यवहार करता है। जब तक व्यावहारिक और नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना नहीं होगी तब तक धर्म हमारा सहयोग कर सके, मुझे कठिन लगता है।

ज्वलंत प्रश्न

आज का ज्वलंत प्रश्न है नैतिकता। यह इसलिए ज्वलंत प्रश्न बन गया है कि आज असदाचार, अप्रामाणिकता आदि दुर्गुण बहुत व्यापक हो गए हैं। लोग पूछते हैं कि जब भारत में इतने धर्म हैं, इतने साधु-संन्यासी हैं, इतने धर्मगुरु हैं, फिर भी ये बुराइयां क्यों नहीं मिटतीं? इस पर मैंने गंभीरता से सोचा तो



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

मुझे प्रतीत हुआ कि धर्म का तथा असदाचार और भ्रष्टाचार का कोई बहुत बड़ा संबंध नहीं है। इसलिए नहीं है कि जो लोग धर्म को नहीं मान रहे हैं वे भी भ्रष्टाचार कर रहे हैं और जो लोग धर्म को मानते हैं वे भी भ्रष्टाचार कर रहे हैं। कोई अंतर नहीं दिखाई देता। इस प्रश्न का संबंध आध्यात्मिकता के साथ अवश्य जुड़ता है। यदि आदमी आध्यात्मिक है और भ्रष्टाचार करता है तो प्रश्न होता है कि आध्यात्मिक हो गया, फिर भ्रष्टाचार कैसे रह गया? सचमुच यह तर्क आएगा। आध्यात्मिक व्यक्ति भ्रष्टाचार नहीं कर सकता और जो भ्रष्टाचार करता है वह आध्यात्मिक हो ही नहीं सकता—यह एक निश्चित व्याप्ति है।

यह है आध्यात्मिकता

श्रीमद् राजचंद्र आध्यात्मिक व्यक्ति थे। जैन संस्कारों में पले। छोटी अवस्था, किंतु उनकी आध्यात्मिक चेतना इतनी प्रखर थी कि वे जवाहरात का व्यापार करते हुए भी उस चेतना में ओतप्रोत रहते। एक बार हीरों का सौदा किया। भाव बढ़ गए। सामने वाले व्यक्ति को भारी नुकसान हो रहा था। वह अंदर ही अंदर संतप्त हो रहा था। श्रीमद् राजचंद्र को ज्ञात हुआ। उन्होंने उस व्यापारी को बुला भेजा। वह आया। उससे सौदे का प्रतिबंधित कागज लिया और उसके टुकड़े-टुकड़े करते हुए कहा—‘श्रीमद् राजचंद्र दूध पी सकता है, किसी का खून नहीं पी सकता।’

यह है आध्यात्मिकता। आध्यात्मिक व्यक्ति कभी असदाचार नहीं कर सकता। किंतु धार्मिक कहलाने वाले की यह इयत्ता नहीं है। आज के धार्मिक कहलाने वाले व्यक्ति में कोरी उपासना की चेतना विकसित है। वह व्यक्ति बड़े से बड़ा अनर्थ भी कर सकता है। इसलिए यह प्रश्न इतना महत्वपूर्ण नहीं है कि इतने धार्मिक आदमी हैं, इतने उपासना-गृह हैं, फिर भी बुराइयां नहीं मिट रही हैं। बुराइयां मिट ही नहीं सकतीं। उपासना धर्म में वह शक्ति है ही नहीं कि वह बुराइयों को मिटा दे। आध्यात्मिक धर्म में वह बल है कि वह बुराइयों को मिटा सकता है। पर आज उपासना करने वाले धार्मिक अधिक हैं, आध्यात्मिक कम। सारे व्यक्ति आध्यात्मिक बन जाएं, यह कभी संभव नहीं है। उनका प्रतिशत कम ही रहेगा। उपासना धर्म को मानने वाले शत-प्रतिशत हो सकते हैं, पर अध्यात्म-धर्म में लीन होने वाले कम ही होंगे।

गरीबी और ईमानदारी

बहुत लोग यह मानते हैं कि गरीब आदमी या गरीब देश ज्यादा अनैतिक होता है। किंतु गहराई से सोचने पर यह बहुत स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि गरीब आदमी जितना ईमानदार होता है उतना धनी आदमी नहीं होता। जैसे-जैसे धन बढ़ता है, वैसे-वैसे बेईमानी भी बढ़ती जाती है। कोई गरीब यदि बेईमानी करता है, हेरा-फेरी करता है तो वह अल्प पैमाने पर होती है, किंतु बड़ा आदमी जब बेईमानी करता है तो उसकी लपेट में अनेक व्यक्ति आ जाते हैं। आज यदि भारत का सर्वेक्षण किया जाए तो पता चलेगा कि गरीब जितना ईमानदार है, उतना धनी ईमानदार नहीं है।

एक गरीब चाय वाले के यहां तीन युवक चाय पीने आए। चाय पी और चले गए। पैसे नहीं दिए। जाते-जाते वे ट्रांजिस्टर वहीं छोड़ गए। चाय वाला लंगड़ा था। वह उस ट्रांजिस्टर को ले उनको खोजते-खोजते स्टेशन पहुंचा। उन युवकों ने ट्रांजिस्टर ले लिया पर चाय के पैसे नहीं चुकाए।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

ऐसी घटनाएं एक नहीं अनेक, प्रतिदिन घटती रहती हैं। हमारा अनुभव है कि गरीबी के साथ असदाचार का गठबंधन नहीं है। बाध्यता का प्रश्न आपवादिक होता है।

कारण असदाचार और अनैतिकता का

फिर प्रश्न होता है कि असदाचार और अनैतिकता का कारण क्या है? इसमें दो कारण मुख्य हैं—मौलिक मनोवृत्ति और व्यवस्था। लोभ मनुष्य की मौलिक मनोवृत्ति है। भगवान महावीर ने बहुत वैज्ञानिक बात कही—‘जहां लाहो तहा लोहो’—जैसे-जैसे लाभ बढ़ता है, लोभ भी बढ़ता जाता है। यह बहुत मूल्यवान् तथ्य है। यह न मानें कि लाभ बढ़ जाने मात्र से लोभ समाप्त हो जाएगा। ईंधन अग्नि को उद्दीप्त करता ही है। ईंधन से अग्नि बुझती नहीं, प्रज्वलित होती है। आदमी एक गलत धारणा के साथ जी रहा है कि भोग भोगने से शांत होते हैं। भोगों का उपभोग शांति का मार्ग नहीं है। अभोग से भोग मिटता है। भोग से भोग कभी शांत नहीं होता। भोग भोगने से भोग की ज्वाला और अधिक उद्दीप्त होती है। जैसे लाभ बढ़ता है, लोभ भी बढ़ता जाता है। जब तक लोभ रहेगा तब तक असदाचार को समाप्त नहीं किया जा सकता।

जिज्ञासा हो सकती है कि यह नियम केवल भारत के लिए ही है या यह सार्वभौम नियम है? यह लोभ सार्वभौम नियम है। आज तक कोई भी राज्य-प्रणाली इसको नहीं मिटा पाई। साम्यवादी प्रणालियों ने मनुष्य के इस स्वभाव को बदलने का प्रयत्न किया, पर वे भी सफल नहीं हो सकीं। लोभ के कारण वहां के व्यक्ति भी बड़े-बड़े घोटाले कर देते हैं। यह उन देशों की रिपोर्ट से पता चलता है। अधिकारियों ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि व्यवस्थाएं बदली जा सकती हैं, पर आदमी का स्वभाव नहीं बदलता। स्वभाव नहीं बदलने का अर्थ है कि उसकी मौलिक मनोवृत्ति को नहीं बदला जा सकता। लोभ मनुष्य की मौलिक मनोवृत्ति है। उसको बदलना कठिन है। उसका परिष्कार किया जा सकता है।

व्यवस्थागत त्रुटियां

भ्रष्टाचार के पनपने का दूसरा कारण है—व्यवस्था। जब तक व्यवस्था में सामंजस्य नहीं होता, तब तक भ्रष्टाचार नहीं मिटता और नैतिकता को पनपने का मौका नहीं मिलता। भारत के संदर्भ में व्यवस्था का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें एक कारण है एकाधिकार। आज ऐसी स्थिति बन गई है कि हॉस्पिटल में भर्ती करना है तो रिश्वत देनी होगी। रेलवे में टिकट लेना है तो रिश्वत देनी होगी। रिश्वत का कोई दूसरा विकल्प भी नहीं है। यदि हॉस्पिटल और रेलवे की व्यवस्था व्यक्तिगत कंपनियों की हो तो संभवतः ऐसी स्थिति न बने। किंतु जहां एकाधिकार होता है, वहां ऐसी स्थिति का निर्माण अवश्यभावी है। एकाधिकार की स्थिति में या तो बीमार बिना हॉस्पिटल में भर्ती हुए मर जाए, अपनी नैतिकता रखे या अनैतिकता का सहारा ले, रिश्वत देकर भर्ती हो जाए। वह नैतिक बने रहने के लिए या तो यात्रा स्थगित करे, रेल में आना-जाना बंद करे या फिर रिश्वत देकर टिकट खरीदे। जहां एकाधिकार होगा, एक व्यक्ति ही इतना शक्तिसंपन्न हो जाएगा कि वह चाहे सो करे, उस स्थिति में अनैतिक आचरण और अनैतिक व्यवहार को रोकने की दूसरी ताकत बचेगी ही नहीं। पुलिस या अन्य अधिकारी भी उसे बचा नहीं पाएंगे। यदि बाजार पर एकाधिकार होता है तो व्यापार में धांधली होगी। व्यापारी मनमानी करेंगे, वस्तुओं का अभाव पैदा कर देंगे, भाव बढ़ा देंगे। ये सारी व्यवस्थागत त्रुटियां हैं। ये भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन देती हैं।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

व्यवस्था और मौलिक वृत्ति में परिवर्तन

मनुष्य की मौलिक वृत्ति का परिवर्तन और व्यवस्था का परिवर्तन—ये दो परिवर्तन नैतिकता को प्रस्थापित करने में समर्थ हैं। व्यवस्था के परिवर्तन की बात हमारे अधिकार-क्षेत्र की बात नहीं है। वह जनता के द्वारा चुने हुए राज्य प्रतिनिधियों के हाथ की बात है। आज शासन-तंत्र इतना मजबूत हो गया है कि वह हर व्यक्ति के जीवन में हस्तक्षेप करता है। व्यक्ति उसका पुर्जामात्र बना हुआ है। उसकी अपनी स्वतंत्रता नहीं है। तंत्र जैसा चाहता है, वैसा ही उसे करना पड़ता है। उसे वही पढ़ाना होता है, जो तंत्र चाहता है। एक ओर शासन की इतनी परतंत्रता, व्यवस्था की इतनी परतंत्रता कि चुने हुए प्रतिनिधि जो चाहें वही करना है। चुनने वालों का अधिकार ही समाप्त है। इस स्थिति में कुछ भी करना व्यक्ति के हाथ में नहीं है।

दूसरा विषय है मनुष्य की मौलिक वृत्ति का परिष्कार। इस विषय में हम चिंतन कर सकते हैं, प्रयत्न कर सकते हैं। यह हमारे अधिकार-क्षेत्र के अंतर्गत आता है। लोभ मनुष्य की मौलिक मनोवृत्ति है। उसका परिष्कार हम कैसे करें? यदि हम यह परिष्कार करने में सफल हो जाते हैं तो हमारी जटिल समस्या शांत हो जाती है। यदि यह नहीं होता है तो समस्याओं में अनावश्यक उभार आ जाता है।

पहले नंबर की समस्या

एक करोड़पति है। उसके पास धन बहुत है। उसे धन की इसलिए आवश्यकता है कि उसके लोभ ने अनेक कृत्रिम आवश्यकताएं पैदा कर दी हैं। उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे धन चाहिए। एक अरबपति से पूछा—‘तुम्हारे पास अपार धन है, फिर भी तुम रोज-रोज फैक्ट्रियां खोल रहे हो, यह क्यों?’

उसने कहा—‘महाराज! आपने अर्थशास्त्र को नहीं पढ़ा है। एक कारखाने को चलाने के लिए, उसे फीड करने के लिए दूसरा कारखाना आवश्यक होता है। दूसरे को चलाने के लिए, फीड करने के लिए तीसरा और तीसरे को चलाने के लिए चौथा। यह क्रम चलता रहता है तो आर्थिक संतुलन बना रहता है, अन्यथा वह टूट जाता है। महाराज! आप ‘Know-How’ को नहीं जानते। यह अर्थशास्त्र का रहस्य है।

मैंने कहा—‘मैं तुम्हारे अर्थशास्त्र की बारीकियों को तो नहीं जानता-समझता, पर यह अवश्य जानता हूँ कि इस व्यापार के विस्तार में तुम्हारे लोभ की वृत्ति बहुत काम कर रही है। इस मौलिक मनोवृत्ति को फीड करने के लिए क्या-क्या कर रहे हो, यह भलीभांति जानते हैं। ‘नो हाऊ’ नहीं जानते, पर ‘नो हाऊ’ को फीड करने वाली वृत्ति को जानते हैं। यह वृत्ति वह सब कुछ कराती है, जिसे नहीं करना चाहिए।’

मेरी दृष्टि में लोभ की समस्या पहले नंबर की समस्या है और व्यवस्था की समस्या दूसरे नंबर की समस्या है। पहले नंबर की समस्या गरीब में भी है और अमीर में भी है, निर्धन में भी है और धनपति में भी है।

सम्राट और चींटी : समान है मौलिक मनोवृत्ति

भगवान् महावीर से पूछा गया—‘भंते! छह खंडों का अधिपति चक्रवर्ती और एक चींटी—क्या दोनों परिग्रही हैं?’

भगवान् ने कहा—‘हां, दोनों परिग्रही हैं। सम्राट भी परिग्रही है और चींटी भी परिग्रही है।’



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

‘भगवान्! सम्राट् परिग्रही है यह बात बुद्धिगम्य है। बेचारी चींटी, जिसके पास अपना कुछ भी नहीं, वह परिग्रही कैसे? बात समझ में नहीं आती।’

भगवान् ने कहा—‘सम्राट् के पास अपार वैभव है, पदार्थों का संग्रह है, चींटी के पास कुछ भी नहीं है यह दूसरे नंबर की बात है। परिग्रह के संदर्भ में पहली बात है लोभ की वृत्ति। वह वृत्ति सम्राट् और चींटी दोनों में बराबर है। दोनों उस वृत्ति से आक्रांत हैं। अंतर इतना ही है कि सम्राट् उस वृत्ति को रूपायित कर सकता है और चींटी वैसा कर नहीं सकती। सम्राट् में शक्ति है, चींटी में उसका अभाव है।’

बहुत महत्वपूर्ण बात कही भगवान् महावीर ने। गरीब हो या अमीर, दोनों में लोभ की वृत्ति काम कर रही है। अंतर इतना ही है कि अमीर साधन-संपन्न है, अनेक सुविधाओं का वह उपभोग करता है और लोभ को मूर्त रूप देता है। गरीब के पास कोई साधन नहीं है। वह अंदर ही अंदर उस वृत्ति का पोषण करता है। मौलिक मनोवृत्ति की दृष्टि से दोनों समान हैं।

कैसे करें परिष्कार ?

प्रश्न है कि उस मूल मनोवृत्ति का परिष्कार कैसे करें? अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि ध्यान का प्रयोग परिष्कार को घटित कर सकता है। जैसे-जैसे हम भीतर में प्रवेश करते हैं, वैसे-वैसे चेतना का परिष्कार होता जाता है। चेतना पर क्रोध, अहंकार, लोभ, भय, ईर्ष्या, घृणा आदि वृत्तियों का आवरण है। ध्यान से यह आवरण शिथिल होता है, टूटता है और चेतना अपने रूप में आ जाती है। यही परिष्कार की प्रक्रिया है और यही उसकी फलश्रुति है। यह प्रक्रिया दीर्घकालीन और निरंतर की जाने वाली प्रक्रिया है। इससे ही परिष्कार घटित हो सकता है। दूसरा कोई विकल्प नहीं है। या तो हम यह कहना-मानना छोड़ दें कि भ्रष्टाचार बुरा है और यह कहने लगे कि भ्रष्टाचार स्वाभाविक है, या फिर हम इस प्रक्रिया में जुड़ें और तन-मन से इस प्रक्रिया में जुट जाएं। अन्यथा कुछ होना-जाना नहीं है। जैसे-जैसे लोग भ्रष्टाचार को बुरा बताते हैं, वह अपना पंजा वैसे-वैसे फैलाता जाता है। वह द्रौपदी का चीर बन रहा है। कहीं इसका अंत ही नजर नहीं आ रहा है। इस स्थिति में हमें यह निश्चित चुनाव करना होगा कि हम वास्तव में क्या चाहते हैं? क्या हम भ्रष्टाचार को वैसे ही पनपने देना चाहते हैं या उसकी गति को अवरुद्ध कर धीरे-धीरे उससे छुटकारा पाना चाहते हैं? यदि हम उससे छुटकारा पाना चाहते हैं तो हमें उपाय करना होगा और वह उपाय ध्यान और अध्यात्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा।

असाध्य नहीं है बीमारी

भ्रष्टाचार से लड़ने से भ्रष्टाचार नहीं मिटेगा। वह मिटेगा परिष्कार से। भूत से लड़ो, वह भूत शतगुणित शक्ति से पुनः प्रहार करेगा। भूत के समक्ष शांत रहो, भूत की शक्ति क्षीण हो जाएगी। यक्ष ने सुदर्शन पर मुद्गर से प्रहार करना चाहा। सुदर्शन अहिंसा की भावनाओं में ओतप्रोत हो शांत खड़ा रहा। क्षणभर में यक्ष वीर्यशून्य हो गया। उसके हाथ से मुद्गर गिर पड़ा। उसका आवेश समाप्त हो गया।

हम वृत्तियों के परिष्कार में आस्था जमाएं और उस आस्था का धीरे-धीरे क्रियान्वयन करें। हम सुखी होंगे और आने वाली पीढ़ी भी इन सारी समस्याओं से मुक्त होकर सुख की सांस ले सकेगी। हम नैतिकता



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

और अनैतिकता का चिंतन सतही स्तर पर न करें, गहरे में उतर कर करें। मैं यह मानता हूँ कि अनैतिकता, भ्रष्टाचार और असदाचार की समस्या ऐसी नहीं है, जिसका समाधान न हो सके। यह कोई असंभव बात नहीं है। बहुत संभव है। यह बीमारी असाध्य नहीं है, साध्य है, कष्ट-साध्य हो सकती है।

संतोष, लोभ : कर्मण्यता और अकर्मण्यता

कुछ लोगों का यह तर्क आता है कि लोभ को मिटाने का अर्थ है, जो है उसमें संतोष कर लेना। इस संतोष का परिणाम होगा—गरीबी और कठिनाइयाँ।

गरीबी और कठिनाइयाँ संतोष के परिणाम नहीं हैं। हम गलत चिंतन के कारण एक-दूसरे के परिणामों में संश्लेष कर देते हैं, जोड़ देते हैं एक-दूसरे के साथ। संतोष के ये परिणाम हो नहीं सकते। संतोष का अर्थ यह नहीं है कि हम कठिनाइयों को भुगतें। संतोष आन्तरिक वृत्ति है और लोभ बाह्य वृत्ति है। लोभ सर्वथा त्याज्य है, ऐसा मैं नहीं कहता। गृहस्थ जीवन के लिए वह एक मात्रा तक आवश्यक होता है। एक कवि ने कहा है—‘असंतुष्टो द्विजो नष्टः संतुष्टश्चापि पार्थिवः’—ब्राह्मण यदि असंतोष को पालता है तो वह नष्ट हो जाता है और राजा यदि संतोषी होता है तो वह भी नष्ट हो जाता है। यह सारा कथन सापेक्ष है।

आदमी को जीवन-निर्वाह के लिए अनेक वस्तुएं चाहिए और यदि वह संतोष को धारण कर यह कहे कि मैं न खेती करूंगा, न व्यापार करूंगा, न कुछ अर्जन करूंगा, तो यह संतोष नहीं अकर्मण्यता मानी जाएगी। हम यहां अकर्मण्यता की चर्चा नहीं कर रहे हैं। लोभ एक संवेग है। मनोविज्ञान की भाषा में वह एक इमोशन है। एक सीमा तक यह सामाजिक जीवन का उपयोगी तत्व माना जाता है। सभी संवेग अलग-अलग सामाजिक परिस्थितियों में अच्छे-बुरे बनते हैं। क्रोध एक संवेग है। वह बुरा है। पर बच्चे को सुधारने की भावना से लोग बुरा नहीं मानते। इस परिस्थिति में क्रोध को भी अच्छा मान लिया गया।

यही बात लोभ के विषय में है। हम कहते हैं कि लोभ बुरा है, इसका तात्पर्य भी सापेक्ष है। आवश्यकता से अतिरिक्त अर्जन की जो मनोवृत्ति है, उसमें लोभ बुरा बन जाता है। संतोष अच्छा है पर उसकी भी अपनी सीमा है। अकर्मण्यता और संतोष एक नहीं है। संपन्नता और विपन्नता—ये लोभ और संतोष के परिणाम नहीं हैं। इसे हम कर्मण्यता और अकर्मण्यता का परिणाम मानें तो अच्छा है। इसे हम अवसर-प्राप्ति और अवसर-अप्राप्ति मानें तो अच्छा है।

आज सत्ता का लोभ सीमा पार कर गया है। प्रत्येक व्यक्ति एक दौड़ में भाग लेना चाहता है। वह मानता है कि सत्ता है तो सब कुछ है। सत्ता नहीं है तो कुछ भी नहीं है।

एक व्यंग्य है। परिवार नियोजन के अधिकारी एक राजनेता के यहां गए। उसके पांच संतानें थीं। अधिकारियों ने परिवार नियोजन के लिए कहा। उसने कहा—‘मैं समझता हूँ और इसे अच्छा मानता हूँ। पर एक ज्योतिषी ने कल ही कहा है—‘आपकी नौवीं संतान मंत्री बनेगी। मैं इसी आशा को लिये बैठा हूँ।’

यह सत्ता का लोभ अवचेतन मन में इतना गहरा उतर गया है कि व्यक्ति सात पीढ़ी की बात सोच लेता है। सत्ता का लोभ केवल व्यर्थता का सूचक है। उसकी बहुत सार्थकता नहीं है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

आस्था और रोटी

नीतियां दो प्रकार की होती हैं—अल्पकालीन नीति और दीर्घकालीन नीति। हम दीर्घकालीन नीति के आधार पर सोचें कि यदि हमारा प्रयत्न परिष्कार की दिशा में चलता है तो उसका तात्कालिक बड़ा परिणाम न भी आए, पर वह दीर्घकाल में वटवृक्ष बन जाएगा, आने वाली पीढ़ी उससे बहुत लाभान्वित होगी। यह प्रक्रिया इतनी द्रुतगामी नहीं है, पर है लाभप्रद। हम दीर्घकाल में मिलने वाले लाभों को नजरअंदाज न करें। वर्तमान में सुधार करते चलें, आगे अच्छी पृष्ठभूमि का स्वतः निर्माण हो जाएगा। इससे आस्था को बल मिलेगा। आस्था जब टूट जाती है तब मन को टिकाने के लिए कोई आलंबन ही प्राप्त नहीं होता। आस्था बढ़ती है तो आदमी ऊपर उठता जाता है। मूल प्रश्न है आस्था के निर्माण का। परिष्कार में हमारी आस्था बने।

प्रसिद्ध इतिहासकार टायनबी ने लिखा—मनुष्य के समक्ष दो विकल्प हैं आस्थाहीन रोटी या रोटीहीन आस्था। आस्थाहीन रोटी से मनुष्य का समाधान नहीं होगा। रोटीहीन आस्था से भी समाधान प्राप्त नहीं होता। हमें विकल्प यह खोजना है कि रोटी भी मिले और आस्था भी। यह तीसरा विकल्प बहुत महत्वपूर्ण है।

उपसंहार की भाषा में मैं कहना चाहूंगा कि उपासनात्मक धर्म से भ्रष्टाचार का कोई संबंध नहीं है। उपासनात्मक धर्म से भ्रष्टाचार को रोका नहीं जा सकता। भ्रष्टाचार को रोकने का एकमात्र उपाय है आध्यात्मिक धर्म का आचरण। आध्यात्मिक व्यक्ति कभी भ्रष्टाचार नहीं कर सकता। उपासनात्मक धर्म का आचरण करने वाला व्यक्ति भ्रष्टाचार से सर्वथा बच जाता हो, ऐसा नहीं लगता। हम आध्यात्मिकता को पनपाने का प्रयत्न करें, पुष्ट बनाने का उपक्रम करें, भ्रष्टाचार स्वतः मिट जाएगा।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

2

जैन दर्शन में नैतिकता की धारणा

नैतिकता : पाश्चात्य संदर्भ

नैतिकता शब्द बहुत चर्चित रहा है। यूनानी दार्शनिकों ने नैतिकता की विस्तृत चर्चा की, किन्तु जैन धर्म में नैतिकता जैसा शब्द उपलब्ध नहीं होता। उसमें केवल धर्म शब्द उपलब्ध होता है। धर्म के अतिरिक्त नैतिकता की कोई चर्चा नहीं है। प्रश्न होता है—क्या जैनधर्म में नैतिकता के बारे में कुछ कहा नहीं गया, कुछ सोचा नहीं गया या वह किसी रूप में उपलब्ध है?

धर्म के दो अंग माने गए हैं—ज्ञान और आचार, श्रुत धर्म और चारित्र धर्म। सुकरात ने नैतिकता की चर्चा की है। उन्होंने धर्म का लक्ष्य माना है—परम शुभ को प्राप्त करना। उनकी भाषा में परम शुभ है ज्ञान। यानी ज्ञान से अतिरिक्त कोई नैतिकता नहीं है। जैनधर्म में पहला धर्म श्रुत माना गया है। आचार दूसरे नम्बर पर है। तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो ज्ञान प्रथम और परम शुभ है। दोनों विचार बहुत निकट आ जाते हैं। महावीर ने कहा—‘जो नहीं जानता, वह क्या करेगा? वह व्यक्ति श्रेय का क्या आचरण करेगा, जो श्रेय और अश्रेय को नहीं जानता।’ यह वास्तव में सही बात है। जो श्रेय और पाप को जानता ही नहीं है वह अज्ञानी क्या करेगा? पश्चिमी दर्शन में शुभ और अशुभ की बहुत चर्चा है। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है—जो अज्ञानी है वह क्या जानेगा कि यह श्रेय है और यह पाप है। श्रेय शुभ है और पाप अशुभ। श्रेय और अश्रेय—इन दोनों का सम्बन्ध ज्ञान के साथ है। इस दृष्टि से नैतिकता का एक आधार बनता है ज्ञान।

ज्ञान से जुड़ा है आचार

पहले आचार का ज्ञान होना जरूरी है। ज्ञान के बाद ही आचार का अनुशीलन किया जा सकता है। सुकरात ने केवल ज्ञान को ही परम शुभ माना, नैतिकता माना। जैन दृष्टि से यह एकांगी दृष्टिकोण सम्मत नहीं है। ज्ञान के साथ-साथ आचार भी नैतिकता का अंग है। ज्ञान और आचार—ये दोनों ही धर्म के अंग हैं। अकेला

ज्ञान पर्याप्त नहीं है। ज्ञान जानने का परम बिन्दु है। किन्तु ज्ञान परम बिन्दु तक नहीं जाता। उसकी अभिव्यक्ति या क्रियान्विति आचार में बदल जाती है। नैतिकता के दो निश्चित तत्त्व बन जाते हैं—ज्ञान और आचार।

नैतिकता है अणुव्रत और महाव्रत

आचार का अनुशीलन करने पर एक नया तथ्य प्रस्तुत हुआ। आचार दो भागों में विभक्त होता है—आत्माभिमुखी और समाजाभिमुखी। अपने प्रति और दूसरे के प्रति। जो अपने प्रति है, वह आत्माभिमुखी है।

पांच महाव्रत और पांच अणुव्रत—ये दोनों समाजाभिमुखी आचार हैं। 'किसी जीव को नहीं मारूंगा' इसका सम्बन्ध दूसरे से है। 'किसी विषय को लेकर झूठ नहीं बोलूंगा' इसका संबंध है समाज से। 'चोरी नहीं करूंगा', 'अब्रह्मचर्य नहीं करूंगा', 'अमुक मात्रा से अधिक परिग्रह नहीं रखूंगा' इनका सम्बन्ध भी समाज से है। पांचों महाव्रत समाजाभिमुखी हैं, पांच अणुव्रत समाजाभिमुखी हैं। ये व्रत और महाव्रत ही नैतिकता हैं।

धर्म की व्याख्या : समाजाभिमुखी

आश्चर्य होता है—धर्म की व्याख्या, साधु या श्रावक की व्याख्या समाजाभिमुखी व्रतों से जुड़ी हुई है। उसमें आत्माभिमुखी वाली बात कुछ गौण हो जाती है। इससे यह पता चलता है—साधुपन की सीमा, श्रावकपन की सीमा समाज से ज्यादा जुड़ी है और उसकी पृष्ठभूमि में आत्माभिमुखी तत्त्व हैं। इसलिए पांच महाव्रत के साथ साधुत्व का संबंध जुड़ गया और तीन गुप्तियां पृष्ठभूमि में रह गईं। गुप्तित्रय की साधना—अपने मन का संयम करना, अपनी वाणी का नियंत्रण करना और अपने शरीर का नियंत्रण करना—यह नितांत आत्माभिमुखी बात है। साधु जीवन के तेरह व्रत होते हैं—पांच महाव्रत, पांच समितियां और तीन गुप्तियां। इसमें पांच महाव्रत समाजाभिमुखी हैं, पांच समितियां भी प्रायः समाजाभिमुखी, पदार्थाभिमुखी हैं किन्तु तीन गुप्तियां नितांत आत्माभिमुखी हैं।

नैतिकता का आधार

हमारे आचार के दो पहलू बन गए—एक आत्माभिमुखी पहलू और दूसरा समाजाभिमुखी पहलू। आत्माभिमुखी पहलू है अध्यात्म, संयम और ध्यान। समाजाभिमुखी पहलू है नैतिकता। इस संदर्भ में नैतिकता की यह एक सुन्दर परिभाषा फलित हो जाती है। नैतिकता शब्द नहीं है पर इस परिभाषा के आधार पर हम आचार के साथ नैतिकता का प्रयोग कर सकते हैं। प्रश्न होता है—नैतिकता का आधार क्या है? उसका आधार है आनन्द, पवित्रता और शक्ति का अर्जन। जिस कार्य से मनुष्य को आनन्द नहीं मिलता उस कार्य के प्रति आकर्षण पैदा नहीं होता, यह प्राणी की नैसर्गिक प्रकृति है। वह सुख और आनन्द चाहता है। नैतिकता का मुख्य बिन्दु है—आनन्द।

नैतिकता का मानदण्ड : संयम

नैतिकता का आधार, नैतिकता की परिभाषा और नैतिकता का मानदण्ड—ये महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। नैतिकता के मानदण्ड बदलते रहते हैं। एक समय में एक कार्य को नैतिक माना जाता है और किसी समय उसी कार्य को अनैतिक मान लिया जाता है। किसी देश में एक कार्य को नैतिक माना जाता है, दूसरे देश



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

में उसे अनैतिक मान लिया जाता है। देश और काल के साथ-साथ नैतिकता के मानदंड बदलते रहे हैं। जैनदर्शन के आधार पर नैतिकता का मानदण्ड है संयम। जहां-जहां संयम है, वहां-वहां नैतिकता है। जहां संयम नहीं है वहां नैतिकता नहीं हो सकती। संयम आत्माभिमुखी भी है और समाजाभिमुखी भी। अपनी इन्द्रियों पर संयम करना आत्माभिमुखी कार्य भी है, वह नैतिक कार्य भी हो सकता है। अणुव्रत आन्दोलन नैतिक आन्दोलन है, इसीलिए उसका मूल सूत्र है 'संयमः खलु जीवनम्'—संयम ही जीवन है। इसका अर्थ है—नैतिक कार्य वही है जहां संयम है। जिस कार्य के साथ संयम नहीं है, उस कार्य को कभी नैतिक नहीं कहा जा सकता।

नैतिकता का पहला सूत्र

नैतिकता के अनुभव के पश्चात् जीवन की शैली बदलती है। जैनधर्म को मानने वाला, ज्ञान और आचार—उभयात्मक धर्म को स्वीकार करने वाला, आचार को आत्माभिमुख और समाजाभिमुख मानने वाला व्यक्ति वैसा जीवन नहीं जी सकता जैसा एक मिथ्या दृष्टिकोण वाला व्यक्ति जीता है। उसकी जीवन-शैली बदल जाती है। उसकी जीवन-शैली का पहला सूत्र होगा—इच्छा परिमाण। इच्छा एक जटिल समस्या है। इच्छा बढ़ाएं या कम करें? उलझन में रहा है यह प्रश्न। सामाजिक एवं अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण वाला व्यक्ति कहेगा—इच्छा बढ़ाओ। इच्छा बढ़ेगी तो उत्पादन बढ़ेगा, विकास को गति मिलेगी। किन्तु धार्मिक दृष्टिकोण से इच्छा को बढ़ाना अच्छा नहीं है क्योंकि इच्छा अनन्त होती है। उसका कहीं अन्त नहीं होता। नैतिकता का पहला सूत्र बना—इच्छा परिमाण, इच्छा का संयम करना। आहार, धन आदि जितनी भी इच्छाएं हैं, उनका परिमाण करो, संयम करो, उसे अपरिमित मत बनाओ।

प्रामाणिकता

नैतिकता का दूसरा सूत्र बनता है—प्रामाणिकता। यह नैतिकता का मूल स्वरूप है। ईमानदार होना समाज की पवित्रता के लिए प्राथमिक अपेक्षा है। जब तक इच्छा-परिमाण नहीं होगा तब तक प्रामाणिकता फलित नहीं होगी। इच्छा-संयम के बिना प्रामाणिकता का विकास संभव नहीं है। आज यही समस्या है—एक ओर इच्छा के विस्तार की बात कही जाती है, दूसरी ओर ईमानदार रहने की बात कही जाती है। जब तक इच्छा असीम है, तब तक नैतिक और प्रामाणिक बनना संभव नहीं है।

इच्छा-परिमाण

जैन श्रावक के जीवन का पहला दृष्टिकोण प्रामाणिकता नहीं हो सकता। इसका पहला दृष्टिकोण होगा—इच्छा-परिमाण। इच्छा के आधार पर तीन प्रकार के वर्गीकरण बनते हैं—महेच्छा, अल्पेच्छा और अनिच्छा। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनमें महान् इच्छा होती है। कुछ लोग ऐसे हैं, जिनकी इच्छा सीमित है और कुछ लोग ऐसे हैं, जिनमें इच्छा है ही नहीं। पहला वर्ग उन लोगों का है, जिनमें इच्छा का कोई संयम नहीं है। दूसरा वर्ग जैन श्रावक का है, जिनमें इच्छा का परिमाण होता है। तीसरा वर्ग मुनि का है, जिसमें इच्छा का बिल्कुल संयम होता है। जहां महेच्छा है, वहां महान् परिग्रह होगा। जहां अल्पेच्छा है वहां अल्प परिग्रह होगा और जहां अनिच्छा है वहां अपरिग्रह है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

इच्छा और परिग्रह दोनों का संयम नैतिकता के साथ जुड़ा हुआ है। हम चाहते हैं प्रामाणिकता आए, अर्थार्जन के साधन शुद्ध बनें।

साधन-शुद्धि

नैतिकता का तीसरा आधार है साधन-शुद्धि। यदि इच्छा-परिमाण है, प्रामाणिकता की चेतना विकसित है तो अर्थार्जन के साधनों की शुद्धता का प्रश्न प्रस्तुत होगा। जब तक प्रामाणिकता नहीं है, येन-केन-प्रकारेण धन जुटाने के साधनों का ही विकास होगा।

मानवीय संबंधों में सुधार

नैतिकता का चौथा आधार है मानवीय संबंधों में सुधार। उद्योग के क्षेत्र में देखें, व्यापार, प्रशासन और परिवार के क्षेत्र में देखें, प्रत्येक क्षेत्र में मानवीय संबंधों की समस्या बहुत जटिल है। एक मिल-मालिक मजदूर से अधिक से अधिक काम लेना चाहता है पर कम-से-कम वेतन देना चाहता है। मजदूर अधिकाधिक वेतन लेना चाहता है और कम-से-कम काम करना चाहता है। उद्योग जगत् में यह बहुत बड़ी समस्या है। इसी समस्या के कारण हड़ताल, घेराबंदी, तालाबंदी आदि-आदि होते रहते हैं। मानवीय संबंधों में सुधार का कारण है करुणा का विकास। जैन श्रावक वही बन सकता है, जिसमें क्रूरता कम हो।

मानवीय संबंधों के बिगड़ने का क्रूरता से गठबंधन है। मानवीय संबंधों में सुधार वहीं संभव है जहां क्रूरता को प्रश्रय नहीं है। जिसमें क्रूरता नहीं है वह अप्रामाणिक नहीं बन पाएगा, येन-केन-प्रकारेण धन का अर्जन नहीं कर पाएगा, वह दूसरे का भी ध्यान रखेगा। वह सोचेगा—मेरे द्वारा ऐसा तो कोई कार्य नहीं हो रहा है, जिससे दूसरे का गला कटे या किसी का शोषण हो। यह विचार वही करेगा जिसमें करुणा का विकास है। जिसमें करुणा नहीं है, वह कभी ऐसा नहीं सोच पाता। उसका चिन्तन होता है पशु मरे तो मरे, आदमी मरे तो मरे, किसी का घर उजड़े पर मेरा घर बनना चाहिए, मेरे पास धन आना चाहिए। क्रूरता जीवन की शैली को बिल्कुल बदल डालती है।

करुणा का दूसरा रूप

करुणा का दूसरा रूप है मैत्री। यदि व्यक्ति में मैत्री की भावना का, सबके प्रति मंगलभावना का विकास हो जाए तो करुणा का विकास हो सकता है, क्रूरता में कमी आ सकती है। प्रसिद्ध श्लोक है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

कोई भी व्यक्ति दुःखी न बने, सब सुखी और निरामय बनें। सबका कल्याण हो।

इस पद्य का उच्चारण तो बहुत होता है पर क्रियान्विति नहीं होती। जहां सर्वे भवन्तु सुखिनः का सूत्र है वहां सूत्र होगा—अहं भवामि सुखिनः। मैं निरामय बनूं, मुझे कल्याण प्राप्त हो। कोई सुखी बने या न बने। व्यक्ति का चिन्तन 'मैं और मेरा'—इन दो सूत्रों से जुड़ा हुआ रहता है। यह स्वार्थ की चेतना क्रूरता का प्रतिफल है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

भोगोपभोग का संयम

नैतिकता का एक आधार है भोगोपभोग का संयम। धन का अर्जन करने वाले व्यक्ति के सामने प्रश्न होगा—इसका उपयोग कैसे हो? धन के उपयोग के दो तरीके हैं। पहला है—अपनी संपत्ति का व्यक्तिगत भोग में अधिक से अधिक व्यय करना। दूसरा है—सम्पत्ति का व्यक्तिगत भोग में कम से कम प्रयोग करना, सामाजिक उपयोग में सम्पत्ति का अधिक व्यय करना। जैन श्रावक को निर्देश दिया गया—चाहे उसके पास प्रचुर सम्पत्ति है पर उसका अपना व्यक्तिगत जीवन बहुत संयमित हो। आनन्द श्रावक इसका एक उदाहरण है। वह बहुत धनाढ्य था पर साथ ही बहुत संयमी था। सीधा-सादा रहन-सहन, साधारण खान-पान और सीमित कपड़े—यह उसका जीवन था। आज की स्थिति इसके विपरीत है। वर्तमान मनुष्य अपनी साज-सज्जा पर, अपने खान-पान पर, अपने कार्यों पर, अपने परिजनों की ब्याह-शादी में चाहे जितना खर्च कर देता है पर समाज के लिए नहीं।

नैतिकता : दो सूत्र

जैन श्रावक के लिए एक व्रत का निर्देश दिया गया—भोगोपभोग-परिमाण व्रत। नैतिकता की पहली शर्त है—इच्छा-परिमाण और उसकी अन्तिम शर्त है भोगोपभोग की सीमा। जब इच्छा परिमित होती है और भोगोपभोग सीमित होता है, तब प्रामाणिकता, अर्थार्जन के साधनों में शुद्धि आदि अपने आप फलित होने लगते हैं। इनका परस्पर सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। जहां भोग की लालसा है, वहां क्रूरता अवश्य है। क्रूर बने बिना अधिक पदार्थों को जुटाया नहीं जा सकता। क्रूरता बढ़ेगी तो अर्थार्जन के साधन शुद्ध नहीं रहेंगे। अर्थार्जन के साधन अशुद्ध होंगे तो अप्रामाणिकता बढ़ेगी। यह सारा जो चक्र है, वह इच्छा-परिमाण और भोगोपभोग की सीमा—इन दोनों के बीच में है। अगर ये दो होते हैं तो नैतिकता फलित होने लगती है। ये दो नहीं होते हैं तो अर्थार्जन और मानवीय सम्बन्धों में गड़बड़ियां होने लगती हैं।

भोगोपभोग की समस्या ने आर्थिक समस्या को जटिल बनाया है। गरीबी और भुखमरी की समस्या इतनी जटिल नहीं है जितनी जटिल है भोगोपभोग की समस्या। अगर यह समस्या हल हो जाए तो गरीबी की समस्या भी कम हो जाए। साम्यवादी देशों में भोग-सामग्री पर बहुत नियंत्रण था। क्योंकि वह रोटी की समस्या सुलझाने में बाधक बन रही थी। किन्तु मनुष्य की प्रकृति है कि वह सुख-सुविधा, भोग की सामग्री की लालसा की बात को मन से निकाल नहीं पाता। साम्यवादी देशों में आज भोगोपभोग की समस्या बड़ी उग्र बनी हुई है और प्रश्न प्रस्तुत हो रहा है—यह भोगोपभोग की लालसा साम्यवाद को कहां ले जाएगी?

जहां इच्छा का परिमाण नहीं होता और भोगोपभोग का संयम नहीं होता वहां नैतिकता के संस्कार-बीजों को अंकुरित होने का अवसर ही नहीं मिलता। जहां इच्छा-परिमाण और भोगोपभोग-संयम की चेतना जाग्रत होती है, वहां नैतिकता के संस्कार-बीजों के प्रस्फुटन, अंकुरण और पल्लवन की संभावना की जा सकती है। जैन श्रावक के लिए निर्दिष्ट व्रत इस संदर्भ में दिशा-सूचक यंत्र बन जाते हैं।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत



अध्यात्म और नैतिकता

संबंध-विज्ञान और नैतिकता

नैतिकता का दर्शन पारस्परिक संबंधों में होता है। यदि एक ही आदमी हो तो नैतिकता की कोई आवश्यकता नहीं होती। दो हैं और उन दोनों के बीच में संबंध है और वह संबंध कैसा होना चाहिए, यह नैतिकता का मूल आधार है। यह संबंध-विज्ञान नैतिकता का विज्ञान है।

दो व्यक्तियों के बीच परस्पर संबंध अच्छा होता है, उसके अनेक आधार हो सकते हैं। एक आधार होता है पारस्परिक हितों का। हित की चेतना जागती है तो व्यक्ति अनुभव करता है कि दूसरे का अहित करने में मेरा अपना भी हित नहीं है। यहीं नैतिकता का बीज अंकुरित होता है। जितने संगठन बने हैं, उन संगठनों में व्यक्तियों का हित समाहित होता है। एक संस्था, एक परिवार, एक समाज, एक राष्ट्र—जितने ये यूनिट्स हैं, जितनी इकाइयां हैं, उनमें भी हित का संबंध जुड़ा हुआ है। हर व्यक्ति सोचता है कि दूसरे का हित करना है, अपने समाज और राष्ट्र का हित करना है। समाज या राष्ट्र का नुकसान मेरा भी नुकसान है। जहां हित के संबंध जुड़ जाते हैं, वहां नैतिकता पल्लवित होती है।

राष्ट्रीय प्रेम, समाज का प्रेम, जाति का प्रेम—ये सारे नैतिकता को प्रोत्साहन देते हैं और इनके आधार पर नैतिकता विकसित भी होती है। इसे मैं अस्वीकार नहीं करता। इतना होने पर भी एक बात कहना चाहता हूं और वह मूल बात यह है—हितों के आधार पर जो नैतिकता होती है, वह तब तक नैतिकता रहती है, जब तक हितों का संबंध है। जिनके साथ हित का संबंध नहीं है, वहां अनैतिक व्यवहार करने में भी संकोच नहीं होता।

नैतिकता का सार्वभौम आधार

एक राष्ट्र के नागरिक का अपने राष्ट्र के प्रति नैतिक व्यवहार करने में हित होता है। राष्ट्र के प्रति

प्रेम होता है। वह अपने राष्ट्र के प्रति अनैतिक व्यवहार नहीं करता। किन्तु दूसरे राष्ट्र से उसका हित संबंध जुड़ा हुआ नहीं है, इसलिए दूसरे राष्ट्र के प्रति अनैतिक व्यवहार करने में उसे तनिक भी संकोच नहीं होता।

नैतिकता का सार्वभौम आधार केवल आध्यात्मिकता ही बन सकती है। अध्यात्म हितों का संबंध नहीं है, स्वार्थों का संबंध नहीं है। वह मानवीय चेतना की उदात्तता, पवित्रता, परमार्थ चेतना का जागरण है। जहां परमार्थ की चेतना जाग जाती है, वहां किसी भी व्यक्ति को, किसी भी प्राणी को नुकसान पहुंचाना अपनी आत्मा को नुकसान पहुंचाना है। इतनी विराट् चेतना होती है, जिसमें 'पर' जैसे शब्द के लिए कोई अवकाश ही नहीं होता।

उदात्त चेतना, अध्यात्म चेतना ही नैतिकता का आधार बनती है। जहां कोई परिवार का भेद नहीं होता, समाज का भेद नहीं होता। न भौगोलिकता का, न चिन्तन की धारा का, न मान्यताओं का, न जीवन की प्रणालियों का किन्तु एक अभेदानुभूति जाग जाती है। इस आधार पर जो व्यवहार फलित होता है वह अनैतिक कभी हो ही नहीं सकता और नैतिकता का व्यवहार वास्तव में अध्यात्म के धरातल पर ही हो सकता है। इसमें यह नहीं होता कि अमुक का हित और अमुक का अहित। अमुक के प्रति अच्छा व्यवहार और अमुक के प्रति बुरा व्यवहार। यह भेद समाप्त हो जाता है। अध्यात्म-चेतना नहीं जागती है तो सबके प्रति बुरा व्यवहार हो जाता है। अध्यात्म-चेतना जाग जाती है तो किसी के प्रति भी बुरा व्यवहार नहीं होता।

बहुत से लोग राष्ट्रीय चेतना को नैतिकता का आधार मानते हैं। मुझे कोई आपत्ति नहीं, मानें, हो भी सकता है, किन्तु वह सार्वभौम आधार नहीं है। वह स्थायी आधार नहीं है, देश-कालातीत आधार नहीं है। यह अपेक्षाओं से जुड़ा हुआ और संकीर्ण सीमाओं से जुड़ा हुआ आधार है। आज है, कल नहीं भी हो सकता। किन्तु आध्यात्मिकता की भित्ति एक ऐसा आधार नैतिकता को प्रदान करती है कि एक बार उस चेतना के जाग जाने पर फिर अनैतिक आचार और व्यवहार सदा के लिए समाप्त हो जाते हैं।

अणुव्रत आंदोलन का आधार

धर्म-सम्प्रदायों ने अध्यात्म की चेतना को जगाने का उतना प्रयत्न नहीं किया, जितना करना चाहिए था। अध्यात्म की चेतना जागे बिना धर्म भी शून्य है, सम्प्रदाय की चेतना भी निष्प्राण है। उन दोनों में प्राण-प्रतिष्ठा करने वाला अध्यात्म है। कोरा बल्ब है, करंट नहीं है तो बल्ब से क्या होगा? प्रकाश जो है, वह सारा अध्यात्म का है, हमारी एक विराट् चेतना का है।

हम प्रयत्न करते हैं कि नैतिक जागरण हो, नैतिकता का विकास हो। आचार्य तुलसी ने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया, नैतिकता की आचार-संहिता प्रस्तुत की। प्रारम्भ में बहुत चर्चाएं होती रहीं आधार की। एक-दो वर्ष में यह चिन्तन बहुत स्पष्ट हो गया कि अणुव्रत आंदोलन का आधार है—आध्यात्मिकता। इसकी भित्ति पर ही नैतिकता को संभव बनाया जा सकता है। दूसरी सारी भित्तियां कमजोर भित्तियां हैं। किन्तु यह इतनी सुस्थिर, सुदृढ़ और मजबूत भित्ति है, जो किसी प्रकम्पन या भूचाल से भी इधर-उधर नहीं होती। हिमालय की भांति अडोल भित्ति है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अणुव्रत के साथ जुड़ा है प्रेक्षाध्यान का अभ्यास

दैनिक हिन्दुस्तान के भूतपूर्व संपादक श्री रतनलाल जोशी ने दिल्ली में गुरुदेव को बताया कि मैं अमेरिका गया था। एक जगह अणुव्रत आन्दोलन की चर्चा हुई। अमेरिकन लोगों ने पूछा—आचार-संहिता तो अच्छी है किन्तु उसकी साधना क्या है? वे योग को जानना चाहते थे, साधना को जानना चाहते थे। जोशीजी ने कहा कि मुझे इस बारे में पूरी जानकारी नहीं थी, इसलिए पूरा समाधान नहीं कर सका। उनका प्रश्न अधूरा रह गया। आचार्यश्री! क्या अणुव्रत के साथ साधना का पक्ष भी जुड़ा हुआ है?

हमने बताया—अणुव्रत का साधना-पक्ष है प्रेक्षाध्यान का अभ्यास। उन्होंने कहा—मुझे पता नहीं था। अगर पता होता तो मैं बहुत संतुष्ट कर सकता था।

नैतिकता का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। उसका विकास होते-होते, चिन्तन होते-होते एक सुस्थिर धारणा बन गई कि अणुव्रत का कार्यक्रम आध्यात्मिकता के आधार पर पल्लवित हो सकता है, सुस्थिर बन सकता है और उसका आधार है प्रेक्षाध्यान।

नैतिक शिक्षा का विकास कैसे?

न्यायाधीश ने एक पक्ष के व्यक्ति से पूछा—‘तुम दुर्घटनाग्रस्त हुए, पर क्या तुम दुर्घटना होने के बाद चल सकते हो या नहीं?’

व्यक्ति बोला—‘मैं चल भी सकता हूँ और नहीं भी चल सकता। डॉक्टर कहता है कि तुम चल सकते हो, किन्तु मेरा वकील कहता है कि तुम चल नहीं सकते।’

यह एक निर्णयात्मक उत्तर नहीं है। यही बात नैतिक शिक्षा के बारे में भी लागू होती है। स्कूलों और कॉलेजों में मनुष्य की शास्त्रीय-चेतना जाग्रत होती है। एक से शास्त्र-चेतना जाग्रत होती है और दूसरे से व्यवहार-चेतना जाग्रत होती है। शास्त्र और व्यवहार के सहारे नैतिकता आ जाए, ऐसा संभव कम लगता है। जो देश अत्यधिक विकसित हैं, वहां पर भी जब करोड़ों डालर की चोरी उच्चस्तरीय पदाधिकारी कर लेते हैं तो हम कैसे कह सकते हैं कि सामाजिक व्यवहार से नैतिकता का विकास हो जाएगा?

इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरा आयाम है—धर्म। धर्म के द्वारा नैतिक-चेतना का विकास हो सकता है। किन्तु कठिनाई यह है कि धर्म के क्षेत्र में साम्प्रदायिकता अपना स्थान बना लेती है। साम्प्रदायिकता को लोग धर्म मान लेते हैं। वे धर्म से कोसों दूर हट जाते हैं। आज लोग समझने लगे हैं कि धर्म और पढ़े-लिखे लोगों का तो कोई संबंध ही नहीं है। धर्म तो रूढ़िवादी लोगों के लिए है। यह धारणा आजकल के पढ़े-लिखे लोगों में बन गई है। धर्म की बात करने में भी ऐसे लोग संकोच करने लगे हैं। यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि धर्म और साम्प्रदायिकता का कोई संबंध नहीं है।

जुड़नी चाहिए अध्यात्म की बात

विद्यालयों में पाठ्यपुस्तकों की संख्या भी बहुत अधिक है। विद्यार्थी जब पुस्तकें लेकर चलता है तब कभी-कभी यह संदेह होने लगता है कि बच्चे का वजन ज्यादा है या उसकी पाठ्यपुस्तकों का? नैतिकता पढ़ाई नहीं जा सकती, पाठ पढ़ाया जा सकता है। किन्तु अध्यात्म की बात पाठ्यपुस्तकों के साथ अवश्य



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

जुड़नी चाहिए। उसके माध्यम से बच्चे का विकास होगा, एक दिशा तो मिलेगी ही। शिविरों का संचालन भी इसके लिए आवश्यक है। शिविर के माध्यम से भी नैतिक शिक्षा का विकास बच्चों में हो सकता है। अध्यात्म-चेतना जाग्रत् होने पर नैतिकता अपने आप फलित होगी।

सम्राट् श्रेणिक ने आदेश दिया—इस मुर्गे को लड़ाकू बनाना है, किन्तु दूसरा मुर्गा सामने नहीं होना चाहिए। एक बुद्धिमान विद्यार्थी ने कहा—ठीक है, चिन्ता की कोई बात नहीं। मुर्गा मुझे संभला दीजिए। मुर्गा उसके पास लाया गया। उसने तत्काल मुर्गे के पास एक कांच लगा दिया। अब दूसरे मुर्गे की जरूरत नहीं थी। मुर्गा अपने-आप लड़ाकू बन गया।

यदि नैतिक शिक्षा को विकसित करना है तो आपको कांच की आवश्यकता होगी। विद्यार्थी के सामने कांच उपस्थित करना होगा। एकाग्रता का अभ्यास, संकल्प-शक्ति का अभ्यास—इनके माध्यम से नैतिक शिक्षा का विकास किया जा सकता है। मनुष्य में अनन्त शक्ति मौजूद है किन्तु अपनी शक्ति से कौन परिचित होता है? आवश्यकता इस बात की है कि लोगों को उनकी शक्ति से परिचित कराया जाए। इसके लिए अध्यात्म-चेतना को जाग्रत् करना होगा।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

4

सेवा और नैतिकता

एक गोष्ठी का आयोजन था। अनेक व्यक्ति एकत्र हुए। वहां यह प्रश्न उभरा कि दुनिया में सबसे अधिक मीठा क्या है? जितने व्यक्ति थे, सबने अपने-अपने विचार प्रस्तुत किए।

एक ने कहा—‘दही मधुर होता है।’

दूसरे ने कहा—‘दही से भी मधुर मधु होता है।’

तीसरे ने कहा—‘दाख मीठी होती है।’

चौथे ने कहा—‘सबसे मीठी होती है चीनी।’

अनेक विचार आए, किन्तु किसी भी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचा जा सका। अन्त में एक व्यक्ति ने कहा—‘पदार्थ की मधुरता के विषय में मतैक्य नहीं हो सकता। वस्तुतः जिसका मन जहां संलग्न हो जाता है, उसके लिए वही मधुर है, वही सबसे ज्यादा मीठा है।’

दधि मधुरं मधु मधुरं, द्राक्षा मधुरा च शर्करा मधुरा।

तस्य तदेव हि मधुरं, यस्य मनो यत्र संलग्नम्॥

—जो कहना था, वह सब कुछ उस समझदार व्यक्ति ने एक वाक्य में कह दिया कि जिसका मन जहां संलग्न है, उसके लिए वही मधुर है।

सर्वमान्य सिद्धांत

विश्व का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जिसका मन जहां संलग्न है उसके लिए वही मधुर है, अच्छा है। जिसका मन सेवा में संलग्न हो गया, उसके लिए सेवा से बढ़कर और कुछ भी नहीं है। जिसका मन और कहीं लग गया, उसके लिए वही सब कुछ है। मन का नियोजन, मन का व्यवस्थापन, मानसिक-शरीर का निर्माण जिस रूप में कर दिया, उसके लिए वह तन्मय और तदाकार बन जाता है।

सेवा के अनेक पहलू हैं। स्याद्वाद की दृष्टि से कहा जा सकता है कि प्रत्येक पदार्थ के अनन्त पर्याय हैं। एक अक्षर, एक मात्रिका का वर्ण 'अ'—इसके भी अनन्त पर्याय हैं। एक परमाणु के भी अनन्त पर्याय हैं। विश्व की बड़ी-से-बड़ी या छोटी-से-छोटी इकाई (यूनिट) के भी अनन्त पर्याय हैं। सेवा और नैतिकता के भी अनन्त पहलू हैं, अनन्त पर्याय हैं। कुछेक पर्यायों की चर्चा ही सीमित समय में सम्भव हो सकती है। सारे आवरणों को हटाकर उन्हें अनावृत करना समय-सापेक्ष होता है।

अज्ञात का संसार बहुत बड़ा है। वह इतना बड़ा है कि उसका कभी भी अन्त नहीं आ सकता। किन्तु मनुष्य का यह सतत प्रयत्न रहा है कि वह अज्ञात को ज्ञात करे, जो नहीं जाना गया है, उसे जाने। जब अज्ञात ज्ञात होता है, तब अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। वैसा आनन्द किसी भी पदार्थ से नहीं होता।

सहज और स्वाभाविक कर्म

सेवा एक कर्म है। मैं इसे अस्वाभाविक या बहुत ऊंचा नहीं मानता, क्योंकि जिसे ऊंचा सिद्धान्त कहा जाए, वह काल्पनिक होता है। उसके लिए यथार्थ से हटकर कल्पना करनी पड़ती है। किन्तु जो नैसर्गिक है, स्वाभाविक है, उसके लिए बहुत बड़ी कल्पना की आवश्यकता नहीं होती। सेवा सहज और स्वाभाविक कर्म है। आचार्य उमास्वाति ने प्रत्येक पदार्थ के उपकार की चर्चा की है। चेतन और अचेतन सभी पदार्थों के उपकार की चर्चा की है, सम्प्रेक्षा प्रस्तुत की है। उन्होंने लिखा है—**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**—जीवों का परस्पर उपग्रह—सहयोग होता है। सेवा जहाँ होती है वहाँ दो होते हैं—एक सेवा देने वाला और एक सेवा लेने वाला। द्वैध बना रहता है। वास्तव में वह सेवा सेवा नहीं होती, जहाँ द्वैध होता है। वहाँ और ही कुछ घटित होता है। जहाँ द्वैध रहेगा, वहाँ एक कर्ता और एक कर्म रहेगा, वहाँ सेवा की यथार्थता घटित नहीं होती। जब तक कर्म रहेगा, 'प्रति' की भावना बनी रहेगी, तब तक सेवा नहीं होगी।

वहाँ उपयुक्त है सेवा शब्द का प्रयोग

पूछा गया—दाता और याचक को कैसे पहचाना जाए? कवि ने कहा—'दातृयाचकयोर्भेदः कराभ्यामेव सूचितः'—दाता और याचक की पहचान हाथ के विन्यास से ही समझ ली जाती है। दाता का हाथ ऊंचा और याचक का हाथ नीचा रहेगा। हाथ बताते हैं कि यह दाता है और यह याचक।

देने वाला और लेने वाला—जहाँ यह द्वैध-भाव होता है वहाँ सेवा की मूल भावना खण्डित हो जाती है। एक सहयोग लेने वाला और एक सहयोग देने वाला, जहाँ यह भावना होती है, वहाँ सेवा की प्रतिष्ठा कम हो जाती है। उसका रूप धुंधला हो जाता है। सेवा है परस्परता, जहाँ एक कर्ता और एक कर्म नहीं बनता, किन्तु दोनों समान धरातल पर खड़े होते हैं। वह उसका उपकार और वह उसका उपकारी, सहयोग देने वाला भी उपकृत होता है और सहयोग लेने वाला भी उपकृत होता है। देने वाले में अहं नहीं होता और लेने वाले में हीनता की अनुभूति नहीं होती, वह है सेवा। वह है सेवा की प्रतिष्ठा। जहाँ अहं की अनुभूति और हीनता की अनुभूति—दोनों का विलय हो जाता है वहाँ सेवा शब्द का प्रयोग उपयुक्त कहा जा सकता है।

जागतिक भ्रांति

इस विषय में बहुत बड़ी भ्रांति पलती है। जितनी भी 'समाज-सेवी' संस्थाएँ हैं, वे जो कार्य कर रही हैं, उनके प्रति मेरे मन में कोई विरक्ति का भाव नहीं है, उनके प्रति विरोध की भावना भी नहीं है,



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

किन्तु मैं यह बताना चाहता हूँ कि कहां एक जागतिक भ्रांति हो रही है, सामूहिक चेतना कहां अटक रही है।

सेवा के लिए दो साधन अपेक्षित होते हैं—एक श्रम और दूसरा धन। श्रम तो व्यक्ति अपना दे सकता है, किन्तु धन कुछ लोगों से ही प्राप्त होता है। जिन लोगों ने धन का विशिष्ट अर्जन किया है, उनसे धन आता है। इसमें एक बात जान लेनी चाहिए कि जो धन सेवा के लिए आता है, वह आता है परस्परता को खण्डित कर।

सेवा का पहला सूत्र है—दूसरों के अधिकारों का अहनन। किन्तु जो लोग विशेष धन अर्जन करते हैं, वे अर्जन करते समय इन दोनों बातों का ध्यान नहीं रखते। मिल-मालिक करोड़ों रुपये कमाता है। फिर सेवा के लिए लाखों का दान भी करता है। किन्तु यह स्पष्ट है कि यदि वह मिल-मालिक मजदूरों को उनका देय देता तो वह करोड़ों की आय नहीं कर सकता, लाखों का दान दे नहीं पाता। जिन मजदूरों ने अपना सारा श्रम उसमें नियोजित किया, पूंजी का उत्पादन किया, जिनके आधार पर मालिक को करोड़ों का अनुदान मिला, उनके प्रति अन्याय कर उसने करोड़ों की आय कर ली। मिल-मालिक ने अपने बुद्धि-बल से उन लोगों के हिस्सों को समेटकर बड़ा हिस्सा स्वयं ले लिया। अब वह उसमें से कुछेक हिस्सा सेवा और लोक-कल्याण कार्य में लगाता है। यह यथार्थ है। जब तक इस भ्रांति को नहीं मिटाया जाएगा तब तक सेवा की छोटी-छोटी प्रवृत्तियां चलती रहेंगी, पर मूलभूत समस्या हल नहीं होगी, दुःखों का अंत नहीं होगा। आज समाज-सेवी संस्थाओं के लिए यह आवश्यक है कि वे केवल पत्तों और फूलों पर ही ध्यान न दें, जड़ को भी देखें। पत्ते आते हैं और चले जाते हैं। बसन्त आता है और पतझड़ भी आता है। बसन्त और पतझड़ सदा आता रहेगा, पर समस्या का समाधान नहीं होगा। समस्या के समाधान के लिए हमें प्रयत्न करना होगा।

सेवा का मूल

दो प्रकार की वृत्तियां होती हैं—सैहीवृत्ति और श्वानवृत्ति। एक है सिंह की वृत्ति और एक है कुत्ते की वृत्ति। बहुत पुराना रूपक है। कुत्ते की ओर ढेला फेंको वह मार खाकर भी ढेले को चाटने लग जाएगा। वह यह नहीं देखेगा कि ढेला कहां से आया है, किसने फेंका है। सिंह के प्रति गोली दागो, वह मार की परवाह नहीं करेगा। किन्तु यह देखेगा कि गोली कहां से आई है? किसने दागी है? वह उसी ओर लपकेगा। वह आक्रामक बनकर झपटेगा। कुत्ता वर्तमान को देखता है, आगे-पीछे नहीं देखता। सिंह आगे-पीछे देखता है, वर्तमान पर अधिक ध्यान नहीं देता।

इसी प्रकार हमारी भी दो वृत्तियां हैं। एक वह वृत्ति है, जो परिणाम में उलझ जाती है और एक वह वृत्ति है, जो प्रवृत्ति के मूल को पकड़ती है। समझदार व्यक्ति सिंह की वृत्ति को मानकर चलता है, मूल को खोजता है। साधारण व्यक्ति श्वान की वृत्ति को अपनाकर चलता है, मूल को नहीं खोजता। सेवा का मूल है—हम सब सेवा में दिए जाने वाले सहयोग को दूसरी बात मानें और पहली बात यह मानें कि किसी के मानवीय अधिकारों का हनन न हो। इससे सेवा का महान् सूत्र हाथ लग जाता है और तब सेवा की सही प्रतिष्ठा हो जाती है।

नैतिकता के दो रूप

वर्तमान का उपचार कोई स्थायी समाधान नहीं है। एक घाव को भरने का प्रयत्न करें और साथ-साथ हजारों घाव उत्पन्न करते चले जाएं—यह सेवा का विकृत रूप है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

नैतिकता के दो रूप हैं—

1. मानवीय-सम्बन्धों की व्यवस्था ठीक करने वाला।
2. चरित्र का विकास करने वाला।

ये दोनों बातें नैतिकता के साथ जुड़ी हुई हैं। सेवा करने वाला नैतिक होगा ही, होना ही चाहिए। अपने तथा दूसरों के विकास का प्रयत्न न हो और केवल बाढ़ के समय, अकाल के समय या ऐसे ही किसी उत्पीड़न के समय सहयोग दें, उपकार करें—यह एक बात है। इसका मैं खंडन नहीं करता। इसे मैं बुरा भी नहीं मानता। किन्तु सहयोग के साथ कितनी बातें जुड़ी होती हैं, उनकी उपेक्षा न करें। सहयोग के साथ एक महत्त्वपूर्ण बात जुड़ी होती है कि सहयोग करने वाला स्वयं का चरित्र ऊंचा रखे और सहयोग लेने वाले के चरित्र को ऊंचा उठाने का सद्-प्रयत्न करे।

सेवा और मन की निर्मलता

तीसरी बात यह है कि सेवा करने का अधिकार उस व्यक्ति को होता है जिसका मन निर्मल हो। जिसका मन कलुषित है वह सेवा कर नहीं सकता। यदि वह सेवा के क्षेत्र में पदार्पण करेगा तो मिथ्या धारणाओं का पोषण करेगा और अहं को विकसित करेगा। वह पूजा, प्रतिष्ठा आदि को उसके साथ जोड़ देगा। जिस सेवाभावी में मन की निर्मलता होगी, वह जो भी करेगा वह सेवा होगी।

हमें द्विजन्मा होना चाहिए। हमारा एक जन्म होता है माता के गर्भ से, तब बाहरी दुनिया सामने आती है। दूसरा जन्म होना चाहिए भीतर में, तब भीतरी दुनिया सामने आती है। हमें द्विज होना चाहिए। मुनि द्विजन्मा होता है, ब्राह्मण भी द्विजन्मा होता है। प्रत्येक व्यक्ति को द्विजन्मा होना चाहिए—एक जन्म माता के गर्भ से और एक जन्म अपने आपमें, अपने भीतर में। जो अपने आपमें जन्म लेता है उसके सामने दूसरी दुनिया उपस्थित होती है। जब आंतरिक दुनिया उपस्थित होती है, जब मन निर्मल होता है, तब निर्मल मन के द्वारा कुछ भी होता है वह सचमुच सेवा ही होती है, और कुछ भी नहीं होता। निर्मल मन के द्वारा असेवा कभी नहीं होती।

चमत्कार है अपने आपको पा लेना

सेवा और नैतिकता के सम्बन्ध में कुछ मैंने कहा है, वह मेरी स्वतंत्र धारणा है। सेवा को चमत्कार माना जाता है। इस चमत्कार को हम स्वाभाविक मानें, अस्वाभाविक न मानें। कुछ साधक परस्पर बातें कर रहे थे। एक ने कहा, 'मैं आकाश में उड़ सकता हूँ।' दूसरे ने कहा, 'मैं पानी पर चल सकता हूँ।' तीसरे साधक ने कहा, 'इन दोनों क्रियाओं में कोई चमत्कार नहीं है। पक्षी भी आकाश में उड़ते हैं और मछली भी पानी में तैरती है। आकाश में उड़ना और पानी पर चलना चमत्कार नहीं है। बड़ा चमत्कार है—अपने आपको पा लेना, चेतना के आकाश में उड़ना और आत्म-चैतन्य के अथाह समुद्र को तैरना।'

सेवा दुनिया का सबसे बड़ा चमत्कार है यदि उसके साथ तीन सूत्र जुड़े हुए हों—

दूसरों के अधिकारों का अहनन।

मन की निर्मलता।

परस्परता।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

5

राजनीति का आकाश : नैतिकता की खिड़की

हमारे जीवन के तीन महत्वपूर्ण पक्ष हैं—सत्ता, संपदा और नैतिकता। ये तीनों बड़ी शक्तियां हैं। सत्ता के पास दंड की शक्ति है। संपदा के पास विनिमय की शक्ति है। नैतिकता में आत्मविश्वास और आस्था की शक्ति है। ये तीनों शक्तियां हमारे जीवन को संचालित करती हैं। इनका संतुलन रहता है तो जीवन की यात्रा सुगम हो जाती है और इनका संतुलन बिगड़ता है तो जीवन का रथ भी चरमरा जाता है, टूट जाता है।

मुझे कहा गया कि मैं नैतिकता की खिड़की से राजनीति के आकाश को देखूं। पर मुझे लगता है कि राजनीति की दिशा में नैतिकता की कोई खिड़की है ही नहीं। यदि कोई है और वह खुलती है तो दूरी इतनी है कि वहां से राजनीति को देखना भी कठिन प्रतीत होता है।

राजनीति और नैतिकता

अरस्तू ने कहा—जीवन को व्यवस्थित ढंग से चलाने के लिए राजनीति जरूरी है। भारत के दार्शनिकों ने राजनीति पर कम चिन्तन किया है, किंतु पश्चिमी दार्शनिकों ने विश्व-व्यवस्था के साथ-साथ राजनीति पर भी बहुत चिन्तन किया। सुकरात, अरस्तू और प्लेटो से यह परम्परा चली आ रही है और आज तक इसका विकास होता रहा है।

जीवन को संचालित करने के लिए राजनीति बहुत आवश्यक है। जीवन की सुन्दरता, जीवन को व्यवस्थित करने के लिए राजनीति का होना अनिवार्य है। मैं यह नहीं कहता कि राजनीति अपने आपमें अनैतिक है, किन्तु यह सच है कि राजनीति की सीमा में नैतिकता और अनैतिकता की कोई चर्चा ही नहीं है। यह तो हम एक संदर्भ के साथ जोड़ देते हैं। मनुष्य तीन पक्षों में जीता है, उसका एक पक्ष है नैतिकता। जब हम नैतिकता की दृष्टि से देखते हैं और मूल्यांकन करते हैं तो प्रश्न होता है कि राजनीति में नैतिकता है या नहीं? दूसरे शब्दों में कहें तो अर्थ-व्यवस्था या अर्थनीति में नैतिकता है या नहीं?

राजनीति के आधारभूत तत्त्व

हम मूल प्रकृति को समझें। राजनीति की मूल प्रकृति में नैतिकता और अनैतिकता के लिए कोई अवकाश नहीं है और न इसका कोई उद्देश्य है। समूची राजनीति जीवन के बाहरी पक्ष को शासित करती है। सारी घटनाएं, सारी व्यवस्था और सारे कार्य-कलाप राजनीति से शासित होते हैं। राजनीति मनुष्य के अंतःकरण को शासित नहीं करती। नैतिकता का मूल आधार है-मनुष्य का अंतःकरण। राजनीति के आधारभूत तत्त्व दो हैं-राज्य और सरकार। राज्य नैतिक या अनैतिक नहीं होता। मूलतः वह अमूर्त संस्थान है। सरकार उस राज्य को संचालित करती है, वह मूर्त संस्थान है, संगठन है। जो राजनीतिक दल सत्ता पर आता है, वह अपनी सरकार का गठन करता है और वह राज्य सरकार का संचालन करता है। जहां सरकार का संबंध जुड़ता है वहां नैतिकता या अनैतिकता का प्रश्न जुड़ता है। सरकार में आने वाले व्यक्ति मूर्त होते हैं। उनके जीवन के तीनों पक्ष संतुलित होते हैं तब मनुष्य का जीवन सुखद और सहज बन जाता है। उनके असंतुलित होने पर सब कुछ गड़बड़ा जाता है। इस संदर्भ में नैतिकता की चर्चा की जा सकती है। केवल राजनीति के संदर्भ में उसकी चर्चा नहीं की जा सकती।

राजनीति की मूल प्रकृति

चाणक्य ने चन्द्रगुप्त से कहा-‘अब नन्द को मार डालना चाहिए।’ यह सुनकर चन्द्रगुप्त विस्मित-सा रह गया-‘यह कैसे? मैं अपने मित्र को कैसे मारूं? जिस मित्र ने मेरा इतना साथ दिया, सुख-दुःख में साथ रहा, उसको मारने के लिए अमात्य क्यों कह रहा है? यह कैसे संभव हो सकता है?’

चाणक्य ने कहा-‘आप इस सचाई को नहीं जानते। आप राजनीतिक यथार्थता को नहीं समझते। राजनीति का सूत्र है-‘यो न हन्ति स हन्यते।’ तुल्य बल वाले व्यक्ति को मार डालना चाहिए। यदि नहीं मारता है तो वह स्वयं मारा जाता है। जो शक्ति उभर आती है, उसे कुचल डालना चाहिए।’

यह राजनीति की मूल प्रकृति है। यह राजनीति की सीमा का अतिक्रमण नहीं है। जब एक व्यक्ति राजनीति की भूमिका पर खड़ा होकर सोचता है तो उसे यही तत्त्व हाथ लगता है कि तुल्य बल वाले विरोधी व्यक्ति को मौत के घाट उतार देना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता है तो वह स्वयं नष्ट हो जाता है।

पंचतंत्र में कहा गया-‘शत्रु चाहे छोटा ही क्यों न हो उसे मार डालना चाहिए। जो उसकी उपेक्षा करता है, वह स्वयं की कब्र स्वयं खोदता है। बीमारी को प्रारंभ में ही नष्ट कर देना चाहिए। उसे नष्ट नहीं किया जाता है तो वह उग्र रूप धारण कर जीवन को समाप्त कर देती है। आग की चिनगारी छोटी होती है। जब उसकी उपेक्षा कर दी जाती है तब वह विकराल आग का रूप धारण कर समूचे नगर को भस्मसात् कर देती है। चिनगारी आग का शोला बन जाती है।’

राजनीति का प्रकृतिगत सिद्धांत यह है कि अपने तुल्य बल वाले को और शत्रु को मार डालना चाहिए।

राजनीति विशारद पावलॉव ने राजनीति के कुछ सूत्र प्रस्तुत किए थे। उनका एक महत्वपूर्ण सूत्र है-‘राजनीति में जहां-जहां कठिन समस्याएं आती हैं, जिनका समाधान सहज-सरल नहीं होता, वहां हिंसा



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

या बलप्रयोग का सहारा लिया जाता है।' हिंसा या बलप्रयोग की बात धार्मिक दृष्टि से अमान्य हो सकती है, किन्तु राजनीति में वह सम्मत तत्त्व है।

प्रलोभन, आश्वासन और दिवा-स्वप्न

राजनीति में बड़ी-बड़ी घोषणाएं होती हैं। जो दल सत्ता के अभिमुख होता है, वह बड़ी-बड़ी घोषणाएं करता है। उन दलों के घोषणा-पत्रों से लगता है—अब स्वर्ग धरती पर उतर आएगा और सारी समस्याएं समाहित हो जाएंगी। ऐसी घोषणाएं राजनीति के क्षेत्र में जरूरी होती हैं। यदि इतनी बड़ी घोषणाएं न हों, इतने बड़े प्रलोभन और आश्वासन न हों तो काम चल ही नहीं सकता। वहां अतिकल्पना को भी स्थान है। राजनीति कल्पना प्रधान होती है। वहां निर्विकल्प की बात नहीं आती। निर्विकल्पता की बात ध्यान की स्थिति में कही जा सकती है, किन्तु राजनीति में यदि कहा जाए कि निर्विकल्प रहे तो राजनीति की हत्या हो जाती है। सफल राजनीति वही होती है जहां दिवा-स्वप्न दिखाए जाएं। सफल राजनीतिज्ञ वही होता है, जो बड़ी-बड़ी कल्पनाएं प्रस्तुत करे।

सब मनुष्य समान हैं, समानता का अधिकार सबको है, सारी विषमताएं समाप्त होनी चाहिए और समानता का एकछत्र साम्राज्य होना चाहिए—यदि समानता के ये दिवा-स्वप्न नहीं दिखाए जाते तो राजनीति में कोई सफल नहीं हो सकता। दिवा-स्वप्न चाहे साकार हों या नहीं, इसकी चिंता राजनीति में नहीं होती। यह चिंता नहीं होती कि इतने प्रलोभन और आश्वासन दिए हैं, वे यदि सफल नहीं होंगे तो सत्य का अतिक्रमण हो जाएगा। सत्य के अतिक्रमण की चिंता राजनीति की सीमा में नहीं आती। यह चिंता धर्म की सीमा में आती है।

राजनीति और नैतिकता की मूल प्रकृति ही भिन्न है। वे दो हैं, एक नहीं। एक धार्मिक या नैतिक पुरुष यदि कोई बात कह देता है तो उसे यह चिन्ता रहती है कि यदि मैं इस बात को नहीं निभा पाया तो कितना बड़ा अनर्थ हो जाएगा!

कौन होता है सफल राजनीतिज्ञ ?

राम और रावण का युद्ध हो रहा है। लक्ष्मण को शक्ति का प्रहार लगा और वे अचेत होकर गिर पड़े। उस स्थिति में मर्यादा पुरुषोत्तम राम कहते हैं—लक्ष्मण अचेत अवस्था में पड़ा है, इसकी मुझे चिन्ता नहीं है। सीता लंका में है, इसकी भी मुझे कोई चिन्ता नहीं है। मुझे केवल एक ही बात की चिन्ता है कि मैंने विभीषण को कहा था, 'आओ लंकेश!' मैंने उसे 'लंकेश' कह दिया और यदि मैं उसे लंका का राज्य नहीं दे पाया तो मेरे कहे हुए वचन का क्या होगा ? यदि मैं लंका पर अपना अधिकार जमाता हूं तो यह नीति के विरुद्ध है। फिर मेरे वचन निभाने की बात कहां सफल होगी ?

मर्यादा पुरुषोत्तम राम जैसे व्यक्ति के, धार्मिक और नैतिक निष्ठा वाले व्यक्ति के लिए वचन निभाने की बात चिन्ता का कारण बन सकती है, किन्तु राजनीतिज्ञ के लिए यह बात चिन्ता की है ही नहीं। सफल राजनीतिज्ञ वही होता है, जो प्रातःकाल में एक बात कहता है, मध्याह्न में दूसरी बात कहता है और रात में तीसरी बात कहता है। वह तीनों बातों की सत्यता समझा देता है कि प्रातः जो मैंने कहा था वह भी सही था,



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

मध्याह्न में जो कहा था वह भी सही था और रात में जो कहा था वह भी सही था। आज अब जो मैं कह रहा हूँ वह भी सच है, क्योंकि परिस्थितियां बदलती रहती हैं। जैसे परिस्थितियां बदलती हैं, वैसे ही उसके आयाम भी बदल जाते हैं, उसके आकार-प्रकार भी बदल जाते हैं। इसलिए वर्तमान में जो कुछ मैं कह रहा हूँ, उसे सत्य मानें, और सबको भुला दें।

जो पहली बात को झुठला सके, वह सफल राजनीतिज्ञ हो सकता है। जो कही हुई पहली बात का समर्थन करता रहता है, वह राजनीतिज्ञ नहीं हो सकता, धार्मिक या नैतिक व्यक्ति हो सकता है।

कठिन है मूल्यांकन

कौरवों और पांडवों के बीच घमासान युद्ध हो रहा था। युद्ध में कहा गया—‘अश्वत्थामा हतः—अश्वत्थामा मारा गया’ यह वाक्य तो ठीक था, किंतु जब इसके साथ ‘नरो वा कुञ्जरो वा’ इतना जुड़ा, तब वह राजनीति का वाक्य बन गया। ‘अश्वत्थामा मारा गया, पर पता नहीं वह मनुष्य था या हाथी।’ द्रोण के पुत्र का नाम भी अश्वत्थामा था और एक हाथी का भी नाम अश्वत्थामा था। जब यह कहा गया—‘अश्वत्थामा हतः, नरो वा कुञ्जरो वा’—तब नैतिकता की बात राजनीति में बदल गई। राजनीति का यह स्वर हो सकता है—‘अश्वत्थामा हतः, नरो वा कुञ्जरो वा’, किंतु नैतिकता की यह प्रकृति नहीं हो सकती। वहां ‘नर’ है तो नर कहा जाएगा और ‘कुञ्जर’ है तो कुञ्जर कहा जाएगा।

ऐसी स्थिति में जहां हिंसा और बल-प्रयोग सम्मत है, जहां असत्य और छल-कपट सम्मत है, जहां कूटनीति सम्मत है, जहां विपक्ष को धोखा देना सम्मत है, जहां प्रलोभन और आश्वासन सम्मत है, उस विराट् राजनीति के आकाश को मैं नैतिकता की खिड़की से देखूँ, तो कैसे देखूँ? एक तटस्थ द्रष्टा की भांति तो उसे देख सकता हूँ, किन्तु उसका मूल्यांकन करना मेरे लिए कठिन हो जाता है। देखना एक बात है और मूल्यांकन करना दूसरी बात है।

कारण है उदासीनता

एक प्रश्न आता है कि जब राजनीति में इतनी दुर्बलताएं हैं तो वह कैसे चलती है? क्यों चलती है? इसका एक कारण यह हो सकता है कि समाज का बहुत बड़ा भाग राजनीति से उदासीन रहता है। जब राजतंत्र का युग था तब एक धारणा थी—‘कोउ नृप होउ हमें का हानी’—राजा कोई बने, हमें क्या? राजा ईश्वरीय सत्ता है। वह ईश्वर है। वह कोई भी हो, हमें क्या करना है? एक संस्कृत कवि ने बहुत सुन्दर कहा है—



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

रे रे रासभ! वस्त्रभारवहनात् कुग्रासमश्र्नासि किं,
राजाशवावसथं प्रयाहि चणकाभ्यूषान् सुखं भक्षय।
सर्वान् पुच्छवतो हयानिति वदन्त्यत्राधिकारे स्थिताः,
राजा तैरुपदिष्टमेव मनुते सत्यं तटस्थाः परे॥

एक धोबी का गधा चला जा रहा था। पीठ पर कपड़ों का गट्टर था। एक आदमी ने पूछा—‘अरे! गधे! इतना भार क्यों ढोते हो? तुम्हें खाना भी अच्छा नहीं मिलता, थोड़ी-बहुत सूखी घास मिल जाती है। ऐसी

बेवकूफी क्यों करते हो? मेरा कहा मानो और राजा की घुड़शाल में चले जाओ। वहां जाकर मजे से चने खाना। वहां कोई काम नहीं करना पड़ेगा।’

गधा बोला—‘तुम्हारा कथन लुभावना है, किन्तु राजा की घुड़शाल में मेरा प्रवेश कैसे होगा? यदि चला भी जाऊंगा तो मुझे मार-पीटकर लोग निकाल देंगे।’

आदमी बोला—‘इसकी चिंता मत करो। तुमको वहां से कोई नहीं भगाएगा। क्योंकि वहां के सभी अधिकारी यह मानकर चलते हैं कि जिसके पूंछ होती है, वह घोड़ा होता है। तुम चले जाओ और सुखपूर्वक जीवन बिताओ।’

गधा बोला—‘अधिकारी तो मान लेंगे, किन्तु राजा एक गधे को घोड़ा कैसे मानेगा?’

आदमी ने कहा—‘चिंता मत करो। राजा स्वतंत्र रूप से कुछ नहीं सोचता। वह वही मानता है, जो अधिकारी कहते हैं। अधिकारी यदि गधे को घोड़ा कह देंगे तो राजा गधे को घोड़ा मान लेगा और यदि वे घोड़े को गधा कह देंगे तो वह घोड़े को गधा मान लेगा। तुम बेफिक्र रहो।’

गधा बोला—‘अरे! इतना तो ठीक है, किन्तु दूसरे नागरिक इसे कैसे स्वीकार करेंगे?’

आदमी बोला—‘इस राष्ट्र के सारे लोग तटस्थ हैं, उदासीन हैं, वे यह मानते हैं कि हमें क्या, कोई कुछ भी माने।’

आज की राजनीति ने इस तटस्थता को जन्म दिया है। इससे अनेक विकृतियां पैदा हुई हैं। समाज का बहुत बड़ा भाग राजनीति में भाग नहीं लेता, तटस्थ रहता है, कोई चिंता नहीं करता। यदि सब चिंता करने लग जाएं तो जो स्थिति चल रही है, वह चल नहीं सकती। उसमें अनिवार्यतः परिवर्तन आ जाता है। किन्तु सब उदासीन हैं और यही कहते हैं ‘हमें क्या! जो कुछ हो रहा है, होने दो। हम क्यों चिंता करें?’ आदमी इसका परिणाम भी भुगत लेता है, पर उदासीनता नहीं तोड़ता।

जनता के अधिकार

आज राजतंत्र का युग नहीं है। राज्य कोई दैवी सत्ता नहीं है। न कोई ईश्वर का अवतार राजा बनकर आता है और न उसकी संतान ईश्वरीय या दैवी रूप में अवतरित होकर अपने उत्तराधिकार को संभालती है। आज जनतंत्र का युग है। जो सत्ता एक राजा में निहित थी, वह सत्ता जनता को प्राप्त है। राजनीति जन-जीवन के अधिकारों और कर्तव्यों की व्याख्या करती है। उसने अनेक अधिकार दिए हैं। उनमें मुख्य हैं—

1. जीवित रहने का अधिकार।
2. संपत्ति का अधिकार।
3. स्वतंत्रता का अधिकार।
4. शासन-तंत्र में भाग लेने का अधिकार।

नियंत्रण है राजनीति का

कोई भी व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार शासन-तंत्र में भाग ले सकता है। यह प्रतिबंध नहीं है कि अमुक भाग ले सकता है और अमुक नहीं। हर नागरिक को यह अधिकार प्राप्त है। उस स्थिति में यह उदासीनता टूटनी चाहिए। आज का नागरिक इस राजनीति से उदासीन नहीं रह सकता। आज के लोग यह मान



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

बैठे हैं कि राजनीति गंदी है, उसमें भाग लेने वाले लोग भ्रष्ट हैं। यह मानना गलत है। मैं ऐसा नहीं मानता। यदि वह गंदी है और उसमें जाने वाले लोग भ्रष्ट हैं तो उसकी जिम्मेदारी आप पर भी आती है। उस गंदगी का परिणाम सबको भुगतना पड़ता है। राजनीति आज सब कुछ है। जीवन की सारी बागडोर राजनीतिज्ञों के हाथ में है। अर्थ की सत्ता राजनीतिज्ञों के हाथ में है तो धर्म-संस्थानों की सत्ता भी उन्हीं के पास है। जीवन के प्रत्येक पक्ष पर उनका नियंत्रण है। धर्म पर राजनीति का कोई नियंत्रण नहीं होता, किंतु धर्म-संस्थानों पर उसका निश्चित नियंत्रण होता है। अर्थ-संस्थान और धर्म-संस्थान—दोनों राजनीति से संचालित हैं। ऐसी स्थिति में राजनीति में उदासीन होकर बैठ जाना, उसकी उपेक्षा करना समझदारी की बात नहीं है।

समझें राजनीति को

हम नैतिकता की खिड़की से राजनीति को देखने का एक उपक्रम कर रहे हैं। दोनों में दूरी है और राजनीति की सीमा में नैतिकता की बात प्राप्त नहीं है, किंतु जब नैतिकता की खिड़की को खोलकर हमने देखना शुरू किया है तो हमें राजनीति को ठीक से समझना ही होगा।

राज्य और सरकार—ये दो राजनीति के मूलभूत आधार हैं। क्या कोई व्यक्ति राज्य की उपेक्षा कर सकता है? क्या कोई नागरिक सरकार की उपेक्षा कर सकता है? उसकी उपेक्षा कोई नहीं कर सकता। जीवन का एक भी पक्ष ऐसा नहीं, एक भी परिस्थिति ऐसी नहीं या एक भी घटना ऐसी नहीं, जो राजनीति के द्वारा नियंत्रित न हो। इस स्थिति में यह परम आवश्यक हो जाता है कि हम राजनीति को समझें, उससे दूर न भागें। यह भी न मानें कि वह गहिरे वस्तु है। हम यह मानें कि वह एक सर्वशक्ति-संपन्न तत्व है, जिसका उपयोग हमें सतर्कता से करना है। यदि समाज का मूर्धन्य वर्ग, चिंतक और विद्वान् वर्ग उस क्षेत्र में प्रवेश करता है तो उसमें परिष्कार की संभावनाएं प्रबल हो सकती हैं। यदि यह वर्ग राजनीति से दूर होता चला जाए तो उसमें परिष्कार की संभावना भी क्षीण हो जाती है। पावलॉव का एक सूत्र है—‘राजनीति की यह प्रकृति है कि वह मुख्य को गौण कर देती है और गौण को मुख्य बना डालती है।’

आज यही सबसे बड़ी समस्या है। आज की राजनीति जीवन की प्राथमिक वस्तुओं को गौण कर, गौण वस्तुओं को प्राथमिकता देकर चल रही है। अन्न जीवन की प्राथमिक वस्तु है। राजनीति कभी-कभी इसे गौण कर अन्यान्य वस्तुओं को प्राथमिकता दे देती है। सदाचार जीवन का मुख्य तत्व है। राजनीति में उसे गौण स्थान प्राप्त है।

मेकाइवर ने लिखा है—‘राजनीति नैतिकता नहीं ला सकती।’ यह सही है। नैतिकता लाना राजनीति का अधिकार-क्षेत्र नहीं है। राजनीति के पास दंड-शक्ति है। वह अनुचित काम करने वालों को दंड दे सकती है, उन पर शासन कर सकती है किंतु उन्हें नैतिक नहीं बना सकती। क्योंकि नैतिकता की प्रेरणा अंतःकरण से उद्भूत होती है। एक व्यक्ति अंतःकरण से कैसा है, क्या करता है—यह राजनीति की चिंता का विषय नहीं बनता। राजनीति की सीमा वहां नहीं पहुंच पाती। कोई व्यक्ति मन में बुरा चिंतन करता है, अनिष्ट सोचता है, राजनीति का वहां कोई हस्तक्षेप नहीं हो सकता, न्यायालय का भी कोई हस्तक्षेप नहीं हो सकता। परोक्ष में किए जाने वाले बुरे कामों में राज्य का हस्तक्षेप नहीं होता। राज्य व्यक्ति को तब दंडनीय मानता है जब वह प्रत्यक्ष में कानून के द्वारा निषिद्ध आचरण करता है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अध्यात्म का सूत्र

परोक्ष जगत् में राजनीति का प्रवेश नहीं हो सकता। वहां केवल धर्म का शासन चलता है, अध्यात्म का शासन चलता है। एक आध्यात्मिक व्यक्ति का यह सूत्र हो सकता है—‘दिआ वा राओ वा, एगओ वा परिसागओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा—दिन में या रात में, अकेले में या समूह में, नींद में या जागरण में—मैं वह आचरण नहीं करूंगा, जो आत्म-परिधि से बाहर का हो।’ यह अध्यात्म का सूत्र हो सकता है, यह राज्य या राजनीति का सूत्र कभी नहीं हो सकता। एक व्यक्ति कानून की पकड़ में तभी आता है जब वह अनाचीर्ण कार्य करते हुए देख लिया जाता है, उस कार्य को प्रमाणित कर दिया जाता है। अन्यथा वह कभी पकड़ में नहीं आता। नैतिकता की बात भिन्न है। एक नैतिक व्यक्ति मन में उठने वाले बुरे विकल्प का प्रायश्चित्त करना पसंद करता है, वह उसका प्रायश्चित्त भी करता है। राजनीति में ऐसा नहीं होता। एक राजनीतिज्ञ अपनी भूलों का प्रायश्चित्त करना पसन्द नहीं करता। समाज में नैतिकता की प्रतिष्ठा करना, व्यक्ति को नैतिक बनाना यह राजनीति के क्षेत्र में प्राप्त नहीं है।

नहीं बना सकता बुलबुल

चिड़ियों के राजा उकाब के पास कोयल गई और बोली—‘आप मुझे बुलबुल बना दें।’

उकाब ने कहा—‘अच्छा, आज से सब तुम्हें बुलबुल मानेंगे।’ उसे बुलबुल मान लिया गया। एक डाल पर बैठकर वह गाने लगी। दूसरे पक्षियों ने उसकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। वह पुनः उकाब के पास गई और बोली—‘आपने मुझे बुलबुल बना दिया, किन्तु ये दूसरे पक्षी बुलबुल के रूप में स्वीकार ही नहीं करते।’

उकाब बोला—‘मैं राजा हूं, भगवान् नहीं हूं। मैं तुम्हें बुलबुल का पद दे सकता हूं किन्तु तुम्हें बुलबुल बना नहीं सकता।’

राजनीति किसी को बुलबुल का पद दे सकती है, किन्तु बुलबुल बनाना उसके हाथ की बात नहीं है। वह किसी को नैतिक बना नहीं सकती। किन्तु यह एक सचाई है कि यदि सरकार में जाने वाले व्यक्ति नैतिक होते हैं तो व्यवस्था सुंदर होती है। यदि वे नैतिक नहीं होते हैं तो जीवन का सारा तंत्र ही गड़बड़ा जाता है।

राजनीति के आकाश को नैतिकता की खिड़की से देखने के तीन बड़े लाभ हैं—

1. जीवन का परिष्कार होता है।
2. राजनीति और अर्थनीति के द्वारा जो विकृतियां आती हैं, समाज में जो घृणा और विषमता फैलती है, उनका निराकरण होता है।
3. मनुष्य का जीवन संतुलित, शांत और स्वस्थ बनता है।

नैतिकता की खिड़की से राजनीति के आकाश को देखने से यह लाभ होगा कि सत्ता और प्रशासन में आने वाले लोगों के जीवन में निखार आएगा।

षडरि वर्ग

आज की सबसे बड़ी अपेक्षा यह है कि राजनीतिक जीवन में परिष्कार आए। दो-ढाई हजार वर्ष पूर्व जितने राजनीति और अर्थनीति के शास्त्र लिखे गए, उनमें मुख्य ग्रंथ तीन हैं—1. कौटिल्य अर्थशास्त्र,



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

2. नीतिवाक्यामृत, 3. शुक्रनीति। उनमें कहा गया है कि राजा को 'षडरि वर्ग' का विजेता होना चाहिए। जो इन छह शत्रुओं को नहीं जीत लेता, वह सही अर्थ में राजा नहीं होता। राजा के छह शत्रु हैं—काम, क्रोध, मद, लोभ, इन्द्रिय-पराधीनता और असंयम। जो राजा इन छह शत्रुओं को नहीं जीत लेता, वह राज्य का भला नहीं कर सकता। आप यह न मानें कि राजनीति में उच्छृंखलता को स्थान मिला है। राजनीति उच्छृंखलता को नहीं मानती। वह हमेशा नैतिकता से अनुशासित रही है। प्राचीनकाल में राजनीति और अर्थनीति पर धर्म का नियंत्रण था। बड़े-बड़े सम्राट् ऋषि-मुनियों के पास जाते और उनका मार्गदर्शन पाकर राज्य का संचालन करते। वे बड़ी-बड़ी समस्याओं को समाहित करते। आज यह अंकुश नहीं रहा। जीवन-तंत्र पर राजनीति हावी हो गई और यह अंकुश टूट गया। इसीलिए अति विषम स्थितियां पैदा हो गईं। यह भी संभव है कि धर्म के आचार्य या नैतिकता को समर्थन देने वाले व्यक्ति इतने तेजस्वी नहीं रहे कि जिनका अंकुश राजनीति मान सके। कहीं-न-कहीं कमी है। इतना स्पष्ट है कि आज राजनीति में परिष्कार की अपेक्षा है किन्तु आज का राजनेता इस बात को टालता जा रहा है।

कारण राज्य सत्ता का

शासन सत्ता में आने वाले सारे लोग तपस्वी और संयमी होते हैं, यह मानना भी अति मानना होगा। सारे अधिकारी और कर्मचारी दूध के धुले होते हैं, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। महामात्य कौटिल्य ने लिखा है—पानी की गहराई में तैरने वाली मछलियां पानी पीती हैं, उसका पता लगाना कठिन है। इसी प्रकार राज्य कर्मचारी रिश्वत लेता है, उसका पता लगाना कठिन है।

आकाश में उड़ने वाले पक्षियों की गति का पता लगाया जा सकता है किन्तु प्रच्छन्न भाव से रिश्वत लेने वाले राज्य कर्मचारी की गतिविधि का पता नहीं लगाया जा सकता। यह आज की बात नहीं है, ढाई हजार वर्ष पुरानी बात है। मनुष्य की प्रकृति सदा एक-सी रहती है। क्षेत्र और काल की दूरी से उसे नहीं मापा जा सकता। यदि मनुष्य की यह प्रकृति नहीं होती तो राज्य-सत्ता का विकास नहीं होता। राज्य-सत्ता का विकास क्यों हुआ? राजनीति का विकास क्यों हुआ? मनुष्य ने अपने सारे अधिकार राजनीति के चरणों में न्योछावर क्यों किए? इसका एकमात्र उत्तर है कि मनुष्य की प्रकृति में स्वार्थ होता है। मनुष्य स्वार्थी होता है। उसमें विचारभेद और अहं होता है। यदि स्वार्थ, विचारभेद और अहं नहीं होता तो राज्य का विकास नहीं होता। किन्तु स्वार्थ होने के कारण छीना-झपटी होती है। जब छीना-झपटी होती है तब उसके नियंत्रण की बात सोची जाती है। यह स्वार्थ और संघर्ष राज्य-सत्ता के पनपने का पहला बीज है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

विचारभेद राज्य-सत्ता के पनपने का दूसरा बीज है। विचारभेद होना एक अनिवार्यता है। जब वह समन्वय या सहिष्णुता के द्वारा नहीं सुलझाया जाता तब राज्य-सत्ता को आना पड़ता है। विचारभेद के कारण जब संघर्ष उभरते हैं, लड़ाइयां होती हैं तब राज्य-सत्ता उसको रोकने के लिए उत्पन्न होती है।

अहं से राज्य-सत्ता का विकास होता है। यह तीसरा बीज है। प्रत्येक आदमी में अहंकार होता है। वह स्वयं को बड़ा और दूसरों को छोटा मानता है। जो स्वयं नासमझ है, जिसे हम सब नासमझ मानते हैं, वह सारी दुनिया को नासमझ मानता है। कितना आश्चर्य! आदमी का इतना बड़ा अहं कि वह स्वयं के

अतिरिक्त सबको अज्ञानी मानता है। छोटे बच्चे से पूछें—‘तू ज्यादा समझदार है या तेरा बड़ा भाई?’ वह कहेगा—‘मैं ज्यादा समझदार हूँ।’

सबसे बड़ी शक्ति है आत्मविश्वास

राज्य-सत्ता के उदय के ये तीन कारण बहुत ही स्पष्ट हैं। इसके उदय के साथ-साथ अनेक विकृतियां इसमें आई हैं। यदि नैतिकता के द्वारा राजनीति को परिष्कृत करने का उपक्रम नहीं चलता है तो उसके कड़वे परिणामों को भी हमें भुगतना पड़ता है। प्रत्येक आदमी चाहता है कि उसकी स्वतंत्रता न छीनी जाए, उसे न्याय मिले। किंतु क्या शक्तिहीन व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता को बचा सकता है? क्या उसे कभी न्याय मिल सकता है? शक्तिहीन व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता की रक्षा नहीं कर सकता। उसे कभी न्याय नहीं मिल सकता। मैं मानता हूँ कि ये दोनों शब्द—शक्ति और न्याय एकार्थक हैं, पर्यायवाची हैं। न्याय का अर्थ है शक्ति और शक्ति का अर्थ है न्याय। शक्तिहीन आदमी न्याय की आशा करता है तो वह कभी सफल नहीं हो सकता। न्याय शक्ति-सापेक्ष होता है।

शक्तियों में सबसे बड़ी शक्ति होती है—आत्मविश्वास की। आत्मविश्वास का अर्थ है—अपने पर आस्था। यह आस्था नैतिक निष्ठा से प्राप्त होती है। व्यक्ति में आंतरिक निष्ठा, आंतरिक अनुशासन जागने पर आत्मविश्वास की लौ जल उठती है। वह अमिट होती है, कभी नहीं बुझती।

शासन और अनुशासन

दो शब्द हैं—शासन और अनुशासन। आज अनुशासन लाने की बात चारों ओर से आ रही है पर वह कहीं दृगोचर नहीं होता। इसको हम समझें। अनुशासन में दो शब्द हैं—अनु और शासन। अनु अव्यय है। उसका अर्थ है—बाद में। अनुशासन का अर्थ है—शासन के बाद आने वाला। मनुष्य में शासन तो है नहीं और हम आशा करें कि उसमें अनुशासन आए, यह कभी संभव नहीं है। जब अंतःकरण की पवित्र प्रेरणाओं के द्वारा शासन का विकास होता है तब अनुशासन की संभावना बढ़ती है। शासन के अभाव में अनुशासन आ ही नहीं सकता।

राजनीति के आकाश को नैतिकता की खिड़की से देखने का सुपरिणाम यह होगा कि व्यक्ति-व्यक्ति में आत्मानुशासन जागेगा और राजनीति के आकाश में होने वाले उत्पात मिट जाएंगे। आत्मानुशासन फलित होगा, तब किसी भी प्रकार की उच्छृंखलता नहीं होगी।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत



भौतिक प्रगति और नैतिकता

अनुत्तरं साम्यमुपैति योगी—योगी अनुत्तर साम्य को पाता है। साम्य शब्द का प्रयोग बहुत प्राचीनकाल से चलता आ रहा है। जैनों की भाषा में अहिंसा और समता एक है। लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु, निन्दा-प्रशंसा और मान-अपमान में जो सम रहे, वही अहिंसा की आराधना कर सकता है। राग-द्वेष आवेगात्मक वृत्तियां हैं। इनसे परे रहने का जो भाव है—मध्यस्थता है वही साम्य है। गीता में 'समत्व' को योग कहा गया है।

साम्यवाद का कारण

साम्यवाद आज के दलित-मानस का प्रिय शब्द है। कुछ लोग साम्यवाद से घबराते भी हैं। दिल्ली में आचार्यश्री तुलसी से एक व्यक्ति ने पूछा—'क्या भारतवर्ष में साम्यवाद आएगा?' आचार्यश्री ने कहा—'आप बुलाएंगे तो आएगा, नहीं तो नहीं।' उत्तर सीधा है। कार्य को समझने के लिए कारण को समझना चाहिए।

साम्यवाद का कारण है—पूंजीवाद। दो-सौ वर्ष पहले पूंजीवाद इस अर्थ में रूढ़ नहीं था, जिस अर्थ में आज है। 18वीं (ई. 1761) शती में भाप का आविष्कार हुआ। उसके साथ-साथ पूंजीवाद आया। इससे पहले यातायात के साधन अल्प वेग वाले थे। संग्रह के साधन सुलभ नहीं थे। सहज भाव से विकेन्द्रित स्थिति थी। वाष्प युग ने यंत्र-युग का रूप लिया। वर्तमान युग यन्त्र-युग है। इस युग में यातायात के साधन वेगवान् बने और बनते जा रहे हैं। विश्व सिमट गया। यंत्रों द्वारा कार्य होने लगा। कार्य करने की क्षमता मनुष्यों से हटकर मशीनों में आ गई। पूंजी का संग्रह सुलभ हो गया। व्यक्ति-व्यक्ति के पास जो सम्पत्ति थी, वह कुछ ही व्यक्तियों के पास चली गई। सहज ही दो वर्ग बन गए—पूंजीपति और मजदूर। पहले बड़े नगर कम थे, गांव अधिक। मिलों ने गांवों को खाली किया। नगरों की आबादी बढ़ गई। हजारों मजदूर एक साथ काम करने लगे। इस परिस्थिति से उन्हें मिलने, संगठित होने और वर्ग बनाने का अवसर मिला। वर्ग-संघर्ष का बीज जड़ पकड़ गया।

परिणाम पूंजीवाद का

पूंजीवाद का परिणाम है—बेकारी या उत्पादन की कृत्रिम आवश्यकता। मनुष्य का काम यंत्र करने लगे तब हजारों का जीवन-साधन एक व्यक्ति के पास आ गया। एक धनी और हजारों बेकार हो गए। संघर्ष की जड़ मजबूत हो गई। वही आगे जाकर साम्यवाद के रूप में फलित हुई।

पुराने पूंजीपतियों की धारणा यह थी कि यह परम्परा इसी प्रकार चलती रहेगी। पूंजीपति और मजदूर उसी प्रकार बने रहेंगे। मार्क्स ने इस दृष्टिकोण से भिन्न विचार प्रस्तुत किया। वह द्वन्द्व-आत्मक भौतिकवाद कहलाता है। उसके अनुसार यह विश्व परिवर्तनशील है। मूलावस्था में विरोधी तत्त्व समवेत रहते हैं। जिस समय जिसकी प्रबलता होती है, उस समय वह व्यक्त हो जाता है। एक के बाद दूसरी अवस्था आती है, दूसरी के बाद तीसरी। दूसरी अवस्था पहली का विपरिणाम और तीसरी अवस्था दूसरी का विपरिणाम होती है। यह क्रम चलता रहता है। पहले पूंजीवाद था, बेकारी बढ़ी, शोषण हुआ। शोषण से क्षोभ उत्पन्न हुआ, पूंजीवाद का ढांचा लड़खड़ाने लगा। प्रतिक्रिया के रूप में साम्यवाद को जन्म मिला। आर्थिक दृष्टि से साम्यवाद का स्वरूप उत्पादन और वितरण में समाया हुआ है। इन पर व्यक्तिगत स्वामित्व न हो—यही साम्यवाद का आर्थिक दृष्टिकोण है।

दार्शनिक साम्यवाद : वैज्ञानिक साम्यवाद

कुछ पुराने दार्शनिकों ने कहा है—सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व न हो। किन्तु सम्पत्ति का वितरण कैसे किया जाए, यह उन्होंने नहीं बतलाया। इसलिए आज के चिन्तक उसे दार्शनिक साम्यवाद कहते हैं। मार्क्स ने सम्पत्ति के वितरण की व्यवस्थित पद्धति बतलाई। इसलिए उसका साम्यवाद वैज्ञानिक साम्यवाद कहलाता है। उसने एक सीमा तक सम्पत्ति के वैयक्तिक प्रभुत्व को राष्ट्रीय प्रभुत्व के रूप में बदल दिया।

अणुव्रत का अभियान और साम्यवाद

अणुव्रत का अभियान वैयक्तिकता से राष्ट्रीयता की ओर नहीं है, वह असंग्रह की ओर है। यह आर्थिक समस्या का समाधान नहीं है, किन्तु अर्थ के प्रति होने वाले आकर्षण को तोड़ने की प्रक्रिया है। लोग कहते हैं—अपरिग्रह का उपदेश हजारों वर्षों से चल रहा है पर स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया। तर्क सही है। वैज्ञानिक साम्यवाद के द्वारा समाज की अर्थ-व्यवस्था में जो परिवर्तन आया है, वह अपरिग्रह के उपदेश से नहीं आ सकता। इसका कारण दोनों का भूमिका-भेद है।

साम्यवाद का उद्देश्य है—समाज के अर्थतंत्र का परिवर्तन और अपरिग्रह का उद्देश्य है—व्यक्ति की आत्मा का परिशोधन या पदार्थ-संग्रह की मूर्च्छा का उन्मूलन। इनकी प्रक्रिया भी एक नहीं है। साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था राज्य-शक्ति के द्वारा होती है और आत्मा का परिशोधन व्यक्ति के हृदय-परिवर्तन से होता है। अर्थ-व्यवस्था सामाजिक हो सकती है और आत्मा का शोधन वैयक्तिक ही होता है।

संक्षेप में कहा जाए तो अपरिग्रह भोग-त्याग का प्रेरक है और साम्यवाद भोग की संतुलित व्यवस्था का प्रेरक। अपरिग्रह की एक लंबी परम्परा है, जिसे मान्य कर लाखों करोड़ों व्यक्ति आकिंचन्य का व्रत ले



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

चुके हैं और उसका धागा आज भी टूटा नहीं है। साम्यवाद ने पूर्ण असंग्रह की ओर किसी को प्रेरित किया हो, ऐसा नहीं लगता।

अर्थ-व्यवस्था के परिष्कार में साम्यवाद या उसके पाशवों को छूती हुई दूसरी जनतंत्र-प्रणालियां सफल न हुई हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। किन्तु इसके द्वारा मानव की आवेगात्मक प्रवृत्तियां परिष्कृत हुई हों, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। वृत्तियों का परिष्कार पदार्थ-संग्रह को अनिष्टकर मानने पर ही हो सकता है। अध्यात्मवाद इसी दिशा का नाम है।

संग्रह का मूल

संग्रह का मूल भोग-वृत्ति में है। समाज की जितनी व्यवस्थाएं हैं, वे मात्रा-भेद से भोग-वृत्ति के परिष्कार हैं। अर्थ-तंत्र उसका साधन है। अध्यात्मवाद का मूल त्याग में है। संग्रह मात्र पाप है, भले फिर वह वैयक्तिक हो या सामाजिक। जितना परिग्रह उतना बंधन, जितना बंधन उतना मोह और जितना मोह उतनी मिथ्या धारणाएं; यह एक क्रम है, जो मनुष्य में भटकने की तर्क-बुद्धि पैदा करता है।

अर्थ-तंत्र की परिक्रमा करने वाले सारे वाद भौतिक विकास को वैज्ञानिक और आत्मिक विकास को अवैज्ञानिक मानकर चल रहे हैं। परिष्कृत अर्थ-व्यवस्था ने भी संघर्ष की दिशा बदली हो, ऐसा नहीं लगता। विकास को मापा जाता है—पदार्थ से, शस्त्र से और सेना से।

इच्छा-परिमाण

सामाजिक प्राणियों के लिए सामाजिक विकास अपेक्षित नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। यह भी सच है—अपरिग्रह से समाज का भौतिक विकास नहीं होता। वह आत्मा के विकास का पथ है। सामाजिक जीवन के लिए भौतिक पक्ष और उसकी समृद्धि के लिए परिग्रह आवश्यक माना जाता रहा है। परिग्रह इच्छा है, पदार्थ नहीं। इच्छा जुड़ती है, वह परिग्रह बन जाता है। इच्छा का नियंत्रण किया जा सकता है, पदार्थ का नहीं। सामाजिक प्राणियों के लिए अपरिग्रह का अर्थ है—इच्छा-परिमाण।

जीवनयापन के दो विकल्प हैं—महा-आरम्भ और महा-परिग्रह तथा अल्पारम्भ और अल्प-परिग्रह। आज की भाषा में बड़ा उद्योग और अपार संग्रह तथा छोटा उद्योग और सीमित संग्रह। उद्योग के केन्द्रीकरण से अर्थतंत्र विकृत होता है। यह व्यावहारिक दोष है। उसका आध्यात्मिक दोष है—भोग-वृद्धि। भोग के लिए प्रचुर परिग्रह चाहिए और उसके लिए बड़ा उद्योग। यह क्रम जीवन के दोनों (भौतिक और आध्यात्मिक) पक्षों को जटिल बनाने वाला है। उद्योग के विकेन्द्रीकरण या अल्पीकरण का आधार अल्प-भोग है। अणुव्रत-आंदोलन की आत्मा भोग-त्याग या संयम है इसीलिए यह आध्यात्मिक है। भारत का मानस चिरकाल से आध्यात्मिक रहा है। भारतीय लोग, जो शान्तिप्रिय हैं, उसका कारण उनकी आध्यात्मिक परम्परा है। आर्थिक साम्य सुख-सुविधा के साधन प्रस्तुत कर सकता है। आध्यात्मिक साम्य शान्ति या मानसिक-संतुलन का साधन है।

धारणाओं का परिवर्तन

पहले धारणाएं बदलती हैं, फिर व्यवस्था। परिस्थितियों का परिवर्तन हुए बिना मनुष्यों का परिवर्तन नहीं होता। परिस्थितियां नैतिकता के अनुकूल होती हैं, मनुष्य नैतिक बनता है। वे उसके प्रतिकूल होती हैं,



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

मनुष्य अनैतिक बनता है, यह बहुतों की धारणा है। यह परिस्थितिवाद है। भौतिकता का उत्कर्ष इसी धारणा से हुआ है।

अणुव्रत-आंदोलन परिस्थितिवाद का प्रचार नहीं करता। वह आध्यात्मिक है, परिस्थितियों की अनुकूलता से उसका कोई विरोध नहीं है। किन्तु उनकी अनुकूलता में ही मनुष्य नैतिक रह सकता है—इस धारणा से विरोध है। मनुष्य परिस्थितियों की उपज नहीं है। उसका स्वतंत्र अस्तित्व है। भोग-वृत्ति से वह दुर्बल बनता है। कठिनाइयों को सहन करने की क्षमता नष्ट हो जाती है, मनुष्य परिस्थिति से दब जाता है।

आध्यात्मिकता का प्रवेश-द्वार है—त्याग। त्याग से आत्मा का बल बढ़ता है। आत्म-बल का मतलब है—भौतिक आकर्षण का अभाव। पदार्थ का आकर्षण मनुष्य में दैन्य भरता है। पदार्थ का आकर्षण टूटता है, आत्म-बल का सहज उदय हो जाता है। आत्मोदय की धारणा में परिस्थिति गौण बन जाती है।

यह सच है—परिस्थिति की प्रतिकूलता जन-साधारण के लिए एक प्रश्न है। किन्तु मनुष्य को परिस्थिति का दास बना कर उसे नहीं सुलझाया जा सकता। परिस्थिति के रूपान्तर से मनुष्य की वृत्ति का रूपान्तर हो जाता है, वह कोई नैतिक विकास नहीं है। साम्यवादी अर्थ-तंत्र में एक प्रकार की अनैतिकता मिट जाती है, पर क्या अनैतिकता के सभी प्रकार मिट जाते हैं? क्या उस व्यवस्था में अपराध और अपराधी नहीं होते? क्या राजनीतिक स्पर्द्धा नहीं होती? एकतंत्र एक परिस्थिति पैदा करता है, जनतंत्र दूसरी। पूंजीवाद एक परिस्थिति पैदा करता है, साम्यवाद दूसरी। इनमें नैतिकता के एक रूप का विकास होता है तो उसके दूसरे रूप का विनाश भी होता है। अनैतिकता का एक रूप मिटता है तो दूसरा रूप उभरता भी है। यह परिस्थितिवाद की देन है। उसे मुख्य मानकर चला जाए तो वह रुकेगी नहीं। आध्यात्मिकता परिस्थिति-निरपेक्ष है। मनुष्य आत्मा है। उसकी क्षमता असीम है। वह प्रतिकूल परिस्थिति में भी नैतिक रह सकता है। अणुव्रत-आंदोलन का ध्येय है—इस श्रद्धा को जगाना।

नैतिक विकास क्यों?

नैतिक विकास का प्रश्न सामाजिक प्रश्न है। आध्यात्मिकता यद्यपि वैयक्तिक होती है, किन्तु आध्यात्मिकता-हीन व्यक्ति स्वतंत्र भाव से नैतिक नहीं हो सकता। इसलिए समाज के सम्पर्क में वह नैतिकता बन जाती है। नैतिकता के बिना व्यक्ति पवित्र नहीं रहता, इतना ही नहीं, किन्तु सामूहिक व्यवस्था भी नहीं टिक पाती। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के प्रति प्रामाणिक न रहे, ईमानदार न रहे, तब सन्देह बढ़ता है। संदेह से भय और भय से क्रूरता बढ़ती है। मनोविज्ञान के अनुसार भय के दो परिणाम होते हैं—पलायन और आक्रमण।

अधिकांश लड़ाइयां, अभियोग, आक्रमण और युद्ध-भय के कारण होते हैं। यदि मनुष्य नैतिक रहे तो सहज ही विश्वास का वातावरण पैदा हो जाए। वर्तमान की विभीषिका और शस्त्र-निर्माण की स्पर्द्धा इसीलिए है कि व्यक्ति एक दूसरे के प्रति संदिग्ध हैं, भयभीत हैं और क्रूरता अनायास बढ़ रही है। नैतिक-विकास के बिना इस प्रवाह को रोका नहीं जा सकता।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

नैतिकता क्या है ?

व्यापार में प्रामाणिकता रहे, मिलावट न हो, कम तौल-माप न हो—ये नैतिकता की बहुत छोटी बातें हैं। नैतिकता का मूल यह है कि अपने स्वत्व को व्यापक बनाने की वृत्ति न हो, दूसरों के अधिकारों को हड़पने की चेष्टा न हो। मूल बल-हीन हो रहा है इसलिए बहुत छोटी बातें भयंकर बन रही हैं। यदि उनका मूल दृढ़ होता तो इन छोटी-छोटी बातों को व्रत का रूप देने की आवश्यकता नहीं होती।

व्रत संयम है। संयम का स्वरूप विभक्त नहीं होता। व्रत एक ही है, वह है अहिंसा। वैयक्तिक साधना में अहिंसा का अभिन्न रूप ही पर्याप्त था। उसका सामूहिक आचरण हुआ तब उसकी अनेक शाखाएं निकलीं। व्रतों का विकास हुआ। सत्य अहिंसा का नैतिक पहलू है। अपरिग्रह उसका आर्थिक पहलू है। अचौर्य और ब्रह्मचर्य उसके सामाजिक पहलू हैं। यथार्थ पर परदा डालने के लिए हिंसा का प्रयोग होता है, तब वह असत्य कहलाती है। पदार्थ-संग्रह के लिए उसका प्रयोग होता है, तब वह परिग्रह कहलाती है। वासना का रूप ले वह अब्रह्मचर्य बन जाती है। चोरी का प्रश्न विकट है। युग रहा तर्क-वाद का। लोग सारे मसलों को तर्क से हल करना चाहते हैं। कहा जाता है—युग बदल गया, समाज की परिस्थितियां बदल गईं। बदली हुई समाज-व्यवस्था में अहिंसा आदि व्रतों का कोई उपयोग नहीं रहा। वे आज अवैज्ञानिक हो गए हैं। पुराने जमाने में एक व्यक्ति को चाहे जितना धनसंग्रह करने का अधिकार था। इसलिए उसकी धन-राशि को लेना चोरी माना गया। वर्तमान समाज-व्यवस्था में किसी भी व्यक्ति के अधिकार निरंकुश नहीं हैं। आज मान लिया गया है कि धन का अनावश्यक संग्रह किसी के पास नहीं होना चाहिए। यदि कोई करे तो उसका धन लूट लेना चाहिए। यह चोरी नहीं है। चोरी है अनावश्यक संग्रह करना। हो सकता है—सामाजिक व्यवस्था और उसकी मान्यता के परिवर्तन के साथ चोरी की परिभाषा थोड़ी जटिल या विवादास्पद हो जाए। पर उसका कोई अर्थ ही न रहे, यह तो तब तक संभव नहीं, जब तक व्यक्तिगत स्व जैसा अधिकार मनुष्य को मिला रहेगा और मनुष्य में अतृप्ति का भाव बना रहेगा।

चोरी परिग्रह का ही एक रूप है। आकांक्षा ही मनुष्य को किसी बहाने दूसरे की वस्तु लेने के लिए प्रेरित करती है। वैधानिक ढंग से वस्तुसंग्रह करने में मनुष्य को माया नहीं करनी पड़ती, इसलिए वह संग्रह की प्रक्रिया कहलाती है और अवैधानिक ढंग से दूसरों की वस्तु लेने में माया का जाल बिछाना पड़ता है, विचार और कार्य की सहजता को छिपाना पड़ता है, इसलिए वह प्रक्रिया चोरी कहलाती है। वस्तु का संग्रह स्वयं सदोष है, भले फिर वह वैधानिक ढंग से हो या अवैधानिक ढंग से। वैधानिक ढंग से किये जाने वाले संग्रह को छोड़ने में सामाजिक प्राणी अपने को असमर्थ पाता है, किन्तु अवैधानिक संग्रह के लिए मनुष्य को बहुत ही नीचे उतरना पड़ता है इसलिए उसे घृणित अर्थ में चोरी माना गया और संग्रह की इस प्रक्रिया से बचना आवश्यक माना गया।

समाज के तीन पहलू हैं—आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक। जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए आर्थिक आयोजन, आर्थिक व्यवस्था के लिए राजनीतिक संगठन और जीवन की उच्चता के लिए नैतिक विकास आवश्यक माना जाता है। नैतिकता का स्रोत आध्यात्मिकता है। आध्यात्मिकता के माने हैं—आत्मा की अनुभूति और उसके शोधन का प्रयत्न। यह वैयक्तिक वस्तु है। बाहरी जगत् में व्यक्ति



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

सामाजिक बनता है। अन्तर-जगत् में वह अकेला होता है। अकेलेपन में जो अध्यात्म होता है, वही दो में नैतिकता बन जाती है। नैतिकता अध्यात्म का प्रतिबिम्ब है।

क्या नैतिकता परिवर्तनशील है ?

नैतिकता का अखण्ड रूप है—आध्यात्मिकता या भौतिक आकर्षण से मुक्ति। वह है अहिंसा। अहिंसा और आध्यात्मिकता एक है, वह शाश्वत है, देश और काल के परिवर्तन के साथ परिवर्तित नहीं होती। आध्यात्मिकता का खण्ड रूप है—नैतिकता। स्वरूपतः वह भी अपरिवर्तित है, किन्तु प्रकारों के रूप में वह परिवर्तनशील भी है। देश, काल की स्थिति के अनुसार बुराई के प्रकार बदलते रहते हैं। बुराई नया रूप लेती है, नैतिकता का रूप भी नया हो जाता है। वास्तव में अनैतिकता का रूप भी एक ही है, वह है हिंसा। हिंसा के नये प्रकार का प्रतिकार करने के लिए अहिंसा का नया प्रकार बनता है। स्वरूप न हिंसा का बदलता है और न अहिंसा का।

नैतिक विकास किस भूमिका पर हो ?

प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है। सुख का मूल है—शांति और शांति का मूल है—भौतिक आकर्षण से बचना। भौतिकता के प्रति जितना अधिक आकर्षण होता है, उतना ही मनुष्य का नैतिक पतन होता है। पदार्थ, सत्ता, अधिकार और बड़प्पन—ये भौतिक या भौतिकता से संबंधित हैं। इनकी अपेक्षाएं बढ़ती हैं, आत्मौपम्य बुद्धि मिट जाती है। प्राणी-प्राणी में या मनुष्य-मनुष्य में समता के भाव रहते हैं तो क्रूरता नहीं बढ़ती। उसके बिना अनैतिकता का पक्ष लड़खड़ा जाता है। मनुष्य जीवन का दूसरा पक्ष रागात्मक है। उससे प्रेरित होकर मनुष्य अनैतिक कार्य करता है। जातीयता या राष्ट्रीयता के आधार पर जो नैतिकता का विकास हुआ है, उसमें उसका स्वतंत्र मूल्य नहीं है। वह जाति और राष्ट्र के संकुचित प्रेम पर टिकी हुई होती है। वह अपनी सीमा से परे उग्र-अनैतिकता बन जाती है। जो व्यक्ति अपने राष्ट्र के हितों के लिए दूसरे राष्ट्र के हितों को कुचलने में संकोच न करे, क्या उसे नैतिक माना जाए ?

दिशा प्राणीमात्र की एकता की

जाति, भाषा, प्रान्त और राष्ट्र—ये सारे समानता और उपयोगिता की दृष्टि से बनते हैं। मनुष्य जाति एक है—यह बात भुला दी गई है। गोरा गोरे से प्रेम करता है और काले को पशु से भी गया-बीता समझता है। सवर्ण और असवर्ण हिन्दुओं में भी ऐसा ही चल रहा है। जातीय और राष्ट्रीय पक्षपात भी स्पष्ट है। ये स्थूल दृष्टि से अच्छे भी लगते हैं। लोग उन यूरोपियनों को सराहते हैं, जो अधिक कीमत देकर भी अपने देशवासियों की दुकान से चीज खरीदते हैं। वही चीज दूसरी जगह कम कीमत से मिलने पर भी नहीं खरीदते। इसे राष्ट्रीय-प्रेम का विकास माना जाता है। पर हम थोड़े से गहरे चलें तो दीखेगा कि यह मनुष्य जाति एक है—उसकी विपरीत दिशा है। इस कोटि की भावनाएं ही उग्र बनकर संघर्ष और युद्ध के रूप में फूट पड़ती हैं। अपने अधिकार-क्षेत्र का विकास हो, अपनी जाति या भाषा की प्रगति हो, यह भावना यहीं तक सीमित रहे तो प्रियता को क्षम्य भी माना जा सकता है किन्तु वह प्रियता दूसरों के लिए अप्रिय परिस्थिति पैदा कर देती है, वहां मानव जाति की अखण्डता विभक्त हो जाती है इसलिए वह प्रेम भी



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अखण्ड मानवता की दृष्टि से अप्रेम ही है और उसके आधार पर विकसित होने वाली नैतिकता भी स्वतंत्र मूल्यों की दृष्टि से अनैतिकता ही है, इसलिए अणुव्रत-आंदोलन का यह प्रयत्न है कि नैतिकता का विकास केवल आध्यात्मिकता के आधार पर हो। दूसरों के अहित की चेष्टा करने से भले फिर दूसरों का अहित न हो, स्वयं उसी का अहित होता है इसलिए दूसरों के अहित की चेष्टा से बचा जाए—यह आध्यात्मिकता है। इसके आधार पर जो नैतिक विकास होता है, वह किसी के लिए भी खतरनाक नहीं होता। यह मानव की ही नहीं, किन्तु प्राणीमात्र की एकता की दिशा है। यह विचार जितना दार्शनिक है, उतना ही वैज्ञानिक है। इसकी प्रक्रिया निश्चित है। इतिहास साक्षी है कि जाति, भाषा, प्रान्त और राष्ट्र को मनुष्य ने ही जन्म दिया और आगे जाकर उसकी कृतियां ही उसके लिए अभिशाप बनीं—संघर्ष और संहार का कारण बनीं।

राष्ट्र और क्या है? व्यक्ति के स्वार्थों का विस्तार क्षेत्र है। परिवार में स्वार्थों का विस्तार होने लगा और वह होते-होते राष्ट्र तक होता चला गया। यह स्वार्थ या भोग के विस्तार की दिशा है। इस दिशा में अन्तर-राष्ट्रीयता की भावना भी विशेष मूल्यवान नहीं है। आध्यात्मिकता इसकी विपरीत दिशा है। उसका स्वरूप है—स्वार्थ-त्याग या भोग-त्याग। अपने हित के लिए, अपनी शांति के लिए स्वार्थ और भोग का संयम कीजिये, नैतिकता का विकास अपने आप होगा—

सुधरे व्यक्ति, समाज व्यक्ति से, उसका असर राष्ट्र पर हो।
जाग उठे जन-जन का मानस, ऐसी जागृति घर-घर हो॥



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

7

उद्योग में नैतिकता

व्यापार और व्यवसाय शब्द बहुत पुराना है। उद्योग शब्द नया है, इन दो-चार शताब्दियों का है। किन्तु आज इतना महत्वपूर्ण हो गया कि उद्योग के आधार पर एक नया वर्गीकरण ही हो गया है। आज विश्व के देशों को तीन वर्गों में बांटा जाता है—विकसित देश, विकासशील देश और अविकसित देश। जहां उद्योग बहुत सघन और उन्नत हैं, वह विकसित देश कहा जाता है। जहां उद्योग अभी पनप रहे हैं, वह विकासशील राष्ट्र कहा जाता है और जहां उद्योगों का पिछड़ापन है, वह अविकसित राष्ट्र कहा जाता है। सारा संसार इस वर्गीकरण में आ गया, दुनिया इस तरह तीन भागों में बंट गई है।

हम संत लोग उद्योगों से संबंधित बातों से बहुत हद तक अनभिज्ञ हैं। हमारा विषय ही नहीं है यह। हम इससे किसी प्रकार जुड़े भी नहीं हैं। पर समाज के संदर्भ में सोचने वाला कोई भी व्यक्ति समाज की किसी भी समस्या से सर्वथा अपरिचित नहीं होता। उस विषय पर वह सोचता है, समझता है और जानता है। नैतिकता का प्रश्न भी पूरे समाज की प्रवृत्तियों से जुड़ा हुआ है। समाज की एक भी ऐसी क्रिया या प्रवृत्ति नहीं, जिसके साथ नैतिकता की बात जुड़ी हुई न हो।

दो शब्द हैं—अध्यात्म और नैतिकता। अध्यात्म होता है व्यक्तिगत, व्यक्ति की अपनी साधना। व्यक्ति चाहे जहां बैठ जाए, चाहे हिमालय की किसी गुफा में बैठ जाए या किसी तहखाने में भूमिगत हो जाए, यह उसका अध्यात्म है जो नितान्त वैयक्तिक चीज है, उसकी इच्छा पर निर्भर है। किन्तु नैतिकता का मतलब है दूसरे के साथ व्यवहार। संस्कृत में कहा जाता है—अध्यात्म है एकनिष्ठ और नैतिकता होती है द्विष्ट, दो से संबंध रखने वाली। जहां दो नहीं हैं, वहां नैतिकता का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। जहां भी दो मिलेंगे, वहां यह प्रश्न खड़ा होगा कि दूसरे के साथ कैसे व्यवहार करना चाहिए? यह उचित है या अनुचित? नैतिक है या अनैतिक? प्रत्येक कार्य की मीमांसा इस वर्गीकरण के द्वारा ही की जाएगी।

‘उद्योग में नैतिकता’—यह बहुत महत्वपूर्ण विषय है। उद्योग के क्षेत्र में नैतिकता का क्या स्थान है? यह चिन्तन का विषय है। वास्तव में देखा जाए तो नैतिकता के बिना कोई भी कार्य लांग टर्म में सफल नहीं होता। असली दिखा कर नकली देना, प्रामाणिकता और ईमानदारी का न होना, धोखाधड़ी का व्यवहार होना—ये सब ऐसे काम हैं जो एक बार आदमी को शायद कुछ फायदा दे जाएं, आदमी सोचे कि बहुत सफल हो गया किन्तु यह सफलता बहुत क्षणिक होती है। दीर्घकालीन दृष्टि से देखा जाए तो प्रारम्भ में बहुत घाटा दिखाई देगा, किन्तु आगे जाकर सब दृष्टियों से लाभ में रहेगा।

नंबर वन बनने की भावना

कोलकाता चतुर्मास की बात है। एक उद्योगपति पूज्य गुरुदेव के दर्शनार्थ आया। उस समय उसका नाम उद्योग जगत् में चमक रहा था। औद्योगिक क्षेत्र में उसका बोलबाला था। मैंने उससे पूछा—‘आपके पास इतना सब कुछ था। जमा-जमाया व्यवसाय और विपुल वैभव, फिर आपने इतनी गड़बड़ियां क्यों कीं? व्यापार में इतनी जालसाजी और धोखाधड़ी क्यों की?’

उसने कहा—‘मैं अपने जीवन की कहानी आपको सुनाना चाहता हूं, आप सब कुछ समझ जाएंगे।’

मैंने इजाजत दी तो उसने कहा—‘छोटी अवस्था में ही मेरे पिताजी स्वर्गवासी हो गए। मैं उस समय दस-बारह वर्ष का था। मेरे मन में कल्पना जगी कि जैसे भी हो मुझे एक बड़ा आदमी बनना है। हिन्दुस्तान का सबसे चोटी का उद्योगपति बनने की कल्पना मेरे मन में जगी। मैंने उस कल्पना को साकार करने के लिए बारह-तेरह वर्ष की अवस्था में छोटा-मोटा काम शुरू किया। उसमें सफलता मिलती गई। सोलह-सत्तरह और अठारह वर्ष का हुआ तो मैंने अपने काम को विस्तार दिया और संयोग से या भाग्य से मुझे कहीं असफल नहीं होना पड़ा। बिड़ला या टाटा से ऊपर मेरा नाम हो, यह लालसा बढ़ती गई।’ जब व्यक्ति के मन में पहले नम्बर की बात आ जाती है तब फिर उसके लिए और सारी बातें गौण हो जाती हैं।

चीन में लाओत्से नाम का एक प्रसिद्ध दार्शनिक हुआ है, जिसने ‘ताओ’ धर्म का प्रवर्तन किया। उसने लिखा है—मैं अपने जीवन में तीन बातें सुरक्षित रखना चाहता हूं। एक प्रकार से वे मेरे लिए निधान हैं। उन तीन बातों में तीसरी बात है—प्रथम नम्बर का आदमी बनने की मूर्खता मैं कभी न करूं। ऐसा चिन्तन मुझमें कभी न आए कि दुनिया में पहले नम्बर का आदमी मैं बनूं। बड़ी खतरनाक होती है यह नम्बर वन बनने की बात। अगर कोई ऐसा सोचेगा तो फिर उसे सब कुछ करना पड़ेगा—उलटा-सीधा, गलत-सही।

उस उद्योगपति ने बताया—‘महाराज! पहला नम्बर बनने की इस सोच ने मुझसे ऐसे काम करवाए कि मैं कहीं का नहीं रहा।’

बाधा है कानून भी

जहां अप्रामाणिकता आती है, अनैतिकता आती है वहां ये समस्याएं आती हैं। कुछ लोग उद्योग के क्षेत्र में अनैतिक होना नहीं चाहते और अनैतिक व्यवहार करना नहीं चाहते, किन्तु उनकी कुछ समस्याएं हैं। बहुत लोग कहते हैं कि हम अपना सारा काम नैतिक ढंग से करना चाहते हैं, किन्तु सरकारी कानून हमें नैतिक रहने नहीं देता और सरकारी अधिकारी तो बिल्कुल नहीं। हम अपने बही-खाते कितने भी सही रखें,



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

पेशान करने के ढंग वे निकाल ही लेते हैं, फिर रिश्वत के रूप में उन्हें कुछ देना ही पड़ता है। माल चाहे कितना भी अच्छा क्यों न हो, किन्तु जब तक सरकारी अधिकारियों की यथेष्ट पूजा नहीं कर दी जाती, चढ़ावा नहीं चढ़ा दिया जाता, तब तक मंजूरी नहीं मिलती। सबके लिए एक निश्चित रकम बंधी होती है। व्यापार करने वाला, उद्योग चलाने वाला या तो नैतिक बना रहे या अपनी फैक्ट्री चला ले।

मानना चाहिए कि समस्याएं तो हैं। चाहे व्यापार का क्षेत्र हो, कृषि का क्षेत्र हो या उद्योग का क्षेत्र—समस्याएं इन सभी क्षेत्रों में हैं। बहुत बार कानून बाधित करता है प्रामाणिक बनने में तो कई बार कानून का पालन करवाने वाले बाधा बनते हैं ईमानदार और नैतिक बनने में। इन बाधाओं के उपरान्त भी जो मूलभूत बाधा है वह है व्यक्ति की अपनी महत्वाकांक्षा और बड़प्पन की भावना, इच्छाओं की असीमता और अत्यन्त लोभ। जहां अतिलोभ और अति इच्छा है, वहां नैतिकता की बात गौण क्यों नहीं होगी?

मानवीय संबंधों में सुधार

उद्योग जो पनपे हैं और चल रहे हैं उनकी सफलता और सुचारु संचालन में कुछ कारण हेतुभूत रहे हैं। उन पर भी विचार करना जरूरी है। उद्योग में आदमी सफल कैसे बनता है? जापान, जर्मनी, इंग्लैण्ड, फ्रांस, अमेरिका आदि-आदि जो विकसित राष्ट्र कहलाते हैं, वहां के उद्योगपतियों की सफलता का कारण क्या है? इसके लिए जरूरी है कि यंत्र अच्छे हों, दक्षता या इफिशिएंसी हो, शिल्पी और कारीगर कुशल हों। इससे भी आगे, जो सबसे जरूरी शर्त है, वह है—मानवीय संबंधों में सुधार। आपने सुना और पढ़ा होगा—बंगाल में एक समय आया जब ऐसा दौर चला कि हड़ताल, घेराव और तालाबंदी आए दिन की बात हो गई थी। औद्योगिक हालत जर्जर थी। कारण एक ही था कि मानवीय संबंधों में कटुता थी। मार्क्स ने ऐतिहासिकता के आधार पर एक स्पष्ट घोषणा की थी कि दो वर्ग हैं—एक पूंजीपति, दूसरा श्रमिक। ये दोनों विपरीत ध्रुव हैं। इनमें वैसा ही वैर है जैसा सिंह और मेमने में। जन्मजात विरोधी हैं ये दोनों। यद्यपि इस बात को पूर्ण रूप से सही नहीं माना जा सकता, फिर भी दो वर्ग तो सचमुच बन गए। पूंजीपति और श्रमिक—एक दूसरे के विरोधी भी बन गये। कार्य का क्षेत्र एक ही है किन्तु हित विरोधी हैं। मालिक चाहता है ज्यादा से ज्यादा उत्पादन हो, जिससे अधिकतम लाभ मिले और श्रमिक चाहता है मजदूरी ज्यादा और श्रम कम। एक विचित्र-सी स्थिति बन गई। दोनों की यह मानसिकता दृढ़तर होती गई और द्वन्द्व, विरोध, संघर्ष बढ़ता गया। दोनों में सामंजस्य हुए बिना उद्योग में सफलता की आशा नहीं की जा सकती।

हितों का टकराव

पुराने जमाने की बात है। राजा के पास एक ब्राह्मण आया कुछ पाने की आशा में। पुराने जमाने में राजा या शासक लोग ब्राह्मणों और पंडितों को बड़ा संरक्षण और सहायता देते थे, उनका सम्मान करते थे। राजा के मन में अकस्मात् एक कुतूहल जगा। उसने कहा—‘विप्रवर, आप जानते ही हैं कि आपके पूर्वजों में एक अगस्त्य ऋषि हुए हैं, जिन्होंने तीन चुल्लू में पूरा समुद्र पी लिया था। समुद्र की बात जाने दें। आप मेरे सामने केवल एक घड़ा पानी पी कर दिखा दें तो मैं मुंह मांगी दक्षिणा आपको दूंगा।’

पंडित विद्वान और अवसरज्ञ था। उसने कहा—‘राजन्! आपके ही पूर्वज राजा रामचन्द्रजी हुए हैं, जिन्होंने समुद्र पर पत्थर तैरा दिए थे। अगर आप इस एक लोटे जल में एक कंकर भी तैरा कर दिखा दें



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

तो मैं आपके सामने एक घड़ा पानी पी जाऊंगा।' तर्क, चुनौती दोनों तरफ से थे, सटीक थे, कौन किसे स्वीकार करता ?

जहां तर्क और वितंडावाद होता है, वहां काम नहीं होता। होता है तो कम होता है, तालाबंदी और हड़तालें ज्यादा होती हैं। जापान का एक श्रमिक जितना काम करता है, हिन्दुस्तान का श्रमिक उतना नहीं कर सकता, क्योंकि जापान में मानवीय संबंधों में बहुत सुधार है। वहां श्रमिकों के हितों का इतना ध्यान रखा जाता है कि उन्हें कभी हड़ताल या तालाबंदी की सूझती ही नहीं, बल्कि उनके मन में यह भावना बलवती होती है कि कैसे हम अपने कारखाने में अधिकतम उत्पादन कर अधिकतम फायदा पहुंचाएं। देश के लिए अधिक से अधिक उत्पादन करने की इच्छा रहती है। हमारे यहां के श्रमिकों में यह भावना नहीं है, क्योंकि यहां हितों का परस्पर टकराव है। हिन्दुस्तान जैसे धर्म प्रधान देश में मानवीय संबंध बहुत अच्छे होने चाहिए थे।

शोषण की मनोवृत्ति

भगवान् महावीर ने गृहस्थ के लिए आचार-संहिता दी, उसका एक सूत्र है—'वृत्ति का विच्छेद'—अपने आश्रित की आजीविका का विच्छेद मत करो। इस बात को मैं आज की भाषा में कहूं—किसी का शोषण मत करो। शोषण शब्द इतना परिचित हो गया कि आज का कोई भी पढ़ा-लिखा आदमी इस शब्द से अपरिचित नहीं है। साम्यवाद और समाजवाद के संदर्भ में शोषण पर बहुत चर्चा हुई है। यह बहुत हद तक सही है कि धनी लोगों ने गरीबों का शोषण किया है। इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते। आदमी में लोभ इतना प्रबल है कि वह दूसरे का शोषण करता है। समानता के धरातल पर खड़े होकर चिन्तन करें तो ऐसा नहीं हो सकता।

कंपनी के मैनेजर ने ऑफिस में अपनी टेबल पर एक टेलिग्राम देखा। लिखा था—मदर एक्सपायर्ड। वह हड़बड़ा गया और अपने कर्मचारी को बुला कर कहा—'तुरंत आज का ही प्लेन का टिकट लाओ। मेरी मां का देहान्त हो गया है।'

कर्मचारी ने कहा—'मान्यवर! देहान्त मेरी मां का भी हुआ है। मुझे भी छुट्टी चाहिए।'

मैनेजर ने तार को पुनः ध्यान से पढ़ा तो चेहरे के हाव-भाव बदल गए। मैनेजर ने कहा—'नहीं, अभी छुट्टी नहीं मिलेगी। मां बूढ़ी रही होगी, देहान्त हो गया तो ऐसी क्या खास बात हो गई? फिर कभी चले जाना।'

उसने कहा—'नहीं सर, मुझे तत्काल बुलाया गया है, तार मैं आपकी मेज पर रख कर आया हूं।' मैनेजर ने तार किसके लिए था, जल्दी में यह नहीं देखा और अपना समझ लिया।

अभाव करुणा और संवेदनशीलता का

यह तो एक छोटी-सी घटना है। इससे बड़ी-बड़ी न जाने कितनी घटनाएं होती रहती हैं, जहां बड़े लोग छोटे लोगों का शोषण करते हैं। आचार्य भिक्षु ने कहा था—'रांका नै मार धींगा नै पोखे'—गरीब की हत्या कर बड़े-बड़े लोगों का पोषण किया जाता है। इसका कारण यही है कि धार्मिक लोगों में जो करुणा



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

होनी चाहिए, जो मृदुता होनी चाहिए, दूसरों को अपने समान समझने की जो भावना होनी चाहिए, वह नहीं है। दूसरों के दुःख-दर्द की अनुभूति का संवेदन है, तब तो आदमी कुछ बनता है। क्रूरता और अमानवीयता है तो वह मानवोचित गुणों को खो देगा।

मिल के मजदूरों को किसी ने आकर सूचना दी कि मिल मालिक का देहान्त हो गया। पूछा गया—‘कैसे हुआ? अभी तो स्वस्थ थे।’ बताया गया—‘दिल का दौरा पड़ा और चल बसे।’ एक मजदूर बोला—‘गलत बात है। वह तो एक हृदयहीन आदमी था। उसके तो दिल था ही नहीं, दौरा किसका पड़ा?’

श्रीमद् राजचन्द्र जैसी वृत्ति किसी धार्मिक आदमी में आ जाए तो न फिर कोई किसी का शोषण करेगा, न वर्ग-संघर्ष पैदा होगा। अगर मालिक मजदूर के हितों का खयाल रखेगा तो मजदूर भी मालिक के हितों की अनदेखी नहीं करेगा। इस बात को ठीक से शायद समझा नहीं गया। समझा गया होता तो जापान की-सी स्थिति यहां भी बन जाती। मालिक और मजदूर के संबंधों पर यहां अच्छा खासा प्रशिक्षण चलता है, पूरा एक कोर्स है। मानवीय संबंधों के सुधार की बात समझ में आ जाए तो फिर औद्योगिक जगत् में संघर्ष की नौबत ही नहीं आएगी।

कहां है मानवीय दृष्टिकोण?

भारतीय राजनीति के एक शिखरपुरुष थे डॉ. राममनोहर लोहिया। अपने जीवनकाल में वे एक दिन पूज्य गुरुदेव के पास आए और बोले—‘आचार्यश्री! हिन्दुस्तान में आज इतनी गरीबी और भुखमरी है कि पन्द्रह-बीस करोड़ आदमियों को दो वक्त की रोटी भी नहीं मिल रही है। प्रधानमंत्री पं. नेहरू संसद में जैसा कह रहे हैं, वैसा है नहीं। स्थिति उससे बहुत भिन्न है। मैं निश्चित तौर पर कह रहा हूं कि प्रति व्यक्ति आय हमारे देश में बहुत कम है। सही स्थिति का अंदाजा गांवों में लोगों को निकट से देख कर ही लगाया जा सकता है। आप मुनि नथमल (आचार्य महाप्रज्ञ) को मेरे साथ भेजें। मैं इन्हें हिन्दुस्तान के गांवों में कीड़े-मकोड़ों की तरह बदतर जीवन जी रहे लोगों से साक्षात्कार कराऊंगा।’ डॉ. लोहिया ने देश के गरीबों और मेहनतकशों की जिन्दगी को निकट से देखा था और यही सब देख सुन कर उनका स्वभाव कुछ विद्रोही-सा हो गया था, भाषा कुछ कटु हो गई थी। पूंजीपति और श्रमिकों के संदर्भ में उनका अपना एक स्पष्ट चिन्तन था।

आज उद्योग के क्षेत्र में जो चल रहा है, वह लाभांश का दृष्टिकोण है, मानवीय दृष्टिकोण नहीं है। अगर मानवीय दृष्टिकोण होता तो अरबपति खरबपति न होते, श्रमिक कंगाली का जीवन न जीते, पूंजी का इस तरह केन्द्रीकरण न होता। आज भारत के किसी भी बड़े शहर को देख लीजिए, हमने तो अच्छी तरह देखा है—एक तरफ पन्द्रह-बीस मंजिली इमारतें, दूसरी ओर झाड़-झंखाड़-सी बेतरतीब उगी हुई झुग्गी-झोंपड़ियां। मिलों और कारखानों में जो करोड़ों का उत्पादन रोज कर रहे हैं, उनके रहन-सहन को देखें तो नरक की याद आ जाएगी। एक उद्योगपति के लिए किसी शादी या ऐसे ही समारोह में चार-पांच करोड़ रुपये फूंक डालना मामूली-सी बात है। पचास-पचास लाख या एक करोड़ तो मात्र सजावट पर आज खर्च किए जा रहे हैं। आखिर आया कहां से? निश्चय ही यह खून-पसीना बहाकर की गई कमाई नहीं होती। हां, यह ठीक है कि अवसर मिला, व्यावसायिक बुद्धि मिली है, पास में साधन हैं, उससे



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

इतना अर्जित कर लिया, कर रहे हैं, किन्तु ईमानदारी से सम्यक् विभाजन या संविभाग होता तो श्रमिकों की हालत आज इतनी खस्ता न होती, हिन्दुस्तान भी आज विकसित राष्ट्रों की श्रेणी में होता। चीन और भारत लगभग एक ही समय में स्वतंत्र हुए। फिर भी विकास की दृष्टि से वहां और यहां की स्थिति में आज काफी अंतर है। द्वितीय विश्वयुद्ध में ध्वस्त हो चुके जापान ने इतनी उन्नति कर ली कि आर्थिक दृष्टि से आज वह दुनिया में सिरमौर बना हुआ है। कारण एक ही है कि मानवीय संबंधों पर वहां काफी ध्यान दिया गया।

धर्म का पहला कदम

मानवीय संबंधों की समस्या को सुलझाना है तो करुणा का विकास, संबंधों की मधुरता, मानवीय दृष्टिकोण, प्रामाणिकता, ईमानदारी और बड़ी बात कहूं तो पैसा ही सब कुछ नहीं है—इस सम्यक् दृष्टिकोण का विकास करना होगा। सौभाग्य कहें या दुर्भाग्य, आज के आदमी की मानसिकता ही कुछ ऐसी बनी है कि उसके लिए पैसा ही सब कुछ है। जब तक यह दृष्टिकोण रहेगा, नैतिकता की बात सोची भी नहीं जा सकेगी। अगर दृष्टिकोण में परिवर्तन आ सके तो भारत में भी अच्छा औद्योगिक विकास हो सकता है। प्रश्न है आए कैसे? धर्म के संबंध में धारणा ही जब बदल गई, नैतिकता के मानदण्ड ही जब बदल गए तो परिवर्तन आए कैसे?

पूज्य गुरुदेव तुलसी द्वारा रचित अणुव्रत गीत का एक पद है—‘धार्मिक है पर नहीं कि नैतिक बहुत बड़ा विस्मय है।’ इस देश में नब्बे करोड़ की आबादी है। इसमें दस-पन्द्रह करोड़ को निकाल दें जो विचारों से नास्तिक हों, धर्म को न मानते हों। अस्सी करोड़ लोग धार्मिक हैं। इनमें से पूर्ण रूप से नैतिक और ईमानदार कितने हैं? पूरे अस्सी करोड़ हैं क्या? क्या विश्वासपूर्वक कोई कह सकता है कि इस देश के अस्सी हजार लोग भी पूरी प्रामाणिकता के साथ अपना जीवन जी रहे हैं, अपने दैनिक जीवन में ईमानदार और नैतिक हैं? नहीं, शायद नहीं। फिर वे धार्मिक कैसे हुए? अगर हुए तो वही दशा होगी कि सूरज तो है, किन्तु प्रकाश नहीं।

धर्म का पहला कदम है नैतिकता। दूसरा कदम उपासना—पूजा-पाठ या दूसरी चीजें हो सकती हैं। पर आज तो स्थिति यह है कि दिन भर अनैतिक काम करो, ठगाई और धोखाधड़ी करो और शाम को साधुओं के किसी ठिकाने में या किसी मंदिर आदि धर्मस्थान में जाकर कीर्तन-भजन कर लो—

प्रभु मोरे अवगुण चित न धरो।
समदरसी है नाम तिहारो, चाहो तो पार करो॥

शाम को ये पंक्तियां दुहराकर प्रायश्चित्त कर लिया और दूसरे दिन सूर्योदय के साथ फिर वही धंधा। जहां इस प्रकार की मनोवृत्ति और धारणा बन जाती है, वहां नैतिकता का स्पर्श भी कैसे हो सकता है?

खतरा है धार्मिकों से

धर्म के सामने आज एक प्रश्नचिह्न है। अगर धार्मिक जगत् ने नैतिकता का परिचय नहीं दिया तो फिर कौन देगा? क्या धर्म को न मानने वाले देंगे? पूज्य गुरुदेव बहुत बार कहते थे—‘आज धर्म को नास्तिक



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

लोगों से जितना खतरा नहीं है, उससे ज्यादा आस्तिक लोगों से है।' वस्तुतः धर्म को न मानने वालों से धर्म को उतना खतरा नहीं है जितना खतरा धार्मिकों से है।

हमारे सामने धर्म का प्रश्न, अध्यात्म का प्रश्न, स्वर्ग और मोक्ष का प्रश्न, कर्म का प्रश्न, कर्म के फलों का प्रश्न है। इन पर हम विश्वास करते हैं तो फिर क्या हमारे सामने पुनर्विचार का प्रश्न नहीं है? पुनर्विचार का प्रश्न है इसीलिए हमने आपके सामने कुछ प्रश्न रखे। मैं विश्वास करता हूँ कि इस पर आप गंभीरता से चिंतन करेंगे। पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी ने धर्म को प्रत्येक क्षेत्र में नये संदर्भों के साथ जोड़ा है। जो व्यक्ति सामाजिक जीवन में दूसरों के साथ नैतिकता का व्यवहार नहीं करता, उसे धार्मिक कहने में हर किसी को संकोच होगा। इन सब बातों पर चिन्तन-मनन होगा तो निश्चय ही इससे कोई नयी बात प्रस्फुटित होगी जो सभी के लिए प्रकाश-स्तम्भ साबित होगी।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत



व्यापार और नैतिकता

मनोविज्ञान का एक शब्द है खंडित व्यक्तित्व, 'डिवाइडेड परसनैलिटी' यानी अखण्ड व्यक्तित्व नहीं है। दूसरा एक शब्द आता है—ड्युअल परसनैलिटी—दोहरा व्यक्तित्व। ये दोनों शब्द वर्तमान जीवन की व्याख्या करने के लिए पर्याप्त हैं—खंडित व्यक्तित्व और दोहरा व्यक्तित्व। एक भी व्यक्तित्व समग्रता के साथ नहीं है, टूटा-फूटा है, खण्ड-खण्ड है। दोहरा है, एक रूप नहीं है। आगे का रूप अलग और पीछे का रूप अलग। घर का रूप अलग और ऑफिस का रूप अलग। ऐसा क्यों हुआ है? शायद बहुत लोग जानते हैं कि वर्तमान की जो मानसिकता है, वह केवल व्यापार के साथ ही नहीं है। सभी क्षेत्रों में है। आज एक भाई ने बताया—टिकट बनवाने गया तो अस्सी रुपये टिकट के लगे और पचहत्तर रुपये रिश्वत के। चाहे राज्य कर्मचारी हों, डॉक्टर या व्यापारी—समाज का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं जिसके साथ हम नैतिक शब्द का प्रयोग कर सकें, नैतिकता को जोड़ सकें।

मोह या महामोह

समाज का मूल आधार बनता है नैतिकता। जहां नैतिकता नहीं, वहां एक सभ्य समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वह एक लड़खड़ाता-सा समाज होगा, जहां नैतिकता नहीं होगी। समाज में अनेक व्यक्ति होते हैं। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ कैसा व्यवहार करे, वहां नैतिकता का प्रश्न आता है। व्यक्ति अपेक्षा रखता है कि मेरे साथ अन्य व्यक्ति ईमानदारी के साथ व्यवहार करे। वह स्वयं करे या न करे, अपेक्षा दूसरों से ऐसी रखता है कि उसके साथ दूसरा ईमानदारी और भलमनसाहत का व्यवहार करे। एक व्यक्ति मिलावट करता है। अपनी दुकान में बिकने वाली हर चीज में मिलावट करता है, किन्तु वही व्यक्ति जब दूध लेने के लिए ग्वाले के पास जाता है, दूध में पानी मिला देखता है तो माथा पकड़ कर कहता है—'कैसा कलियुग आ गया, दूध भी अब शुद्ध नहीं मिलता।' यानी दूसरा व्यक्ति जब उसके साथ

ईमानदारी का व्यवहार नहीं करता, वहां उसके सिरदर्द होता है। अपनी दुकान में बैठ कर आराम से जब वह मिलावट करता है तब सब भूल जाता है। यह मोह है या महामोह, इसे क्या कहा जाए?

पैसे का मोह

व्यक्ति के मन में आज पैसे के प्रति अतिरिक्त मोह जाग गया है। मैं मानता हूं कि पैसा सामाजिक प्राणी के लिए आवश्यक है। इसके बिना जीवन की यात्रा नहीं चलती। पैसे के बिना न वस्त्र मिलता है, न भोजन, न मकान और न शिक्षा। इन सबके लिए पैसा जरूरी है, किन्तु जब पैसा ही सब कुछ बन जाता है, साधन न रह कर साध्य बन जाता है तब अनैतिकता को खुल कर खेलने का मौका मिलता है। आज तो ऐसा लगता है कि सारी धारणा बदल गई है और आदमी के लिए पैसा ही सब कुछ हो गया है। पैसे के सिवाय और कुछ उसके चिंतन में ही नहीं है। जहां पैसे का सवाल आता है, वहां उसके लिए नैतिकता और अनैतिकता का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। जब-जब समाज में इस प्रकार की सोच बनती है, समाज टूटता है, खराब होता है, नीचे की ओर जाता है और ऐसा समय भी आता है कि वह रक्त-क्रांति की स्थिति में चला जाता है।

उदाहरण दोहरे व्यक्तित्व का

समाज की शृंखला ठीक चले, समाज उन्नति की दिशा में आगे बढ़े, यह तभी संभव है जब नैतिकता की दिशा में समाज अग्रसर हो, एक आदमी दूसरे के साथ ईमानदारी का व्यवहार करे, एक आदमी दूसरे आदमी को धोखा न दे, छलना न करे, प्रवंचना न करे, किन्तु विश्वासपूर्ण व्यवहार करे। इन बातों को लोग जानते तो हैं, किन्तु दोहरी मानसिकता के कारण वैसा हो नहीं पा रहा है।

एक बच्चे से किसी ने पूछा—‘बताओ, सूरज घूमता है या पृथ्वी घूमती है?’

बच्चा बोला—‘जब घर में होता हूं तब सूरज घूमता है और जब स्कूल में होता हूं तब पृथ्वी घूमती है।’
‘ऐसा कैसे कहते हो तुम?’

‘मेरे मास्टर जी ने बताया—पृथ्वी घूमती है, सूरज स्थिर है। मैं घर पर गया और इस बात को दोहराना शुरू किया तो मेरे पापा ने कहा—तुम गलत पाठ याद कर रहे हो। सही यह है कि सूरज घूमता है, पृथ्वी अपने स्थान पर स्थिर है। स्कूल में पिताजी द्वारा बताए पाठ को दोहराया तो मास्टरजी ने डांटा कि तुम गलत बोल रहे हो। इसलिए अब मेरे लिए स्कूल में पृथ्वी घूमती है और घर में सूरज घूमता है।’

दोहरे व्यक्तित्व का यह एक सुन्दर उदाहरण है।

कौन धार्मिक : कौन अधार्मिक ?

कुछ ऐसा ही व्यक्तित्व बन गया है आज के आदमी का। एक व्यक्ति अपने आपको धार्मिक मानता है। घर में उसका एक प्रकार का व्यवहार होता है और वही व्यक्ति दुकान में, ऑफिस में जाता है तो उसका व्यवहार दूसरा हो जाता है। पहचाना भी नहीं जा सकता कि यह वही व्यक्ति है, जो अभी घर में मिला था। जब धर्मस्थान में होता है तो धर्म की उपासना इतनी तल्लीनता और भक्ति से करता है कि देखने वाला देखता रह जाता है। बिल्कुल शान्त, शुद्ध और पवित्र रूप सामने आता है उसका और वही



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

व्यक्ति जब दुकान में जाकर बैठता है या ऑफिस में बैठता है तो उसका ऐसा रूप सामने आता है कि कल्पना भी नहीं की जा सकती। धर्मस्थान में भगवान की पूजा और दुकान में पैसे की पूजा। इस प्रकार के दोहरे व्यक्तित्व ने व्यक्ति को इतना भ्रान्त बना दिया कि आज धार्मिक और अधार्मिक के बीच में कोई भेदरेखा खींचना भी मुश्किल हो गया है। कौन धार्मिक और कौन अधार्मिक—इसकी कोई स्पष्ट पहचान ही नहीं रह गई है।

दोहरी मानसिकता

प्रत्येक व्यक्ति जो धर्म में आस्था रखता है, धर्म में विश्वास रखता है, वह इस बात को मानता है कि मरने के बाद भी दूसरा जन्म होगा और वह जन्म वैसा ही होगा, जैसा कर्म किया जाएगा। अच्छे कर्म का फल अच्छा मिलेगा और बुरे कर्म का फल बुरा मिलेगा। वह अच्छा या बुरा फल यहां मिले या अगले जन्म में, किन्तु मिलेगा जरूर, यह उसकी मान्यता है। कृतकर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलेगा, इस बात को वह बहुत अच्छी तरह से जानता है, मानता है, फिर भी करता है, क्योंकि वह दोहरी मानसिकता का शिकार है। धर्म के बारे में कुछ ऐसी धारणा बन गई कि धर्म तो धर्मस्थान में करने की चीज है, दुकान और ऑफिस में तो गृहस्थ-धर्म का ही पालन होगा। कई लोगों से पूछा—‘मैंने सुना है कि तुम ऐसा करते हो?’ यही उत्तर मिला—‘महाराज! हम तो गृहस्थ हैं, इतना तो करना ही पड़ता है।’ कितना सुन्दर बहाना मिल गया है।

विरोधाभास

एक विद्वान व्यक्ति ने चर्चा के दौरान हमसे कहा—‘आप इतनी अपेक्षा रखते हैं हमसे, हम कोई साधु थोड़े ही बन गए हैं?’ यानी गृहस्थी में जैसे सब कुछ करने की छूट मिल गई है। इस तरह की दोहरी मानसिकता ने ऐसे मानदण्ड निर्धारित कर दिए कि धर्मस्थान में एक प्रकार का जीवन और कर्मस्थान में दूसरे प्रकार का जीवन। जबकि धर्म होना चाहिए आदमी के संपूर्ण जीवन में।

अणुव्रत आंदोलन ने धर्म के विषय में कुछ भ्रान्तियों को तोड़ा है। सबसे बड़ी भ्रान्ति तो यह टूटी है कि धर्म क्षेत्र-प्रतिबद्ध और काल-प्रतिबद्ध होना चाहिए। इस क्षेत्र-प्रतिबद्धता और काल-प्रतिबद्धता ने धर्म को बहुत पीछे धकेला है। मान लिया गया कि धर्म अमुक क्षेत्र में करने का होता है। धर्म धर्मस्थान में करने की चीज है, उसके बाहर उसका क्या काम? जब प्रवचन पण्डाल या समवसरण में जाएं, मंदिर-मस्जिद में जाएं तो धर्म करेंगे, अभी तो गृहस्थ-धर्म ही चलेगा। इस प्रकार की क्षेत्र-प्रतिबद्धताओं और काल-प्रतिबद्धताओं ने धर्म का स्वरूप भी बिगाड़ा और धार्मिक का स्वरूप भी बिगाड़ा। इससे धार्मिक व्यक्ति के जीवन में एक विरोधाभास-सा आ गया, जो कि नहीं होना चाहिए था।

दुष्कर है संगति और संवादिता की खोज

एक जेलर के पास गृह-मंत्रालय से पत्र आया, जिसमें लिखा था—‘जेल पुरानी हो गई है, छोटी भी पड़ रही है इसलिए नयी जेल का निर्माण करना है।’ दो-चार दिन बाद दूसरा पत्र मिला—‘जब नयी जेल का निर्माण किया जाए तो उसमें पुरानी जेल के मेटेरियल को ही इस्तेमाल करना है, ईंटें उसमें पुरानी जेल की



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

ही लगेंगी।' कुछ दिनों बाद तीसरा पत्र मिला—'जब तक नयी जेल न बन जाए, पुरानी जेल को नहीं तोड़ना है।' कैसे क्रियान्विति हो सकती है ऐसे आदेश की।

आज आदमी के जीवन में कुछ ऐसी ही विसंगति और विरोधाभास है। हर आदमी ऐसी ही विसंगति में जी रहा है, जिसमें संगति और संवादिता को खोजना बहुत दुष्कर है। एक सूत्र था नैतिकता का धर्म। विश्वास था लोगों को कि धर्म व्यक्ति के जीवन में नैतिकता ला सकता है और धर्म ही नैतिकता को चला सकता है। अब जब धर्म के बारे में ही भ्रान्त धारणाएं बन जाएं फिर कौन है उबारने वाला ?

धर्म का मूल आधार

मैं स्पष्ट कहता हूं आज किसी भी व्यक्ति को धार्मिक कहने से पूर्व बहुत सोचने की जरूरत है। यकायक किसी को धार्मिक कह देना बहुत कठिन काम है। केवल पूजा-पाठ, मंत्र जप के आधार पर किसी को धार्मिक मान लिया गया तो बड़ा धोखा हो सकता है, वंचना हो सकती है। क्योंकि धर्म का मूल आधार रहा आचरण। मनुस्मृति में कहा गया—'आचारः प्रथमो धर्मः'—आचार प्रथम धर्म है। हिन्दुस्तान में एक समय आचार की बड़ी प्रतिष्ठा थी। बड़ा मूल्य दिया गया था इसे। चीनी यात्री ह्वेनसांग और फाह्यान आदि ने हिन्दुस्तान का वर्णन इन शब्दों में किया है—'यहां सत्य बहुत चलता है, बड़ी प्रतिष्ठा है सत्य की। ईमानदारी यहां हर व्यक्ति के मन-मस्तिष्क में बसी है। व्यापार में ज्यादा लिखा-पढ़ी की जरूरत नहीं है, सब मौखिक चलता है। हर आदमी एक दूसरे पर पूर्ण विश्वास करता है। जो कह दिया उसका स्वप्न में भी भंग नहीं होता। अभय का ऐसा साम्राज्य कि दरवाजों पर ताले नहीं लगाए जाते, मकान दिन-रात खुले रहते हैं।'

वर्तमान स्थिति

उस समय के हिन्दुस्तान से आज के हिन्दुस्तान की तुलना करें तो जमीन-आसमान का अन्तर दिखेगा। एक रात अपने मकान में ताला न लगाने का प्रयोग आज कोई करे तो दूसरे दिन मैदान साफ मिलेगा, फिर शायद सचमुच ताला लगाने की जरूरत नहीं पड़ेगी। व्यापार में मौखिक रूप से सब कुछ करने का परीक्षण कोई करके देख ले। कैसे भट्टा बैठता है मालूम हो जाएगा। आज तो लिखी बात से भी मुकर जाते हैं लोग।

एक भाई ने बताया—'किसी ने मुसीबत के समय व्यापार जमाने के लिए एक लाख रुपये मांगे। मैंने उस पर विश्वास करके दे दिये, साथ ही एक रुक्का भी लिखवा लिया। जब कुछ दिन बाद रुपये लौटाने की बात कही तो वह इनकार के स्वर में बोला—'किस रुपए की बात कर रहे हैं, मैंने तो आपसे कोई रुपये नहीं लिए।' आखिर मामला कोर्ट में गया। सबूत के तौर पर उसका लिखा हुआ रुक्का पेश किया गया तो उसने कहा—'मैंने रुपये मांगते समय इनके कहे अनुसार पहले लिख कर दे दिया था। किन्तु रुक्का लिखने के बाद उन्होंने मुझे रुपये दिये नहीं, मेरा रुक्का भी मुझे वापस नहीं किया।'

यह हाल है आज के समय का। ऐसे में नैतिकता की बात कहां तक की जाए? ऐसे माहौल में नैतिकता की बात उसके साथ मखौल करने जैसी लगती है। जब कुएं में ही अनैतिकता की भांग घुल गई हो तो किस-किस से नैतिक बनने की अपेक्षा की जाए? यहां इस बात को अच्छी तरह जान लें कि अनैतिकता केवल



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

व्यापार के साथ ही नहीं जुड़ी है। कोई भी वर्ग या समुदाय अकेला अनैतिक हो नहीं सकता। पूरे समाज में जब अनैतिकता का चक्र चलता है तो फिर कोई अछूता नहीं रहता, चाहे वह व्यापारी हो या कर्मचारी। अगर एक वर्ग समाज का प्रदूषित हो गया, उसमें विकृति आ गई तो फिर वह विकृति केवल उसी तक सीमित नहीं रहेगी। यह तो एक छूत का रोग है। यह धीरे-धीरे अपने चक्रव्यूह में पूरे समाज को जकड़ लेगा।

आखिर आया कहां से?

इस गिरफ्त से, इस जाल से मुक्त होने और मुक्त करने का साहस व्यक्ति में जागे। एक प्रबल इच्छा-शक्ति नैतिक बनने और नैतिक बनाने की जगे, तभी कुछ सुधार होने की संभावना बन सकती है। एक आदमी अपने किसी अत्यन्त नजदीकी व्यक्ति को अस्पताल में भर्ती कराने ले गया। हालत सीरियस थी उसकी। वहां पता चला कि स्थान खाली नहीं है अस्पताल में। आखिर अधिकारियों की यथेष्ट पूजा अर्चना कर दी गई, तो स्थान भी तुरंत मिल गया। शिक्षा और स्वास्थ्य तो अनिवार्य सेवाएं हैं। यात्रा भी कभी-कभी अनिवार्य हो जाती है। किन्तु कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं दिखाई देता जहां विश्वासपूर्वक कहा जा सके कि वहां पूर्ण रूप से नैतिकता के आधार पर काम हो रहा है। सार्वजनिक जीवन में ऐसे कई लोगों को हम आप अच्छी तरह जानते हैं कि कुछ वर्ष पहले वे कितनी विपन्न हालत में थे और अपने राजनीतिक दांवपेंच से वे आज आलीशान कोठियों में राजा-महाराजा का-सा जीवन जी रहे हैं। सवाल किसी की प्रगति का नहीं है। सवाल यह है कि क्या नैतिकता और ईमानदारी से यह प्रगति की गई है? स्वर्ण वर्षा तो आकाश से हुई नहीं। आखिर आया कहां से? राजनीति में ऐसे कितनों का उद्धार हुआ है। यह कोई एक-दो-चार की बात नहीं है।

व्यापार के साथ अनिवार्य है नैतिकता

हम पूरी स्थिति का विश्लेषण करें तो पाएंगे कि पूरे समाज में एक ऐसा चक्र चल रहा है अनैतिकता का कि कोई किसी को दोष नहीं दे सकता। सभी मौन हैं। कोई भी एक दूसरे को कुछ कहने की स्थिति में नहीं है। फिर हम केवल व्यापार और व्यापारियों की बात क्यों करें? समाज में व्यापार का वही स्थान है जो आदमी के जीवन में उसकी रीढ़ का। सारा जीवन व्यापार से चलता है। अगर राजकर्मचारी न हों तो भी शायद काम चल जाएगा। कुछ क्षणों के लिए मान लें कि शिक्षा न हो तो भी काम चल जाएगा, किन्तु व्यापार अगर एक दिन भी न हो तो जीवन नहीं चलेगा। जीवन के लिए अनिवार्य सारी वस्तुएं व्यापार के द्वारा ही उपलब्ध होती हैं। अगर ऐसे क्षेत्र में गड़बड़ियां होती हैं तो काफी कठिन बात हो जाती है। इसलिए व्यापार के साथ नैतिकता अनिवार्य रूप से आ जाती है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

क्रूर व्यवहार न करें

नैतिकता की परिभाषा तो बहुत लंबी-चौड़ी है, मैं उस बात को छोड़ देता हूं। अणुव्रत के मंच से इस पर बहुत लम्बी चर्चाएं भी चली हैं। दिल्ली में ऐसे सम्मेलन आयोजित हुए, जिनमें वाणिज्य मंत्री, खाद्य मंत्री आदि भी उपस्थित थे। उस चर्चा में एक बात मुख्य रूप से उभर कर सामने आई कि आखिर नैतिकता की सीमा क्या हो? व्यापारियों ने अपनी बात रखते हुए कहा—‘हमारी दुकान में तरह-तरह की खाद्य सामग्री होती है। सरकारी विभाग के निरीक्षक आते हैं। उन वस्तुओं के नमूने लेकर प्रयोगशाला में भेजते हैं। अब

सॉट में उनको निर्धारित परसेंटेज नहीं मिलता तो उसके लिए हम दोषी कैसे हो सकते हैं? इन वस्तुओं का हम उत्पादन तो नहीं करते। जिन वस्तुओं का हम उत्पादन नहीं करते, उनमें आवश्यक मात्रा में गुण धर्म के लिए हम कैसे जिम्मेदार ठहराए जा सकते हैं?’ उनकी बात कुछ अंशों में सही थी। आखिर उस चर्चा में यह निश्चित हुआ कि और सब बातों को छोड़ दिया जाए, इतना ही ध्यान रहे कि क्रूरता के साथ व्यापार न किया जाए, क्रूर व्यवहार किसी के साथ न करें। न ग्राहक के साथ, न व्यापारी के साथ। अगर नैतिकता को हम किसी भाषा में बांधें तो कहा जा सकता है—एक आदमी दूसरे आदमी के साथ क्रूर व्यवहार न करे। धर्म का पहला सूत्र ही है करुणा, मृदुता, अनुकंपा, कोमल व्यवहार। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ करुणा, दया और मृदुता का व्यवहार करे तो इससे बड़ा नैतिक कार्य और क्या होगा?

परिणाम को भी देखें

अपने को धार्मिक कहने से पूर्व हमें अपनी क्रूरता को समाप्त करना है। भगवान् महावीर ने सम्यक् दृष्टि के पांच लक्षण बतलाए हैं—शम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य। चौथा लक्षण है अनुकंपा। कर्म बंध की कितनी ही घटनाएं जुड़ी हैं इस दया और अनुकंपा के साथ। कर्म का बंध होते समय आदमी को उसका भान नहीं होता, किन्तु जब उदय में आता है तब पश्चात्ताप के सिवा और कुछ हाथ में नहीं होता। हर क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। कर्म का भी प्रतिफलन होगा, इस बात पर निरंतर ध्यान रहे तो फिर आचरण में ऐसा कुछ नहीं होगा, जिसे बुरा या खराब कहा जाए। कुछ भी करने से पूर्व उसके परिणाम की बात ध्यान में रहनी चाहिए। मुश्किल यही है कि हम केवल वर्तमान का हित देखते हैं, भविष्य में उसके परिणाम की बात नहीं सोच पाते।

भारतीय दर्शन का यह मूल तत्त्व रहा कि केवल प्रवृत्ति को मत देखो, साथ-साथ परिणाम को भी देखो कि परिणाम क्या होगा? एक हाथ में प्रवृत्ति तो दूसरे हाथ में परिणाम। हमारी दायीं आंख में प्रवृत्ति है तो बायीं आंख में परिणाम का दर्शन भी होना चाहिए। औरों की बात छोड़ें, आज के वैज्ञानिक, जो बहुत सारी चीजों का आविष्कार करते हैं, वे वर्तमान की प्रवृत्ति पर ध्यान ज्यादा देते हैं, परिणाम पर ध्यान कम देते हैं। उत्पादन बढ़ाने के लिए कृत्रिम रसायन बना दिए किन्तु उन रसायनों से होने वाले परिणामों की कल्पना भी नहीं की। परिणाम तो वही हो रहा है जो होना चाहिए। भरपूर पैदावार की लालच में किसान अब उर्वरकों के इस्तेमाल को छोड़ नहीं सकता और उन रसायनों और उर्वरकों से होने वाली हानि से बचा भी नहीं जा सकता। अब डॉक्टर और वैज्ञानिक स्वयं ही कह रहे हैं—उर्वरकों और कीटनाशकों के प्रयोग से खाद्यान्नों में ऐसे विषैले तत्वों का समावेश हो रहा है कि भयंकर शारीरिक हानियों से बचा नहीं जा सकता। इंग्लैण्ड से एक व्यक्ति का पत्र मिला, उसने रासायनिक खाद के प्रयोग को स्वास्थ्य के लिए अत्यंत हानिकारक बताते हुए लिखा था—‘हिन्दुस्तान में गोबर की खाद खेती में प्रयुक्त होती थी। अब ऐसा बहुत कम हो रहा है। गोबर की खाद से उत्पन्न गेहूं और चावल जितना भी भेज सकें मैं खरीदने को तैयार हूं।’

कमी है दीर्घकालीन सोच की

व्यापार जगत् में दो शब्द बहुत प्रचलित हैं—लॉग टर्म और शार्ट टर्म। यानी दीर्घकालीन नीति और अल्पकालीन नीति। जो अल्पकालीन हितों की दृष्टि से सोचता है, वह व्यापार में ईमानदार नहीं रह सकता



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

और परिणामस्वरूप घाटे में रहता है। समाचार-पत्रों में पढ़ा-रूस से जूतों के निर्यात का एक अनुबंध हमारे देश की कंपनी से हुआ, पहली ही खेप पहुंचने के बाद वहां की कंपनी ने सौदा रद्द कर दिया, क्योंकि जूतों की क्वालिटी बहुत घटिया थी। अब घाटा किसे हुआ? इस संबंध में व्यापारी लोग हमसे कहीं ज्यादा जानते हैं, इसलिए इस संदर्भ में कुछ ज्यादा कहने की अपेक्षा नहीं।

आज एक बात की कमी मैं सबसे ज्यादा महसूस करता हूं, वह है दीर्घकालीन सोच। दीर्घकालीन सोच बनेगी तो परिणाम कभी घाटे का नहीं होगा। वह व्यापार कहीं ज्यादा लाभकारी और अच्छा चलेगा, जिसमें ईमानदारी को प्रमुखता दी जाएगी। बालोतरा और कुछ दूसरी जगहों के कुछ भाइयों ने बताया—‘जब हमने प्रामाणिकता का व्रत लिया तो एक बार तो हमारे सामने कठिनाइयों का अंबार लग गया। लगा कि इस तरह तो व्यापार हो ही नहीं सकेगा। किन्तु कुछ दिनों के बाद साख कुछ ऐसी जम गई कि ग्राहकों का तांता लग गया। हमारी दुकान बन्द होती तो लोग प्रतीक्षा करते, किन्तु दूसरी जगह से नहीं खरीदते। परिणाम यह हुआ कि हमें एक नहीं, कई दुकानें खोलनी पड़ीं।

अपेक्षित है गहराई से चिन्तन

भरोसा और विश्वास बहुत बड़ी चीज है। यह पूंजी जिसके पास है, उसे कभी कोई अभाव नहीं रहेगा। जितना कठिन है आज के युग में ईमानदार और नैतिक होना, उतना ही कठिन है इस पूंजी को दीर्घकाल तक सुरक्षित रखना। देखा जाता है कि कुछ लोग प्रयत्नपूर्वक ईमानदारी के रास्ते पर चलते हैं और जब गाड़ी गति पकड़ लेती है, अच्छी साख जमा लेते हैं, तो फिसलना शुरू हो जाते हैं। अपेक्षा है इस पर गहराई से चिन्तन की।

केवल व्यापारी वर्ग का ही विषय नहीं है प्रामाणिकता, समाज के हर वर्ग के लिए यह अपेक्षित है कि अनैतिकता और अप्रामाणिकता के इस व्यूह को तोड़ें। ऐसा नहीं हो कि अकेला अभिमन्यु भीतर जाए और मारा जाए। वह इस चक्रव्यूह को भेद कर बाहर आए। सभी इस पर चिंतन करें कि नैतिकता कैसे बहाल हो? जीवन में ईमानदारी कैसे आए? यह दूसरों के लिए नहीं, स्वयं व्यक्ति के लिए आवश्यक है। धर्म की सुरक्षा के लिए भी यह जरूरी है।

धार्मिक और धर्म का अनुयायी—ये दो बातें हैं। धार्मिक व्यक्ति कभी अनैतिकता का व्यवहार नहीं करेगा, अनुयायी तो सब कुछ कर लेगा। अनुयायी के लिए तो जैसे कोई मर्यादा ही नहीं होती। हर धर्म के करोड़ों लोग अनुयायी हैं तो क्या वे सभी धार्मिक हैं? आप क्या चाहते हैं? क्या आप मात्र अनुयायी बने रहना चाहते हैं या धार्मिक बनना चाहते हैं? यह मैं आपके चिन्तन पर छोड़ता हूँ।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत



वितरण और नैतिकता

समस्याएं दो प्रकार की होती हैं। एक दार्शनिक समस्या होती है और दूसरी तथ्यात्मक। वितरण की समस्या कोई दार्शनिक समस्या नहीं है, यह तथ्यपरक समस्या है। जो आज का सबसे ज्यादा प्रचलित शब्द है शोषण, वह वितरण-विनिमय के संदर्भ में है। प्राचीनकाल में था कि जो मजदूरी करता, उसको स्वेच्छा से जो कुछ देना होता, दे दिया जाता था। एकरूपता या इस संबंध में कोई नियम जैसा कुछ नहीं था। जो दिया जाता, वह लेने वाले के लिए इसलिए पर्याप्त होता कि उस समय वस्तुएं सुलभ थीं, सिक्का या मुद्रा दुर्लभ थी। नाम मात्र की मुद्रा से पूरे परिवार का काम चल जाता था। इसीलिए उस समय की यह व्यवस्था कोई समस्या नहीं बनी समाज की। छह दमड़ी या दाम मिलते तो उसमें से एक दमड़ी से ही एक दिन का पूरा खर्च चल जाता था। शेष कोश में, अभिभावक को और दान में चला जाता था। आज के समय में भी अगर उसी तरह काम चलता तो कोई समस्या नहीं होती। किन्तु आबादी बढ़ने के साथ-साथ वस्तुएं या जीवन-निर्वाह के साधन कम पड़ते गए। मांग के अनुरूप पूर्ति न हो सकने के कारण मूल्य बढ़ते गए और आज स्थिति यह हो गई कि सिक्का या मुद्रा मुख्य बन गई और वस्तुएं गौण हो गईं। ऐसी स्थिति में समस्याओं का पैदा होना अस्वाभाविक नहीं है।

पहले था आवश्यकता के अनुसार मूल्य। यह उपयुक्त नहीं हुई तो व्यवस्था चली—काम के अनुसार दाम। जितना श्रम, उतना दाम। यह भी उपयुक्त नहीं माना गया। स्वयं गांधीजी ने कहा—‘यह तो जड़ता का सिद्धान्त है।’ एक व्यक्ति अपने परिवार में अकेला कमाने वाला है और खाने वाले पांच हैं तो यह सिद्धान्त व्यावहारिक कैसे कहा जाएगा? फिर यह सिद्धान्त चला—आवश्यकता पूरी हो सके, उतना दाम अवश्य मिले। समाजवादी विचारधारा के आने पर सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ—जैसे-जैसे उत्पादन बढ़े, वैसे-वैसे मजदूरी भी बढ़े। फलस्वरूप फैक्ट्री के एक प्रबंधक को आठ हजार से दस हजार रुपए तक मिलने लगे। जो मस्तिष्क का काम करते उन्हें कम और जो शारीरिक काम करते उन्हें ज्यादा मिलने लगा। यह भी ठीक से जंचा नहीं और वितरण की सारी व्यवस्थाएं इस तरह लड़खड़ाती-सी चलती रहीं।

एक किसान अन्न का उत्पादन करता है, किन्तु उसको अपने उत्पाद का उचित मूल्य नहीं मिल पाता, बिचौलियों के द्वारा उसका शोषण होता है। ये बिचौलिये किसान से सस्ता खरीदते हैं और बाजार में उसे महंगे दाम पर बेच कर बिना श्रम किये अधिकाधिक मुनाफा कमाते हैं। सोचा गया—किसान और व्यापारी में सीधा संपर्क बने और बीच में दलाली खत्म की जाए। उत्पादक और उपभोक्ता के बीच में जो संबंध है, वह डाइरेक्ट नहीं होता है तो कीमतें बढ़ती हैं। दो रुपये किलो के भाव से खरीदी गई वस्तु उपभोक्ता तक पहुंचते-पहुंचते आठ या दस रुपये किलो की हो जाती है। ऐसी स्थिति में उत्पादक का सबसे ज्यादा शोषण होता है।

इन सारे प्रश्नों को लेकर एक जटिल समस्या आर्थिक क्षेत्र में आज चल रही है। कोई भी सर्वसम्मत मार्ग खोजा नहीं जा सका है। बड़े और विकसित राष्ट्रों में जो संघर्ष चलता है, वह सारा वितरण को लेकर ही है। डालर और पौण्ड्स के मूल्यों में उतार-चढ़ाव इसीलिए आते रहते हैं।

इस संदर्भ में यदि हम अहिंसक समाज की अर्थ-व्यवस्था के बारे में चिंतन करें तो एक समीकरण यह बन सकता है कि उत्पादक, वितरक और उपभोक्ता—इन तीनों के बीच में इतना असंतुलन न हो कि इससे क्रूरता, शोषण और किसान के भोलेपन का कोई अनुचित लाभ उठा सके। एक अनपढ़ अशिक्षित ग्रामीण की तुलना में एक बुद्धिमान व्यक्ति में व्यावसायिक क्षमता कहीं ज्यादा होती है। व्यापारिक बुद्धि के व्यक्ति को सीधे-सादे कृषक से अनुचित लाभ उठाने से रोका कैसे जाए। अगर रोका जाता है तो समाज का हित आड़े आता है। राष्ट्रकवि दिनकर जी दिल्ली में पूज्य गुरुदेव से मिले। बोले—‘आप लोग ये जो अणुव्रत की बात कर रहे हैं, समाज का अहित कर रहे हैं।’

मैंने पूछा—‘यह कैसे?’

वे बोले—‘आप कहते हैं अपरिग्रह करो। अब जिनमें व्यावसायिक क्षमता है, वे सारे लोग अपरिग्रह का सूत्र अपना लेंगे तो समाज गरीब नहीं रह जाएगा, उसका आर्थिक विकास कैसे होगा?’

मैंने उन्हें बताया कि हम किसी से यह नहीं कहते कि अर्जन मत करो, हम तो यह कहते हैं—गलत साधनों से अर्जन मत करो। व्यक्तिगत संग्रह असीम मत रखो।

जिसमें व्यावसायिक क्षमता है, उसे रोका नहीं जा सकता, रोकना भी नहीं चाहिए। ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त में भी यह आया कि जिसमें क्षमता है वह अर्जन करे, अधिकाधिक कमाए, किन्तु उसे राष्ट्र-हित में लगाए। सिद्धान्ततः यह बहुत अच्छी बात है। अणुव्रत के संदर्भ में यह आया कि अर्जन के साथ विसर्जन भी हो। विसर्जन की धारणा बलवती बनेगी तो फिर अर्जन करने वाला साधन-शुद्धि का विचार भी रखेगा। वितरण के सिद्धान्त में साधन-शुद्धि के विवेक की बात प्रमुखता लिए हुए है। अगर ऐसा होता है तो शोषण पर रोक लगेगी और असमान वितरण की समस्या भी बहुत हद तक समाहित होगी। समानता का अर्थ यह नहीं कि हर व्यक्ति करोड़पति या लखपति हो। समानता को इस बिन्दु पर ही केन्द्रित करना पड़ेगा और किया भी गया है, करना ही होगा कि कम-से-कम जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएं पूरी हो सकें तो वह समान वितरण की प्रणाली या व्यवस्था मानी जाएगी। रही बात न्यूनतम की सीमा की तो उसके लिए कोई निश्चित सीमा तो बांधी नहीं जा सकती।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

10

अनैतिकता का कारण : गरीबी या आंतरिक दोष ?

सब लोग यह अनुभव करते हैं कि अनैतिकता बहुत है, नैतिकता नहीं आ रही है। क्यों नहीं आ रही है? अनैतिकता का जीवन क्यों विकसित होता जा रहा है? यह द्रौपदी का चीर क्यों नहीं सिमट रहा है? कारण क्या है? हिन्दुस्तान की अनैतिकता की समस्या का कारण क्या गरीबी है? या व्यवस्था की कोई त्रुटि है? राजनीतिक प्रणाली में कोई ऐसी त्रुटि है जिससे ऐसा हो रहा है या हमारी चेतना में कोई त्रुटि है जिससे हमारी सामाजिक चेतना का कोई विकास नहीं हो रहा है या धर्म की कोई त्रुटि है जिससे हमारी धार्मिक आध्यात्मिक चेतना का विकास नहीं हो रहा है। कहीं खामी तो जरूर है।

पहले गरीबी मिटे या अनैतिकता ?

एक प्रश्न है कि पहले गरीबी मिटे या अनैतिकता मिटे। बड़ा कठिन प्रश्न है गरीबी का और अनैतिकता का। तर्कशास्त्र में एक सम्बन्ध का नाम है अन्योन्याश्रय सम्बन्ध। क्या गरीबी या अनैतिकता में कोई अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है?

किसी से पूछा गया—‘यह घोड़ा किसका है?’

उत्तर मिला—‘जिसका मैं नौकर हूँ।’

‘तुम किसके नौकर हो?’

‘जिसका यह घोड़ा है।’

निर्णय कुछ भी नहीं निकला। ऐसी अनिर्णीत स्थिति चल रही है कि निर्णय की स्थिति तक हम पहुंच ही नहीं पा रहे हैं। अगर हम यह प्रतीक्षा करें कि गरीबी मिटेगी और बाद में अनैतिकता मिट जाएगी तो

यह एक बहुत बड़ी भूल होगी। क्या जो राष्ट्र विकसित हो गए, वहां अनैतिकता नहीं है? बहुत है। छोटी अनैतिकता कम, किन्तु बड़ी अनैतिकता वहां भी बहुत ज्यादा है। राजस्थानी में कहावत है—‘बड़ी रात का बड़ा तड़का’, तो बड़ी अनैतिकताएं वहां भी बहुत हैं। यह अनैतिकता मनुष्य के साथ जुड़ी हुई बात है। जब तक हमारी चेतना का परिवर्तन नहीं होता तब तक अनैतिकता की समस्या का समाधान हो सके, बहुत कठिन लगता है।

प्रश्न है प्रबल चाह और संकल्प का

आज अणुव्रत के मंच पर नैतिकता और अनैतिकता की चर्चा है तो क्या सचमुच सब लोग चाहते हैं कि अनैतिकता मिटे? मेरे मन में एक प्रश्न है और उसे मैंने प्रस्तुत भी किया था कि सचमुच समाज के मन में अभी यह चाह नहीं जगी है कि अनैतिकता मिटनी चाहिए। हम लोग चर्चा तो बहुत करते हैं, किन्तु क्या कोई ऐसी चाह जगी है, कोई ऐसा संकल्प जगा है कि जीवन में अनैतिकता को नहीं आने देंगे। जब चाह प्रबल हो जाती है तो उसे समाप्त होना होता है। समाज का संकल्प जब बलवान बन जाता है तो स्थिति को बदलना पड़ता है। मैं तो कहता हूं, चाहे आपको अच्छा लगे या बुरा—जो लोग अधिकार पर बैठे हैं, चाहे वह सत्ता का अधिकार हो या पैसे का या धर्म का, उन सबके मन में ऐसी कोई प्रबल संकल्प-शक्ति नहीं जगी है, इतनी प्रबल चाह नहीं जगी है, जिससे अनैतिकता को मिटने का मौका मिले।

यदि ऐसी तड़प जग जाए

एक बहुत बड़ा प्रश्न है। आचार्यश्री ने मेरी बात का समर्थन करते हुए एक घटना सुनाई, बहुत महत्त्वपूर्ण है चाहे उसे कथा समझिए या घटना।

शिष्य ने गुरु से कहा—‘मैं साधना करना चाहता हूं।’

गुरु ने कहा—‘अभी तुम्हारी योग्यता नहीं बनी है।’

‘कैसे नहीं बनी है?’

‘नहीं, अभी नहीं बनी है।’

‘मैं नहीं समझ सका कि अभी कैसे नहीं है’—शिष्य ने कहा।

गुरु ले गए उसे नदी के तट पर और कहा—नदी में स्नान करो। स्नान करने लगा। गुरु पास में खड़े थे, बोले—थोड़ा और आगे चलो। आगे बढ़ा। वहां ले जाकर शिष्य को पानी में डुबोया। जब डूबने लगा, तड़पने लगा और कहा—बचाओ-बचाओ तो गुरु ने गला पकड़कर और गहराई में डुबोया। जब वह अपने बचाव के लिए तड़पते हुए जोर से चिल्लाने लगा तब गुरु ने उसे निकाला। निकालकर उससे कहा—‘जिस समय तू डूब रहा था उस समय क्या बीत रही थी?’

‘प्रभो! और कुछ नहीं, केवल जी जाऊं, इसके सिवाय और कुछ नहीं सूझ रहा था।’

गुरु ने कहा—‘मरते समय जीने की यह प्रबल भावना तेरी तड़प बन गई थी। ऐसी ही तड़प तेरे मन में जागेगी तभी साधना हो सकेगी, अन्यथा संभव नहीं।’



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

मैं आप लोगों से पूछना चाहता हूँ कि क्या किसी भी क्षेत्र में, जो भी महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं और जो समाज का संचालन कर रहे हैं—धर्म का क्षेत्र, राजनीति का क्षेत्र, उद्योग या व्यवसाय का क्षेत्र—इनमें जो लोग बैठे हैं उनमें क्या इतनी तड़प जगी है कि अनैतिकता मिटे? मुझे तो अभी नहीं लग रहा है। इतनी तड़प जग जाए और फिर अनैतिकता न मिट सके, यह कभी नहीं सोचा जा सकता।

व्यवस्था बदलना ही पर्याप्त नहीं

महात्मा चाणक्य के समय में पूरे साम्राज्य को प्रेरणा मिलती थी। आज के संदर्भ में देखें तो हमारे सामने दो प्रश्न आते हैं। आम आदमी का प्रश्न है कि व्यवस्था नहीं बदलती तो फिर हम कैसे बदल सकते हैं? समाज कैसे बदल सकता है? सारा दोष व्यवस्था पर डालकर छुट्टी पा लेते हैं। यानी व्यवस्था बदले, परिस्थिति बदले फिर हम बदलेंगे। पहले नहीं बदलेंगे। किन्तु यह 'न भूतो न भविष्यति'—न ऐसा हुआ है और न होगा कि व्यवस्था बदलने पर आदमी बदल जाए। हमने तो देखा है कि व्यवस्था बदलने पर आदमी बदलता कहां है। सामाजिक प्रणालियों में व्यवस्था बदल गई। समाजवाद या साम्यवाद आ गया, किन्तु वहां भी आदमी नहीं बदला है।

भुला दिया है दूसरा पक्ष

अणुव्रत आंदोलन ने इस बात की ओर इंगित किया कि व्यवस्था का बदलना या केवल बाहर से बदलना कोई पर्याप्त बात नहीं है। आवश्यक तो है, अनिवार्य भी है कि ऐसा होना चाहिए, पर यह पर्याप्त बात नहीं है। हमारी समस्याएं क्यों उलझती जा रही हैं? इसलिए कि समस्याओं को सुलझाने का हमारा दृष्टिकोण एकांगी बन गया। हम केवल बाहर को सुधारना चाहते हैं, केवल बाहर को बदलना चाहते हैं, केवल व्यवस्था और परिस्थिति में परिवर्तन लाना चाहते हैं। किन्तु दूसरा पक्ष हमने बिल्कुल भुला दिया। आदमी का पूरा व्यक्तित्व केवल बाहरी व्यक्तित्व नहीं है। वह भीतर जीता है। सारे विचार भीतर से ही पनपते हैं, उसका चिन्तन और भाव भीतर से पनपता है, बाहर से उद्दीपन मिलता है, बाहर से परिस्थितियां प्रेरित करती हैं, किन्तु पैदा नहीं करतीं। पैदा होना एक बात है और उद्दीपन या उत्तेजना मिलना दूसरी बात है। भाव, व्यवहार और आचरण—ये पैदा होते हैं भीतर में। इसीलिए आज इस बात की अपेक्षा है कि स्थितियों और परिस्थितियों के बदलने के बावजूद एक ओर शस्त्र-तेज और दूसरी ओर ब्रह्म-तेज होना चाहिए। वशिष्ठ ने कहा था—एक ओर चारों वेद और दूसरी ओर धनुष-बाण साथ-साथ चल रहा है। दो शक्तियों के योग की जरूरत है।

कानून और दंड-शक्ति

राज्य-सत्ता और धर्म-सत्ता—दोनों का योग होना चाहिए और इस अर्थ में होना चाहिए कि व्यवस्था का परिवर्तन भी हो और हृदय का परिवर्तन भी हो। महात्मा गांधी ने इस बात को शुरू किया था, किन्तु वह गांधीजी के साथ ही समाप्त हो गई। परिवर्तन की चर्चा तो आज राजनीति के क्षेत्र में बहुत हो रही है और इसके लिए कानून भी बहुत बन रहे हैं। इतने ज्यादा कानून कि आदमी बेचारे उन्हें याद भी नहीं रख पाते। बहुत सारे लोग इसलिए दंडित हो जाते हैं कि कानूनों की भरमार हो गई और वे उसे याद नहीं रख



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

पाते। अच्छा हो कि आदमी के दिमाग के साथ एक कम्प्यूटर जोड़ दिया जाए तब तो कानून याद रह सकता है। फिर भी ठीक चलने का दावा मैं नहीं कर सकता। हां, याद रह सकता है। कानून पर कानून और नियम पर नियम, किन्तु आदमी जैसे का तैसा। योग चाहिए कि आदमी व्यवस्था से भी बदले और भीतर से भी बदले।

आचार्यश्री तुलसी और अणुव्रत के पास कोई डंडा नहीं है, दंड-शक्ति नहीं है, कोई सत्ता नहीं है, और कुछ भी नहीं है। इतने अकिंचन, इतने फकीर कि जिनके पास पैर टिकाने के लिए भूमि भी नहीं। वामन ने पैर टिकाने के लिए तीन डग भूमि मांगी थी। किन्तु यहां तो दो पैर टिकाने के लिए भी भूमि नहीं है। ऐसे अकिंचन से हम आशा करें कि समाज को बदल देंगे, राष्ट्र को बदल देंगे तो कैसे संभव हो सकता है? यह तो उनके लिए संभव है जिनके पास सत्ता है, दंड की शक्ति है, अधिकार है। जो हजारों-हजारों को कारावास में डाल सकते हैं, फांसी की सजा भी दे सकते हैं। अभी-अभी एक भाई ने आचार्यश्री के पास सुझाव भेजा था कि जिन लोगों ने घी में चर्बी मिलाई है उन्हें फांसी की सजा होनी चाहिए। आचार्यश्री ने कहा—मेरे पास तो दंड की शक्ति नहीं है। दंड की शक्ति वाले जो लोग हैं उनसे यह मांग की जाए तो दूसरी बात है। किसी को फांसी मिले, मैं तो इसका भी समर्थन नहीं करूंगा।

क्या कारावास देने से, फांसी देने से या कानूनों के निर्माण से समाज बदल जाएगा? मैं नहीं कहता कि ये सब व्यर्थ हैं। व्यर्थ नहीं हैं, इनकी भी एक उपयोगिता है, किन्तु हम किसी बात को एकांगी दृष्टि से न देखें। इनका भी अपना मूल्य और अपनी उपयोगिता है, किन्तु केवल कानून से ही सब कुछ होने वाला नहीं है, इस सचाई को हम न भूलें।

सर्वांगीणता चाहिए

भैंसों का मेला लगा था। एक आदमी गया, देखा। भैंस अच्छी लगी। पूछा—‘इसका मूल्य?’ व्यापारी बोला—‘चार हजार रुपये।’

‘कितना दूध देती है?’

‘दूध तो बिलकुल नहीं देती।’

‘तो कोई बच्चा है?’

‘नहीं, इसके कोई बच्चा नहीं है।’

‘तो फिर मूल्य चार हजार क्यों?’

‘महाशय! इसका कैरेक्टर बहुत अच्छा है।’

कैरेक्टर बहुत अच्छा है, केवल दूध नहीं है, बच्चा नहीं है। एक बात से काम नहीं चल सकता, सर्वांगीणता चाहिए, समग्रता चाहिए, टोटेलिटी चाहिए। इसलिए इस बात की जरूरत है कि व्यवस्था भी बदले और हृदय भी बदले। पता नहीं कितने वर्षों से समाजवाद की चर्चा चल रही है, किन्तु गरीबी अपनी रफ्तार से बढ़ती जा रही है और अमीरी भी बढ़ती जा रही है। दोनों बढ़ रही हैं। समस्या का समाधान नहीं हो पा रहा है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

जरूरी है आंतरिक बीमारी का निदान

हमें इस सचाई को स्वीकार करना होगा कि गरीब आदमी उतनी ज्यादा अनैतिकता नहीं कर रहा है, जितना धनी आदमी। शायद सामान्य कर्मचारी उतनी अनैतिकता नहीं करता जितनी बड़े अधिकारी। क्योंकि उनके पास पावर है, सत्ता है। इन सारी स्थितियों के संदर्भ में हम एक निष्कर्ष निकालें कि जो दृष्टिकोण अणुव्रत आंदोलन ने प्रस्तुत किया है, वह यह है कि समस्या को सुलझाने का हमारा दृष्टिकोण एकांगी न हो। एक करोड़पति, अरबपति आदमी, जो घी में चर्बी मिलाता है, तो क्या वह किसी अभाव के कारण मिला रहा है? क्या गरीबी के कारण मिला रहा है? क्या व्यवस्था की गड़बड़ी के कारण मिला रहा है? नहीं, निश्चित ही वह अपने आंतरिक दोषों के कारण मिला रहा है। आंतरिक बीमारी का निदान जब तक नहीं होगा तब तक लगता नहीं कि नैतिकता की समस्या का समाधान हो जाए। अणुव्रत आंदोलन के पास, उसके प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी के पास, उनके इस अभियान में लगे उनके सैकड़ों साधु-साध्वियों और अणुव्रत कार्यकर्ताओं के पास दंड की शक्ति नहीं है। केवल हृदय-परिवर्तन की शक्ति उनके पास है।

प्रायोगिक धर्म

अणुव्रत आंदोलन के साथ एक अध्याय और जुड़ा है—प्रेक्षाध्यान का। यह प्रायोगिक है। डॉ. बी.डी. जत्ती ने अभी कहा कि कोरा सिद्धान्त और कोरा विचार या धर्म काम नहीं देगा। प्रायोगिक होना चाहिए। अणुव्रत आंदोलन प्रायोगिक धर्म है। यह न जैन का, न ब्राह्मण का, न मुसलमान का, किसी का नहीं। यह केवल प्रयोग-सिद्ध धर्म है। करो और देखो। हमारी यह धारणा रही है कि धर्म करो, परलोक में स्वर्ग मिल जाएगा, सीट रिजर्व हो जाएगी। आज भी न जाने कितने लोग धर्म के नाम पर स्वर्ग की सीट रिजर्वेशन की बात करते हैं। आज रेल में एक सीट का रिजर्वेशन करा पाना कितना मुश्किल हो गया है और लोग स्वर्ग की सीट के रिजर्वेशन का दावा करते हैं। बड़ी कठिनाई है, स्लीपर की मांग की जाती है तो बैठने की सीट मिलती है, पूरी मिलती भी नहीं है और वह भी रिश्वत देने के बाद ही मिलती है। धर्मगुरुओं के पास भी न जाने कितनी रिश्वत आती है स्वर्ग के रिजर्वेशन की। इस धर्म ने न जाने क्या-क्या कर दिया। किन्तु यह अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान का धर्म प्रायोगिक धर्म है। नकद धर्म, उधार का नहीं। करो और देखो—अनुभव करो।

संक्रमण होता है विचारों का

हम अपनी संकल्प-शक्ति को जगाएं, चाह को प्रबल करें, मन में यह तड़प बन जाए कि अनैतिकता को मिटाना है। आप सोचेंगे कि कुछ लोगों की तड़प से क्या होगा? अरे, कुछ लोगों में तड़प जागेगी तो सब में जागेगी।

एक पौराणिक कहानी है। सुभौम नाम का चक्रवर्ती राजा समुद्र के रास्ते से जा रहा था और कहा जाता है कि सोलह हजार देवता उसके रथ को खींच रहे थे। एक देवता ने सोचा कि पन्द्रह हजार नौ सौ निन्यानबे लोग इस रथ को खींच रहे हैं, मैं अकेला इसे छोड़ दूंगा तो क्या होगा? एक के मन में आया तो सभी के मन में आ गया। सबने एक साथ छोड़ा और चक्रवर्ती पानी में डूब गया।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

एक की बात इतनी संक्रान्त होती है कि विचार के इस संक्रमणशील युग में उसके विश्लेषण के बाद उस पर हम अविश्वास नहीं कर सकते। तड़प जागे, हमारी चाह प्रबल हो, हमारी संकल्प-शक्ति जागे।

समाधान भीतर भी खोजें

दूसरी बात—बाहर ही न खोजें। समस्या के समाधान को भीतर भी खोजें। एक दिन पत्रकार बन्धुओं से चर्चा हो रही थी। चर्चा में एक बात उठी कि मनुष्य के व्यवहार और आचरण का नियंत्रण हमारी परिस्थितियां नहीं करतीं। सामाजिक स्थितियां तो उभरती हैं। वास्तव में हमारे व्यवहार पर, आदतों पर, आचरण पर हमारी अन्तःस्रावी ग्रन्थियों (Endocrine System Glands) के हार्मोन्स में जो सिक्रेशन होता है, उनका कंट्रोल और प्रभाव होता है।

व्यवस्था बदलने की बात और मनुष्य के आंतरिक तत्त्वों और रसायनों को बदलने की बात—दोनों की संयुक्त बात करें तो इस वैज्ञानिक युग में अणुव्रत के मंच से एक नया दर्शन, नई विचारधारा समाज के सामने, राष्ट्र के सामने प्रस्तुत कर सकते हैं। मुझे लगता है कि यह समाज और राष्ट्र का एक सर्वांगीण दर्शन बन सकता है और इसके द्वारा अनैतिकता की समस्या सुलझाने का भी एक मूल्यवान उपाय, चाहे वह छोटा ही हो, हमारे हाथ लग सकता है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

11

इच्छा और नैतिकता

नैतिकता के लिए इच्छा को जानना बहुत जरूरी है। इच्छा को जाने बिना और उस पर अनुशासन किए बिना कोई भी व्यक्ति नैतिक नहीं बन सकता। इच्छा का संसार बहुत बड़ा है। भगवान् महावीर ने कहा है—इच्छा हु आगाससमा अणंतिया—इच्छा आकाश की भांति अनंत है। इच्छा का अनुमापन आकाश से किया गया है। जितना बड़ा आकाश उतना बड़ा इच्छा का जगत्।

अनंत है इच्छा का जगत्

मैकंजी ने एक किताब लिखी है—यूनिवर्स ऑफ डिजायर—इच्छा का जगत्। इच्छा का एक जगत् है और वह अनंत है। कभी उसका अन्त नहीं आता। उसका आर-पार नहीं पाया जा सकता। हर क्षण व्यक्ति में अलग-अलग इच्छाएं पैदा होती रहती हैं।

इच्छाएं दो प्रकार की होती हैं—चेतन इच्छा और अचेतन इच्छा। चेतन इच्छा प्रगट होती है तो हमें उसका पता लग जाता है। इसका जगत् कुछ छोटा होता है। अचेतन इच्छा का संसार बड़ा है, अनंत है। हमारे भीतर इतनी इच्छाएं हैं कि उनकी न सीमा है और न नाप है। हम जो कुछ करते हैं, उसके पीछे एक इच्छा होती है।

प्रत्येक व्यवहार इच्छा-प्रेरित

मनोविज्ञान के जन्मदाता फ्रायड ने लिखा—मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार के पीछे एक इच्छा होती है। आदमी एक अंगुली हिलाता है तो उसके पीछे एक इच्छा होती है। रोटी खाता है तो उसके साथ भी इच्छा जुड़ी हुई होती है। प्रत्येक व्यवहार के पीछे इच्छा होती है। इस सत्य को एक मनोवैज्ञानिक ने प्रगट किया है और यह वास्तविक भी है। हमारा सारा व्यवहार अनुबंधित व्यवहार होता है। जहां कोई इच्छा नहीं होती और कोई व्यवहार घटित हो जाता है, हम उसे आकस्मिक मानते हैं। अनेक व्यक्ति कहते हैं—मेरी इच्छा तो नहीं थी, पर पता नहीं मैं वहां क्यों चला गया? इच्छा तो नहीं थी पर हाथ हिल गया। इच्छा के बिना होने

वाली घटना को आकस्मिक माना जाता है, स्वाभाविक नहीं। स्वाभाविक घटना वही है जिसके पीछे हमारी इच्छा होती है, इच्छा का कोई न कोई अनुबन्ध होता है।

अव्यक्त इच्छा है अविरति

जैन दर्शन और उसकी साधना पद्धति में एक महत्वपूर्ण शब्द आता है अविरति। अविरति की तुलना अचेतन इच्छा से की जा सकती है। यह अव्यक्त इच्छा है। व्यक्त इच्छा चेतन बन जाती है। अविरति अव्यक्त इच्छा है।

प्रश्न पूछा गया—हिंसक कौन? असत्यवादी कौन? उत्तर दिया गया—जो जीव को मारता है, वह हिंसक है और वह भी हिंसक है, जिसके मन में जीव को मारने की इच्छा बनी हुई है। दोनों हिंसक हैं। जीव का प्रत्यक्ष घात करने वाला उस समय के लिए हिंसक होता है किन्तु जीव को मारने की जिसकी अचेतन मन में इच्छा बनी हुई है, वह व्यक्ति चौबीस घंटा हिंसक है। प्रवृत्ति की दृष्टि से कोई-कोई आदमी कुछ समय के लिए हिंसक बनता है।

जो झूठ बोलता है वह असत्यवादी है। यह प्रवृत्ति की दृष्टि से है। अवचेतन मन में झूठ बोलने की जो इच्छा बनी हुई है, उसकी अपेक्षा वह आदमी चौबीस घंटा झूठ बोलने वाला है, असत्यवादी है।

प्रवृत्ति का जगत् बहुत छोटा है। अचेतन इच्छा का जगत् बहुत बड़ा है। इसीलिए साधना के क्षेत्र में इस बात पर ध्यान दिया गया कि विरति होनी चाहिए। हमारा अनुशासन केवल चेतन इच्छा पर ही नहीं, अचेतन इच्छा पर भी होना चाहिए। अचेतन इच्छाओं के नियमन का नाम है महाव्रत। जो उनका नियमन नहीं कर सकता, वह मुनि नहीं बन सकता, वह न श्रावक बन सकता है, न अणुव्रती बन सकता है और न नैतिक बन सकता है। अणुव्रती और नैतिक वही बन सकता है जो एक सीमा तक अचेतन इच्छाओं का नियमन करना प्रारम्भ कर देता है।

संघर्ष इच्छाओं का

इच्छाओं का संघर्ष बहुत बड़ा संघर्ष है। आदमी में मानसिक द्वन्द्व चलता है। एक प्रेरणा उसे लक्ष्य की ओर आकर्षित करती है तो दूसरी प्रेरणा उसे रोकना चाहती है। यह द्वन्द्व चलता रहता है। मेंटल-टेन्शन आज की बड़ी बीमारी है। इसका मूल है मानसिक द्वन्द्व, इच्छाओं का संघर्ष। एक आदमी ने नैतिक जीवन जीने का लक्ष्य निर्धारित कर डाला। एक प्रेरणा जागी और लक्ष्य बन गया। जैसे ही वह उस ओर चलना प्रारम्भ करता है, दूसरी-दूसरी इच्छाएं विरोध प्रस्तुत करती हैं, अवरोध पैदा करती हैं। प्रतिद्वन्द्वी इच्छाएं जागती हैं और अव्यक्त ध्वनि में कहती हैं—कैसा पागलपन! क्या ईमानदारी से, नैतिकता से कभी धंधा चला है? धन का अर्जन हुआ है? कैसे ब्याहोगे अपनी बेटियों को? खर्च के लिए कहां से आएगा पैसा? ये प्रतिद्वन्द्वी इच्छाएं ऐसा घेरा डालती हैं कि उस व्यक्ति का नैतिक बने रहने का लक्ष्य धरा रह जाता है और अनैतिक आचरण प्रारंभ हो जाता है।

दूसरा बाधक तत्व है अहंभाव। यह भी व्यक्ति को नैतिक और सदाचारी नहीं रहने देता। अहं मूल इच्छा पर आवरण डाल देता है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

भगवान् ऋषभ के पुत्र बाहुबली समरांगण में विजयी बन गए फिर वे मुनि हो गए। मुनि बनने के बाद उन्होंने सोचा—भगवान् ऋषभ के चरणों में उपस्थित हो जाऊं। संकल्प कर डाला। दूसरे ही क्षण अहं आगे आ गया। अहं के परिवेश में उन्होंने सोचा—मेरे निन्यानबे छोटे भाई भगवान् के पास दीक्षित हो चुके हैं। वे संयम-पर्याय में मुझसे बड़े हैं। मुझे उन सबको वंदना करनी होगी। क्या मैं बाहुबलि किसी के सामने झुकूंगा? क्या बड़ा भाई छोटे भाइयों के सामने नत होगा? ऐसा नहीं हो सकता। ऋषभ के चरणों में जाने का बाहुबली का संकल्प टूट गया और वे वहीं कायोत्सर्ग की मुद्रा में स्थित हो गए। चरण स्तब्ध हो गए, रुक गए। अहं का वेग प्रबल था। वे उसके आगे हार गए।

यह है अपने द्वारा अपना संघर्ष, स्वयं से स्वयं का युद्ध। इसमें लड़ने वाला कोई दूसरा होता ही नहीं। मानसिक द्वन्द्व का अर्थ है—लड़ने वाला भी स्वयं और प्रतिपक्षी भी स्वयं। द्वन्द्वी भी स्वयं और प्रतिद्वन्द्वी भी स्वयं। पक्ष भी स्वयं और प्रतिपक्ष भी स्वयं। अपनी ही इच्छाएं सामने आकर ऐसा संघर्ष छेड़ देती हैं कि व्यक्ति आगे कुछ कर ही नहीं सकता।

विवेक इच्छाओं का

जब इच्छाओं का संघर्ष पैदा हो जाता है, अनेक इच्छाएं पैदा हो जाती हैं तब आदमी को उचित इच्छा का चुनाव करना होता है। जहां इच्छा है वहां विवेक भी है। अगर विवेक नहीं होता तो इच्छा आदमी को अभिभूत कर देती। यह सुविधा है कि इच्छा के साथ विवेक चेतना भी है। हमें एक ऐसा मस्तिष्क मिला है जो इच्छाओं की कांट-छांट करता है, चुनाव करता है। चुनाव करना महत्त्व की बात है।

अध्यापक ने विद्यार्थी से पूछा—‘एक ओर भैंस है और एक ओर बुद्धि। तुम क्या लेना पसंद करोगे? अपनी इच्छा के अनुसार चुनाव कर लो।’

विद्यार्थी बोला—‘मुझे भैंस लेना पसंद है क्योंकि वह मेरे पास नहीं है।’

अध्यापक बोला—‘मेरे सामने यह प्रश्न आता तो मैं भैंस को छोड़कर बुद्धि को लेना पसंद करता।’

विद्यार्थी ने कहा—‘ठीक ही है। जिसके पास जिसकी कमी होती है, वह उसी को चाहता है।’

सही चीज का चुनाव दुष्कर होता है।

बादशाह ने बीरबल से कहा—‘अरे बीरबल! यह क्या? मेरी सभा के सभी सदस्य सुन्दर हैं, गौर वर्ण वाले हैं। केवल तुम ही असुन्दर हो, काले हो, ऐसा क्यों हुआ?’

बीरबल बोला—‘जहांपनाह! यह ठीक ही हुआ, क्योंकि भगवान् के घर जब बुद्धि और रंग-रूप का बंटवारा हो रहा था तब इन सबने रंग-रूप को चुना और मैंने बुद्धि को। मैं बुद्धिमान हो गया और ये रंग-रूप वाले हो गए।’

चुनाव का प्रश्न अत्यन्त महत्त्व का होता है। इच्छाओं के संघर्ष में किस इच्छा को चुनना चाहते हैं और किसको पराजित करना चाहते हैं, यह महत्त्वपूर्ण है। जीवन प्रतिद्वन्द्वी इच्छाओं का रंगमंच है। कभी अचानक सद्-इच्छाएं जागती हैं, मनुष्य नैतिकता और आध्यात्मिकता की ओर प्रस्थित होने का संकल्प करता है। पर जब प्रतिद्वन्द्वी इच्छाओं का प्रहार होता है तब टिकने वाला ही टिक पाता है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

मैं जब प्रव्रजित हो रहा था तब मेरे साथ 5-6 व्यक्ति और दीक्षित होने वाले थे। मैं अकेला मुनि बना, वे यों ही रह गए। इच्छाओं का ऐसा दबाव आया कि वे सब उनके नीचे दब गए, पराजित हो गए।

जब प्रतिद्वंद्वी इच्छाओं का प्रहार होना प्रारंभ होता है तब अपने लक्ष्य पर या अपनी सद्-इच्छा पर अडिग रहना कठिन हो जाता है। लक्ष्य को बनाए रखना एक समस्या हो जाती है।

अनैतिकता का कारण

अनैतिकता आज की ज्वलंत समस्या है। सभी उसके परिणामों को भोग रहे हैं। कहीं भी चले जाएं, सर्वत्र अनैतिकता का बोल वाला है। हर आदमी के मन में शिकायत है और हर आदमी उसे भोग रहा है। जो शिकायत करता है वह भी अनैतिक आचरण करता है। प्रश्न होता है कि बुराई को जानते हुए भी आदमी उसका आचरण क्यों करता है? अनजान आदमी बुराई करता है तो माना जा सकता है कि अज्ञानवश वैसा कर रहा है, पर बुराई को जानने वाला वैसा करता है तो बात समझ में नहीं आती। जो यह नहीं जानता कि आग में हाथ डालने से हाथ जलता है, वह यदि आग में हाथ डालता है तो बात समझ में आ जाती है। जो परिणाम को जानते हुए भी आग में हाथ डालता है तो असमंजसता पैदा हो जाती है। इसका समाधान यही है कि जैसे व्यक्ति इच्छाओं के संघर्ष में जी रहे हैं। यह एक महायुद्ध है, जो दिमाग में निरंतर चलता रहता है। बहुत कम व्यक्ति इस चक्र से बच पाते हैं। ऐसी स्थिति में क्या हम कल्पना कर सकते हैं कि आदमी नैतिक बन सकता है? अणुव्रती बन सकता है?

बन्धन : मोक्ष

आदमी कितनी बार बंधता है और कितनी बार मुक्त होता है। समस्याओं का उलझना बंधन है और समस्याओं का सुलझना मोक्ष है। हम वर्तमान की बात करें। जिसका इच्छाओं पर अनुशासन नहीं है वह आदमी बंधता है, आगे से आगे बंधता चला जाता है। जिस व्यक्ति का अपनी इच्छाओं पर अनुशासन हो गया, मुख्य इच्छा का चुनाव कर प्रतिद्वंद्वी इच्छाओं को जिसने पराजित कर डाला, वह खुलता चला जाता है। उसकी सारी समस्याएं सुलझ जाती हैं।

यह वह बिन्दु है जहां ध्यान के प्रयोग को समझा जा सकता है। ध्यान के बिना एकाग्रता की शक्ति का विकास नहीं होता, निर्विचार चेतना का विकास नहीं होता और उसके बिना इच्छाओं पर अनुशासन करने की शक्ति का विकास नहीं होता। हमारा मनोबल इतना प्रबल हो कि इच्छाओं का नियमन किया जा सके। इच्छा के संघर्ष में हम पराजित न हों, इच्छा को पराजित कर दें। ऐसा होना मनोबल के बिना संभव नहीं है। मनोबल एकाग्रता और निर्विचारता के बिना संभव नहीं होता। यदि हम एक विचार पर दस मिनट भी टिक सकें तो दस दिन में पता चल सकता है कि शक्ति किसको कहते हैं? शक्ति कैसे फूटती है? शक्ति के इस स्रोत का स्वयं अनुभव होने लग जाता है। जो व्यक्ति आधा या एक घंटा एक विचार पर टिक पाता है, उसे देवता भी विचलित नहीं कर सकते।

परीक्षण मनोबल का

एक श्रावक था अर्हन्नक। देवता उसके पास आकर बोला—‘अर्हन्नक! तुम धर्म को छोड़ दो। तुम्हें



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

कोई कष्ट नहीं दिया जाएगा अन्यथा मौत के घाट उतार दिए जाओगे।' भय और प्रलोभन—दोनों दिखाए, पर अहर्निहक अडिग रहा। यह था मनोबल का निदर्शन।

ऐसे व्यक्ति भी मिलते हैं, जो तनिक प्रलोभन से डिग जाते हैं, धर्म-कर्म छोड़ देते हैं। एक व्यक्ति से कहा गया—'यह जूठन खा लो।' उसने कहा—'मैं शुद्धता में विश्वास करता हूँ। कैसे खा लूँ जूठन को?' प्रलोभन दिखाया गया—'यदि जूठन खाओगे तो सोने का कटोरा मिलेगा।' उसने कहा—'जूठन खाने में कौन सा दोष है? मां बच्चे का जूठन खाती है। बच्चे मां का जूठन खाते हैं। लो, मैं भी खा लेता हूँ।' वह जूठन खा गया।

प्रलोभन ने उसको विचलित कर डाला। वह अपनी बात पर अडिग नहीं रह सका।

परिस्थिति को सहना आसान नहीं

व्यक्ति के सामने प्रतिकूल और अनुकूल दोनों प्रकार की बाधाएं आती हैं। प्रतिकूल बाधाओं को सहना सहज होता है पर अनुकूल बाधाओं को सहना अत्यन्त कठिन होता है। वही व्यक्ति अनुकूल बाधाओं को सह सकता है जिसने एकाग्रता की शक्ति को विकसित कर लिया है। वह चट्टान जैसा रहने में सक्षम हो जाता है।

जो व्यक्ति कायसिद्धि, वाक्सिद्धि और मनःसिद्धि कर लेता है वही इस प्रकार की चेतना का विकास कर सकता है। उसमें कोई प्रकंपन नहीं होता, कोई विचलन नहीं होता। जो अपने शरीर, वाणी और मन को स्थिर रखना नहीं जानता, वह कभी ऐसा नहीं हो सकता। उसके लिए पग-पग पर विचलन है। ऐसा आदमी परिस्थिति न आए, तब तक अविचलित रहता है, परिस्थिति सामने आते ही डगमगा जाता है।

बाधक है इच्छाओं का द्वन्द्व

नैतिक होने के लिए आध्यात्मिक होना बहुत जरूरी है। आध्यात्मिक होने का अर्थ है—अपने भीतर प्रवेश करना, अन्तर्जगत् में होने वाले प्रकंपनों और घटनाओं का अनुभव करना। क्षण-क्षण में उत्पन्न होने वाली इच्छाओं को जानना। इच्छा के प्रति जागरूकता बढ़ते ही उसे भोगने की बात कमजोर हो जाती है। कोई आदमी इच्छा को जानकर ही नैतिक बन सकता है। आज का कथन है—वर्तमान परिस्थिति नैतिक होने में बाधक है। यह निष्कर्ष सही नहीं है। बाधा परिस्थिति पैदा नहीं करती। बाधा पैदा करता है इच्छा का द्वन्द्व।

इच्छा का अपने-अपने क्षेत्र में महत्त्व है। वह मानवीय चरित्र की अभिव्यक्ति है, जीवन-यात्रा का एक अनिवार्य अंग है। उसकी उपेक्षा करना संभव नहीं है और उसकी हर आज्ञा को शिरोधार्य करना खतरे से खाली नहीं है। इन दोनों के बीच में मार्ग खोजना है और वह है इच्छा का परिष्कार। इच्छा के परिष्कार का दूसरा नाम है—नैतिकता।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

नैतिकता और अचेतन मन

हमारी दुनिया में बहुत सारी रचनाएं जटिल होती हैं। उन सब में शरीर की रचना सबसे ज्यादा जटिल है। इसको समझने के लिए शरीरशास्त्रियों ने काफी काम किया और मानसशास्त्रियों ने भी काफी ध्यान दिया, प्राचीनकाल के दार्शनिकों ने भी इस क्षेत्र को छानने का प्रयत्न किया। अभी तक भी अज्ञात अज्ञात बना हुआ है, रहस्य रहस्य बना हुआ है। कोई भी यह दावा नहीं कर सकता कि मैंने शरीर को पूरा समझ लिया है। शरीर के भीतर मन भी है, वाणी भी है, चेतना भी है और प्राणशक्ति भी है। शरीरशास्त्री शरीर के अवयवों के बारे में बहुत जानता है, किन्तु प्राणशक्ति के बारे में बिलकुल अनजान है। योग के आचार्यों ने लिखा—जो नाड़ी-विज्ञान को नहीं जानता, वह योग का अधिकारी नहीं बन सकता। नाड़ी-विज्ञान को जानने का अर्थ है—प्राण के प्रवाह की प्रणालियों को जानना। जो प्राण के प्रवाह की प्रणालियों को नहीं जानता, वह योग का अधिकारी नहीं बन सकता। अवयव का विज्ञान, प्राण का विज्ञान, मानसिक क्रिया का विज्ञान, वचन क्रिया का विज्ञान और उससे सूक्ष्म है चेतना का विज्ञान। इतने सारे ज्ञान और विज्ञान की परम्पराओं का संगम है हमारा शरीर। इसलिए इसकी रचना बहुत जटिल है।

दृष्टिकोण फ्रायड और यूंग का

चेतना की दृष्टि से उसके दो रूप सामने आते हैं—व्यक्त चेतना और अव्यक्त चेतना। मनोविज्ञान में उन्हें चेतन और अचेतन कहा गया है। 'फ्रायड' ने मन के दो संभाग बतलाए—चेतन मन और अचेतन मन। 'यूंग' ने इस अवधारणा को बदल दिया। उसने कहा—'मन के दो संभाग ठीक नहीं हैं, क्योंकि मन के आधार पर बहुत निर्णय नहीं लिए जा सकते। मन बहुत जल्दी बदल जाता है। उसमें छिछलापन है, स्थायित्व नहीं है, गंभीरता नहीं है। जो इतना जल्दी बदल जाता है उसके आधार पर कैसे निर्णय किया जा सकता है?' उन्होंने मन को छोड़ दिया और माइंड की उपेक्षा कर उसके स्थान पर 'साइक' शब्द का प्रयोग किया। यह अधिक दायित्व वाला है, अधिक स्थायी है। यूंग ने चित्त के दो संभाग कर दिए—चेतन और अचेतन।

फ्रायड ने कहा—‘अचेतन मन में गंदगी भरी पड़ी है, कूड़ा भरा पड़ा है। वह दमित इच्छाओं का भंडार है। जो वासनाएं, इच्छाएं आकांक्षाएं दमित हो जाती हैं, वे अचेतन में चली जाती हैं। वहां दबी पड़ी रहती हैं और स्वप्न के रूप में उभर कर सामने आती हैं।’ यूंग ने इसका भी प्रतिकार किया। उन्होंने कहा—‘अचेतन मन केवल दमित इच्छाओं का भण्डार नहीं है। इसमें बहुत सारे अच्छे संस्कार भी हैं। दमित इच्छाएं हैं तो साथ-साथ में अच्छाइयां भी हैं।’ स्वरूप बदल गया।

दो प्रणालियां

कर्मशास्त्र में हजारों वर्ष पहले इस विषय पर बहुत काम हुआ था। उसके संदर्भ में आज के मनोविज्ञान की समीक्षा करते हैं तो यूंग का मत बहुत सम्मत बैठता है। जैन आचार्यों ने कर्मशास्त्र के आधार पर दो प्रणालियां निर्धारित कीं। एक प्रणाली का नाम है औदयिक प्रणाली, जिसे मनोविज्ञान की भाषा में ‘स्टिम्यूलेशन ऑफ टेन्शन’ कहा जा सकता है। वह आवेशों को उत्तेजना देती है। दूसरी है—क्षायोपशमिक प्रणाली, यह उत्तेजना का विलय करती है, उसे शांत करती है। औदयिक प्रणाली का प्रवाह और क्षायोपशमिक प्रणाली का प्रवाह निरन्तर बहता रहता है।

हमारे अचेतन में, कर्मशास्त्र की भाषा में सूक्ष्मतम शरीर में संस्कारों का, बंधनों का भण्डार है। एक ओर बन्धन है तो दूसरी ओर बंधन को काटने वाली प्रणाली भी है। केवल बंधन की प्रणाली ही नहीं है, बंधन को काटने वाली प्रणाली भी है। दोनों प्रणालियां निरन्तर काम कर रही हैं। इन दोनों प्रणालियों में एक संबंध भी है। औदयिक प्रणाली जब बाहर आती है तब क्षायोपशमिक प्रणाली उस पर नियमन करती है। क्रोध औदयिक प्रणाली का प्रवाह है। किसी आदमी को क्रोध आया, तत्काल क्षायोपशमिक प्रणाली सक्रिय हो जाएगी। वह कहेगी—अभी गुस्सा मत करो, जरा ठहरो, कुछ रुको, कुछ देखो। फिर भी गुस्सा होता है। औदयिक प्रणाली का प्रवाह जब तीव्र होता है, क्रोध उभर आता है। क्षायोपशमिक प्रणाली का उपदेश मिलता है—क्रोध करते हो तो करो पर कम से कम इतना अभी मत करो। इससे बहुत हानि होती है। दोनों संकेत बराबर मिलते रहते हैं। औदयिक प्रणाली प्रबल होती है तो क्षायोपशमिक प्रणाली उस पर नियंत्रण भी रखती चली जाती है और अपने संदेश भी उसके पास पहुंचाती रहती है। दोनों में एक संबंध हो गया। दोनों साथ-साथ चलती हैं, मिलती नहीं हैं। समानान्तर रेखा की भांति अलग-अलग रहती हैं। व्यवहार की भाषा में ऐसा लगता है कि वे एक दूसरे की पूरक का काम करती हैं।

इच्छा : दमन या भोग ?

हम ज्यादा काम लेते हैं चेतन चित्त से। जो इच्छाएं और आकांक्षाएं पैदा होती हैं, वे चेतन चित्त के स्तर पर होती हैं। एक इच्छा के पैदा होने पर हमारे सामने दो विकल्प प्रस्तुत होते हैं—1. इच्छा को पूर्ण करें या 2. इच्छा का दमन करें। हर इच्छा को पूरा करें—यह सामाजिक जीवन में संभव नहीं। कई इच्छाएं ऐसी होती हैं, जिनको पूर्ण नहीं किया जा सकता। उनको पूर्ण करना कभी संभव नहीं। इच्छा पर एक नियंत्रण है समाज की व्यवस्था का। इच्छा पर एक नियंत्रण है सभ्यता और शिष्टता का। उसका एक सूत्र है—अशिष्ट आचरण नहीं करना चाहिए। कुछ इच्छाएं ऐसी होती हैं, जिन्हें पूरा भी किया जा सकता है। वे पूर्ण हो जाती हैं। एक है अपूर्ण इच्छा, जिसको मनोविज्ञान की भाषा में दमित इच्छा कहा जाता है। इच्छा का दमन कर



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

दिया, उसे पूरा नहीं किया। दमित इच्छा भीतर चली जाती है, अवचेतन में चली जाती है और वह बार-बार उभरती रहती है। वह सामान्य उपायों से निकलती नहीं, मिटती नहीं।

दमित इच्छाएं, जो अचेतन इच्छाएं बन गईं, अचेतन में चली गईं, वे बार-बार उभरती रहती हैं। प्रश्न यह है कि इच्छा को पूरा करें या उसका दमन करें। पूरा करें यह संभव नहीं। बहुत सारे उस पर नियंत्रण करने वाले तत्त्व हैं और यदि दमित करें तो वह बार-बार उभरती रहती है। आखिर समाधान क्या होगा, कैसे हम उस इच्छा से छुटकारा पा सकेंगे। एक कोई रास्ता खोजना है।

इच्छा को पूरा करने का अर्थ

‘इच्छा पूर्ण कर लें’ यह एक रास्ता है, पर इससे समाज व्यवस्था में उच्छृंखलता बढ़ती है। उस उच्छृंखलता के दुष्परिणाम भी आते हैं, आये हैं। आज एक छोटे बच्चे के मन में भी यह भावना बन गई कि इच्छा को रोकना नहीं चाहिए, उसे भोग लेना चाहिए, पूरा कर लेना चाहिए। इच्छा को पूरा करना भी एक समस्या है। इच्छा को पूरा करने का अर्थ है—अचेतन इच्छा को और अधिक बलवान बना देना, सशक्त बना देना। जिस इच्छा को भोगा, उस इच्छा का हमारा अभ्यास हो गया। जिसका अभ्यास हो जाता है, उसको टालना बहुत मुश्किल हो जाता है। नए घर में जाएं, सीढ़ियों पर चढ़ें या सीढ़ियों पर से उतरें, वहां सावधानी बरतनी पड़ती है। क्योंकि हम उन सीढ़ियों से परिचित नहीं हैं। उन पर चढ़ने और उतरने का अभ्यास नहीं है। पर पांच-सात दिन चढ़ते रहें और उतरते रहें तो स्नायुओं को अभ्यास हो जाता है। फिर घबराने की कोई आवश्यकता नहीं होती। आप चाहे आंख मूंदकर सीढ़ियों पर चढ़ जाएं और चाहे उतर जाएं, कोई खतरा नहीं होता। आदमी की बात को छोड़ दें। कोई बैलगाड़ी के जुता हुआ है, दस कोस जाना है। एक दिन, दो दिन, दस दिन जिस रास्ते से गए फिर बैल को हांकने की कोई जरूरत नहीं है। उसे हांकने वाला मजे से सो जाता है, बैल अपने आप मार्ग पर चलता जाता है। कहां रुकना और कहां मुड़ना, वह अपने आप जान लेता है। यह होता है स्नायविक अभ्यास। इच्छा को पूरा करने का अर्थ है—एक स्नायविक आदत को डाल देना।

उलझन दोनों ओर

एक प्राकृतिक आदत होती है और एक अर्जित आदत होती है। हमारे स्नायुओं को हमने एक अभ्यास दे दिया और वह आदत बन गई। उसे बदलना बड़ा कठिन हो जाता है। पूरा करना भी एक समस्या है और पूरा न करना भी एक समस्या है। अगर पूरा न करें तो वह दमित इच्छा अचेतन में चली जाती है और बार-बार उभरती रहती है। जैसे ही चिंतन मिला, निमित्त मिला, इच्छा उभरती है और वह सताती रहती है। दोनों ओर समस्याएं हैं। एक समस्या पर तो अधिक ध्यान दिया गया कि इच्छा का दमन अच्छा नहीं है किन्तु दूसरी समस्या पर कम ध्यान दिया गया कि हर इच्छा को पूरा करना भी अच्छा नहीं है। दोनों ओर उलझन आ गई।

एक आदमी जा रहा था जंगल में। पीछे से आवाज आई—आगे मत जाओ। पूछा—क्यों? उत्तर मिला—आगे बाघ खड़ा है। सोचा, वापस चला जाऊं गांव में। वापस चला, नदी के पास आया, जो बीच में पड़ती थी। दूसरे आदमी ने कहा—आगे मत जाओ। पूछा—क्यों? उत्तर मिला—आगे बाढ़ आ रही है। एक ओर बाघ आ गया और दूसरी ओर नदी की बाढ़ आ गई। वह बीच में ही रह गया।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

प्रयोग अनुप्रेक्षा का

हमारी स्थिति भी यही बन रही है। हम इच्छा को पूरा करें तो भी खतरा है और न करें तो भी खतरा है। इस समस्या पर अध्यात्म योग के आचार्यों ने अनुसंधान किया, कई प्रयोग किए और कुछ मार्ग सुझाए। मैं समझता हूँ—वे मार्ग आज भी बहुत महत्वपूर्ण हैं और मनोविज्ञान के क्षेत्र में काम करने वालों के लिए बहुत उपयोगी हैं। उनमें एक मार्ग है—अनुप्रेक्षा का। शास्त्रीय भाषा में अनुप्रेक्षा का प्रयोग करने से तीव्र विपाक मंद विपाक बन जाता है। एक तीव्र लालसा पैदा हुई—काम की लालसा, सेक्स की लालसा, भय की वृत्ति, धन की लालसा या भोजन की आसक्ति। प्रश्न उठा कि ऐसी स्थिति में क्या किया जाए? आचार्य ने कहा—अनुप्रेक्षा का प्रयोग करो। अनुप्रेक्षा के अनेक प्रयोग हैं, सूत्र हैं। अनुप्रेक्षा का एक सूत्र है—चिन्तन। उस बारे में चिन्तन करो। सारे पहलुओं से चिन्तन करो। इसके प्रारम्भ का बिन्दु क्या होगा? मध्य का बिन्दु क्या होगा और अंतिम बिन्दु क्या होगा? किसी भी इच्छा को सहसा स्वीकार मत करो। बहुत सारे लोग इच्छा के अनुसार ऐसा काम कर डालते हैं, जिसका कोई अर्थ नहीं होता।

समीक्षा करें इच्छा की

एक युवक ने पैर पर पट्टी बांध ली। किसी ने पूछा—भई! पैर में पट्टी क्यों बांधी है? बोला—‘मेरे पड़ोसी की टांग टूट गई है। उसने पट्टा बन्धाया तो उसकी सहानुभूति में मैंने भी पट्टी बांध ली।’

इसका कोई अर्थ नहीं है। सबसे पहले समीक्षा करनी चाहिए कि इस इच्छा को पूरा करने से क्या लाभ होगा? न करने से क्या हानि होगी? इसका परिणाम क्या होगा?

बीमार आदमी को मिठाई खाने की इच्छा हो गई। पेट खराब और पाचन की स्थिति बिल्कुल कमजोर। पचा नहीं सकता कोरा दलिया भी, गरिष्ठ मिठाई को कैसे पचा पाएगा? पर इच्छा पैदा हुई है, क्या करे? इच्छा को पूरा करे या इच्छा का दमन करे? पूरा करे तो भी सताएगी और दमन करे तो भी सताएगी। ऐसी स्थिति में वह क्या करे? उस समय यदि अनुप्रेक्षा का प्रयोग कराया जाए या किया जाए तो बहुत अच्छा समाधान मिल सकता है। भोजन के प्रत्येक पहलू पर विचार करना, खाने पर विचार करना, खाने के परिणाम पर विचार करना, यह आवश्यक है।

‘उत्स्यो घाटी, हुयो माटी’ यह चिन्तन अनुप्रेक्षा का ही सूत्र है। स्वाद कितनी देर का है? बस, जीभ पर डाला उतनी ही देर का है स्वाद। स्वाद का समय तो कुछ ही देर का होता है और वह भी उनके लिए जो विवेक से खाते हैं। जो ज्यादा लोलुप होते हैं, आसक्त होते हैं, उनका ध्यान तो आसक्ति में ही लगा रहता है। जीभ के सारे तन्तु स्वाद को ग्रहण नहीं करते। उसके कुछ ही तन्तु स्वाद को ग्रहण करते हैं। अगर वहां तक खाद्य पदार्थ नहीं जाता है और सीधा उतर जाता है तो स्वाद पूरा आता ही नहीं है। स्वाद के क्षण भी बहुत कम हैं। फिर आसक्ति किस काम की? रुचि किस बात की? लोलुपता किस बात की? खाने की आसक्ति नहीं है, किन्तु एक संस्कार भीतर बना हुआ है, बंधन बना हुआ है और वह बन्धन जब जाग जाता है तब वह एक इच्छा पैदा कर देता है, वृत्ति पैदा कर देता है। पतंजलि ने कहा—‘चित्त में जो वृत्तियां पैदा होती हैं, चित्त में जो तरंगें पैदा होती हैं उनका निरोध करने का नाम है योग।’ वृत्ति को रोकना जरूरी है। इच्छा को सफल बनाना जरूरी नहीं है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

इच्छा को विफल करना भी आवश्यक

एक क्षत्रिय युवक बारह वर्ष तक शत्रु की खोज में घूमता रहा। बारह वर्ष के बाद सफलता हाथ लगी। वह अपने दुश्मन को पकड़ कर अपने घर के आंगन में ले आया। अपनी मां के सामने लाकर बोला—‘मां! आज मुझे सफलता मिली है। यह वह दुश्मन है जिसने मेरे भाई को मारा था। अब यह मेरे हाथ में आया है। मैं तुम्हारी साक्षी से इसका गला काटूंगा।’ उसने हाथ में तलवार ली। वह बेचारा कांप रहा है। उसने सोचा—मैंने अपराध किया है। इसके भाई को मारा है। अब इसकी पकड़ में आ गया। बचने का कोई उपाय नहीं है। तत्काल उसे एक बात सूझी। पास में कोई तिनका पड़ा था। उसे उठाया और मुंह में डालकर बोला—‘मैं तेरी गाय हूं।’

मां वहीं खड़ी थी। मां बोली—‘बेटा! बस, अब कुछ मत करना। तलवार नीचे रख दो।’

वह बोला—‘क्यों? मैंने इतना पसीना बहाया, खून बहाया और इसके लिए चक्कर लगाता रहा, न खाने की सुध और न पीने की सुध। न नींद ली। कुछ भी नहीं किया। इतना श्रम किया। अब तुम कहती हो कि इसे छोड़ दो।’

मां बोली—‘वत्स! हर जगह क्रोध को सफल नहीं किया जा सकता। कुछ जगह क्रोध को विफल भी करना होता है। सफल मत करो। अब यह गाय बन गई है, क्योंकि इसने तिनका मुंह में ले लिया है। अब इसे मारा नहीं जा सकता।’

जरूरी है शोधन

क्रोध को सब जगह सफल करना आवश्यक भी नहीं है और अच्छा भी नहीं है। स्थिति या सन्दर्भ हमें देखना होता है कि कौन-सी इच्छा कब और कैसे पूरी करनी चाहिए? जब हम इच्छा पर अनुप्रेक्षा करते हैं तो हमारी बहुत सारी दृष्टियां अपने आप परिमार्जित हो जाती हैं। जैसे करेला बहुत कड़वा होता है। इसका साग बनाने वाली महिला जानती है कि इसका साग ऐसे ही नहीं बनाया जाता। पहले इसकी कड़वाहट को दूर करना होता है। विष का शोधन किया जाता है। संखिया भी दिया जाता है दवा के रूप में। पहले उसका शोधन किया जाता है। पारा बहुत उपयोगी है पर सीधा कच्चा पारा कोई खा नहीं सकता। गंधक कोरा खा ले तो शरीर फूट जाएगा। पारे का भी शोधन होता है और गंधक का भी शोधन होता है। ऐसे ही इच्छा का शोधन करना जरूरी है। अगर शोधन नहीं करते हैं तो इच्छा जहर बन जाती है। इच्छा शोधन करने का एक सूत्र है अनुप्रेक्षा। इच्छा एक पारा है। इच्छा एक गंधक है। इच्छा एक संखिया है। उसको सीधा जिसने पूरा हजम कर लिया वह शारीरिक हानि भी उठाएगा, मानसिक हानि भी उठाएगा और खतरे में भी डूबता चला जाएगा। इच्छा को पूरा करने का यानी सेक्स की इच्छा को पूरा करने का परिणाम आया है एड्स की बीमारी, जो आज की बीमारियों में सबसे भयंकर बीमारी है। यह एक उच्छृंखल इच्छा की पूर्ति का परिणाम है। इच्छा के शोधन और परिष्कार का महत्वपूर्ण सूत्र है अनुप्रेक्षा।

आनन्द के स्रोत की खोज

दूसरा सूत्र है—आनन्द के स्रोत की खोज। इच्छा के साथ आनन्द का भाव जुड़ा रहता है। आदमी आनन्द के क्षणों को छोड़ना नहीं चाहता। प्राचीन साहित्य में कहा गया—वर्तमान में जो सुख मिला है,



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

वर्तमान में जो भोग मिला है, वर्तमान में जो सुविधा मिली है, वर्तमान में जो पदार्थ मिले हैं उन्हें छोड़ते हो और संन्यासी बनते हो, त्यागी बनते हो, यह तुम्हारा प्रयत्न वैसा ही प्रयत्न है कि आज की परोसी हुई थाली को छोड़कर कल की थाली की आशा करना। वैसी ही मूर्खता है कि खड़ी सफल को काटकर रेगिस्तान में बीज बोना।

एक मुस्लिम युवक ट्रेन में सिगरेट पी रहा था। परिवार के लोगों ने कहा—‘तुम सिगरेट को छोड़ दो, यह बहुत नुकसान करती है। फेफड़ा खराब होता है, कैंसर की बीमारी हो जाती है। तुम छोड़ दो।’ वह बोला—‘मैं मूर्ख हूँ क्या? मैं नहीं छोड़ूँगा। आप मुझे क्या समझाते हैं?’ घंटा भर संघर्ष चलता रहा। जीवन-विज्ञान के प्रशिक्षक उसी डिब्बे में बैठे थे। वे उनके संघर्ष को देखते रहे, सुनते रहे। जब वह थोड़ा थमा तो प्रशिक्षक ने युवक से कहा—‘भाई! तुम्हारी बात ठीक है। तुम सिगरेट तो नहीं छोड़ सकते पर मैं तुम्हें इससे भी बढ़ियां सिगरेट पीना सिखा दूँ तो?’

आदमी बढ़िया चाहता है। घटिया कोई भी नहीं चाहता। वह युवक बोला—‘यदि बढ़िया सिगरेट मिल जाएगी तो इसको छोड़ दूँगा।’

प्रशिक्षक ने कहा—‘आओ, मेरे पास बैठो। उसे बुला लिया और कहा कि तुम सिगरेट पीते हो, कश खींचते हो तो तुम्हें बड़ा मजा आता होगा।’

उसने कहा—‘हां।’

प्रशिक्षक ने कहा—‘देखो, तुम एक नथुने से श्वास लो और दूसरे से निकालो, फिर दुबारा उस नथुने से सांस लो और दूसरे से निकालो। यह अनुभव करो कि मैं एक नथुने से सिगरेट के कश ले रहा हूँ और दूसरे नथुने से कश को छोड़ रहा हूँ।’

उसने कहा—‘ऐसे नहीं। मैं इसे करके देखूँगा।’ वह अपने स्थान पर चला गया। उसने दीर्घश्वास और समवृत्ति श्वास का प्रयोग किया। कुछ क्षणों के बाद आकर बोला—‘यह तो बहुत अच्छा है। यह सिगरेट बहुत बढ़िया है।’ वह दीर्घश्वास और समवृत्ति श्वास का प्रयोग एक घंटे तक करता रहा। एक घण्टे के बाद बोला—‘मैं शपथ लेता हूँ, अब कभी सिगरेट नहीं पीऊँगा।’

प्रशिक्षक ने कहा—‘ऐसे नहीं, कुरान की शपथ से कहो तो मैं मानूँ।’

उसने कहा—‘कुरान की शपथ से कहता हूँ कि अब मैं सिगरेट नहीं पीऊँगा। आपने बहुत बढ़िया सिगरेट मुझे दी है।’

घर वालों का कलह भी शांत हो गया और समस्या भी सुलझ गई। उसने नई सिगरेट पीना शुरू कर दिया।

यह तब संभव बना जब नया और अच्छा विकल्प सामने आया। बच्चा मिट्टी खाता है तो माता उसे वंशलोचन देती है। बच्चा उसे मिट्टी मानकर खाता है। वंशलोचन हानिकारक नहीं होता। बच्चे की मिट्टी खाने की आदत छूट जाती है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

नए विकल्प की खोज

एक नया विकल्प सामने आता है और विशेष आनन्द का अनुभव होता है तो वृत्ति में परिवर्तन आ जाता है, इच्छा बदल जाती है। इच्छा के परिष्कार का और अचेतन इच्छा के परिष्कार का दूसरा साधन है नए विकल्प की खोज। जिस वृत्ति में जो आनन्द आ रहा है उससे अधिक आनंद की खोज। खाने में स्वाद आता है किंतु जिस व्यक्ति ने खेचरी मुद्रा का अभ्यास कर लिया, उसे जो रस और आनंद आएगा, फिर उसका खाने का रस छूट जाएगा, खाने की लोलुपता छूट जाएगी। जिसने खेचरी मुद्रा से स्रवित होने वाले रस का आनंद ले लिया, उसका खाने का स्वाद समाप्त हो जाएगा। जिस व्यक्ति ने अंतर-यात्रा का अच्छा प्रयोग कर लिया, उसका जो काम-रस है, काम वासना का रस है, वह कम होने लग जाएगा, हलका पड़ने लग जाएगा। जब तक कोई बड़ा आनंद हम नहीं लेते तब तक छोटा आनंद छूटता नहीं है। जिस इच्छा के साथ आनंद जुड़ा हुआ है, वह इच्छा छूट नहीं सकती। वह तभी छूट सकती है जब उससे बड़ा आनंद हमें मिलने लग जाए।

इच्छा का शमन विनिवर्तना से

तीसरा प्रयोग है विनिवर्तना का। इच्छा का निवर्तन करना, अपने आपको उससे हटा लेना, अलग कर देना। यह पृथक्करण है, भेदविज्ञान है, अपने आपको भिन्न अनुभव करना है। मन में इच्छा पैदा हुई और अभ्यास करें कि मैं तो इच्छा नहीं हूँ। अगर मैं इच्छा होता तो इच्छा निरन्तर बनी रहती। इच्छा पैदा हुई है तो मेरे पास आई क्यों? आई है और पैदा हुई है। इसका अर्थ है—यह मेरे से भिन्न है। मैं इच्छा नहीं हूँ, मैं चेतना हूँ और मैं एक उपयोग हूँ। इच्छा मुझसे भिन्न है। उससे भेद का अनुभव करें। विनिवर्तना इच्छा को बिलकुल शांत कर देती है। उससे इच्छा का शमन हो जाता है। उसका उभार भी कम होने लग जाता है। हमारी एक खोज चलती है इच्छा की पूर्ति में, दूसरी खोज चलती है इच्छा की विनिवर्तना में। दोनों खोजें अलग-अलग चलती हैं।

केस बड़ा जटिल था। वकील ने केस लड़ा और वह केस जीत गया। मुवक्किल बोला—‘वकील साहब! आपने मेरी नौका पार लगा दी। बड़ा जटिल काम था। असंभव जैसा लग रहा था। आपने बहुत श्रम किया और हम विजयी बन गए। आपको मैं किन शब्दों में धन्यवाद दूँ। मेरे पास कोई शब्द नहीं।’ वकील ने कहा—‘शब्दों को खोजने की कोई आवश्यकता नहीं है, बस रुपया दो।’

शब्दों से वकील संतुष्ट नहीं होता। उसे शब्दों की जरूरत नहीं है। उसे जरूरत है रुपयों की। वे मिल जाएं तो और कुछ भी देने की जरूरत नहीं है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अस्वीकार करना सीखें

हमारी समस्या है—जो भी समस्या पैदा होती है हम उसे स्वीकार कर लेते हैं, अपना लेते हैं। हमें अस्वीकार की बात को समझना है। त्याग का अर्थ छोड़ना नहीं है। त्याग का अर्थ है अस्वीकार। स्वीकारा ही नहीं उसको। जब स्वीकारा ही नहीं तो वह आएगा कहां से। जब दरवाजा पहले ही बन्द कर दिया तो पाहुना आएगा ही कहां से। पाहुने को बुला लिया तो वह पक्का पाहुना बन जाएगा। जब हम इच्छा को स्वीकार लेते हैं तब वह पक्का पाहुना बन जाता है और सताता रहता है।

विनिवर्तना का अर्थ है अस्वीकार। भगवान् महावीर से पूछा गया—विनिवर्तना से जीव को क्या मिलता है? उत्तर मिला—पहले जो बन्धन किया है उसकी निर्जरा हो जाती है। यानी जो इच्छाएं हमने अचेतन में डाल दी हैं, जो संस्कार और जो आदतें अचेतन में चली गई हैं उन सब की निर्जरा हो जाती है, शोधन हो जाता है, सफाई हो जाती है।

मनोविज्ञान में माना गया है—चेतन और अचेतन चित्त में अदला-बदली होती है। चेतन की बात अचेतन में चली जाती है और अचेतन की बात उभर कर फिर चेतन में चली जाती है। यह अदला-बदली का चक्र निरंतर चलता रहता है। अगर हम विनिवर्तना की बात सीख जाते हैं तो अदला-बदली के क्रम को रोक सकते हैं। चेतन को बाहर की घटना से प्रभावित न होने दें तो अदला-बदली का क्रम बन्द हो जाएगा। जब भीतर कोई रसद नहीं पहुंचेगी तो वह अपने आप शांत हो जाएगी।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

नैतिकता और मन के खेल

वर्तमान का समाज मानसिक धरातल पर अधिक जी रहा है। जो समाज मन के धरातल पर जीता है, उसके लिए नैतिक होने में कठिनाई हो जाती है। आज जो नैतिकता की समस्या है, वह मूलतः मानसिक समस्या है। मानसिकता बदलती है, आदमी नैतिक बन जाता है। मानसिकता अच्छी नहीं होती है तो आदमी अनैतिक बन जाता है। नैतिकता का संबंध जितना मानसिकता से है उतना भौतिकता से या पदार्थ से नहीं है। पदार्थ के साथ नैतिकता का संबंध बाद में है और मानसिकता के साथ पहले है।

समाधान खोजने वाले पदार्थ की स्थिति को बदलना चाहते हैं। अगर पदार्थ की स्थिति बदल जाए तो आदमी नैतिक बन जाए। यह शायद बहुत बड़ी भ्रांति है। इस भ्रांति में चलने वाला नैतिक नहीं हो सकता। जब प्राकृतिक प्रकोप आता है, बाढ़ आती है, हजारों लोग प्रभावित हो जाते हैं। जब समुद्र में तूफान आता है तब हजारों-हजारों, लाखों आदमी चपेट में आ जाते हैं। पदार्थ की स्थिति बदलती रहती है। किंतु नैतिकता ऐसा तत्त्व नहीं है जो स्थिति के साथ बदल जाए। आज जो समाज नैतिक है और कल ऐसी स्थिति आई कि वह अनैतिक बन जाए, ऐसा नहीं हो सकता। नैतिकता हमारी एक मनोरचना है, मानसिकता है और वह ऐसे बदलती नहीं। मन की चंचलता के साथ जो समाज जीता है, उसके लिए नैतिक होने में बड़ी कठिनाई पैदा हो जाती है।

अनैतिकता का कारण

नैतिकता कब संभव है? यह एक ज्वलन्त प्रश्न है। इसका सीधा उत्तर है—जिस दिन मन के खेल खेलेना आदमी बन्द कर देता है उस दिन नैतिकता की संभावना उज्ज्वल बन जाती है। मन का खेल बहुत चलता है। दुःख क्या है? मन का खेल है। महर्षि पतंजलि ने कहा—‘दुःख-वैमनस्य-अंगमेजयत्व-श्वास-प्रश्वासाः विक्षेपसहभुवः’—ये चार बातें मन की चंचलता के साथ पैदा होती हैं। पहली बात है—दुःख।

दूसरी है—वैमनस्य। तीसरी है—प्रकम्पन। चौथी बात है—तेज श्वास और प्रश्वास। ये चारों मन की चंचलता के साथ जन्म लेती हैं। यदि विक्षेप नहीं है, मन की विक्षिप्त अवस्था नहीं है, चंचलता नहीं है तो दुःख पैदा नहीं हो सकता। आज जो अनैतिकता चल रही है वह दुःख को मिटाने के लिए चल रही है। आदमी बड़े दुःख का अनुभव कर रहा है। समस्या है रोटी की, एक बड़ा दुःख है। समस्या है लड़के-लड़कियों के विवाह की, एक बड़ा दुःख है। समस्या है मकान बनाने की। समस्या है अच्छा जीवन जीने की। भौतिक समस्याएं हैं और इनसे आगे बड़ा आदमी बनने की समस्या है, धन-कुबेर बनने की समस्या है, प्रसिद्धि पाने की समस्या है। ये सारे शारीरिक-मानसिक दुःख हैं और आदमी इन्हें बहुत भोग रहा है।

समस्या और दुःख

प्रश्न होता है—दुःख क्यों है? कब तक है? योग के आचार्यों ने दो शब्द दिए—समाहित चित्त और विक्षिप्त चित्त। विक्षिप्त चित्त के लिए ये सारे दुःख होते हैं और समाहित चित्त को कोई दुःख नहीं होता। दुःख की अवस्था पैदा होती है विक्षिप्त चित्त में और जब चित्त समाहित होता है तो दुःख समाप्त हो जाता है। अभाव हो सकता है, पर दुःख नहीं हो सकता। समस्या हो सकती है, पर दुःख नहीं हो सकता। समस्या होना एक बात है और दुःख का संवेदन होना बिल्कुल दूसरी बात है। अभाव होना एक बात है और उसका संवेदन होना बिल्कुल दूसरी बात है। ऐसा आदमी जो हिमालय पर एक झोंपड़ी में बैठा है, पास में कोरा कंबल है और ताप के लिए धूनी है, बड़ा सुख का अनुभव करता है। एक आदमी जिसके पास बड़ा प्रासाद है और सारे सुख के साधन हैं, कहीं से भी सर्दी-गरमी नहीं आ रही है, पर भीतर में इतनी सर्दी और गरमी है कि उसका कहीं अन्त ही नहीं आता।

कहां से आता है दुःख?

प्रश्न है—दुःख कहां से आता है? दुःख है चंचलता में। जिसने अपनी चंचलता को कम कर दिया उसके लिए दुःख कम हो गए। जिसने चंचलता को कम नहीं किया, उसके लिए दुःख है। जब दुःख होता है और चित्त असमाहित होता है, विक्षिप्त होता है तो आदमी अनैतिक बन जाता है। उसके लिए अनैतिकता अनिवार्य बन जाती है। दुःख कैसे मिटाएं? जिसको दुःख मान रखा है, उसे कैसे मिटाएं? मनुष्य को बहुत धन चाहिए। मन में एक चंचलता पैदा हो गई कि धन कमाना है, समृद्धिशाली बनना है पर कैसे बनें? पुरुषार्थ से तो जितना आता है उतना ही आता है। तब जैसे-तैसे बनने की एक भावना पैदा होती है उस विक्षिप्त मन के द्वारा। यह बिंदु है, जहां से साधन-शुद्धि का विचार समाप्त हो जाता है। कोई साधन-शुद्धि नहीं रहती।

संबंध इच्छा और मन का

इच्छा और मन की चंचलता—ये दो हैं। इच्छा स्वतन्त्र है। उसका मन से कोई संबंध नहीं है। जिसके मन होता है उसमें भी इच्छा होती है और जिसके मन नहीं होता उसमें भी इच्छा होती है। एक पेड़-पौधे के भी इच्छा होती है और एक विकसित प्राणी के भी इच्छा होती है। इच्छा हमारी चेतना के साथ होने वाला एक सार्वभौम धर्म है। प्रत्येक प्राणी में इच्छा होती है। ऐसा कोई भी प्राणी नहीं जिसमें इच्छा न हो। वीतराग होने पर भी जीवन चलाने की इच्छा होती है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

इच्छा का संबंध बहुत गहरा है। एक सूत्र दिया गया—इच्छा का परिष्कार करो। जो अचेतन इच्छा है उसका परिष्कार करना नैतिक होने के लिए बहुत जरूरी है। इच्छा का अपरिष्कार भी बड़ी बाधा है। अपरिष्कृत इच्छाएं आदमी को अनैतिक बनाती हैं। जब इच्छाएं प्रबल हो जाती हैं तो उनका भार मन को ढोना पड़ता है।

इच्छा और मन का बहुत गहरा संबंध है। मन का एक काम है चिंतन, दूसरा काम है कल्पना और तीसरा काम है स्मृति। मनुष्य निरन्तर चिन्तन करता है, अतीत की स्मृति में डूबा रहता है, भविष्य के ताने-बाने बुनता रहता है। प्रश्न होता है—मनुष्य के मन में कल्पना क्यों पैदा होती है? मनोविज्ञान की दृष्टि में कल्पना इच्छा की अभिव्यक्ति करती है। कल्पना का मनोवैज्ञानिक अर्थ है इच्छा की अभिव्यक्ति। इच्छा पैदा हुई और उसे प्रगट करने के लिए फिर कल्पना पैदा हुई।

चिन्तन को मनोविज्ञान के क्षेत्र में अनेक आयाम दिए गए हैं। इनमें एक मुख्य आयाम हैं—साहचर्य चिंतन। साहचर्य चिंतन का एक स्वरूप है—कल्पना। आदमी कल्पना करता है, अपनी एक इमेज बना लेता है कि मैं ऐसा हूं। एक आदमी से कहा गया—‘भाई! तुम्हारे घर की ऐसी स्थिति नहीं है और इतना कर्ज ले लिया, इतना खर्च किया, अब तुम्हारी आने वाली पीढ़ी तक को इसे भुगतना पड़ेगा।’ वह बोला—‘क्या करूं? हमारे परिवार का गरिमापूर्ण स्थान रहा है, प्रतिष्ठा रही है। उसे मैं खण्डित कैसे करूं?’ उसने प्रतिष्ठा का एक ढांचा खड़ा कर लिया। सबने ऐसा किया है और मैं ऐसा नहीं करूंगा तो समाज क्या कहेगा, जैसे-तैसे ऋण लेकर भी करे, पर उस प्रतिष्ठा को बनाए रखना होता है। यह एक कल्पना है, साहचर्य चिन्तन है।

कल्पना है मन का खेल

तीन शब्द आते हैं—दिवास्वप्न, मनोविलास और स्वप्न। मनोविलास जिस आदमी का स्वभाव होता है वह केवल मन से कल्पनाएं खड़ी करता रहता है, हवाई किले बनाता रहता है, दिवास्वप्न लेता रहता है। सोता नहीं है, जागते हुए स्वप्न लेता है। व्यक्ति में अतृप्त दमित इच्छाएं होती हैं और वे समय-समय पर अभिव्यक्त होकर विचित्र व्यवहार और आचरण करती हैं। आदमी कल्पनाएं करता रहता है। न जाने आदमी कितने मनसूबे बांधता है। ये कल्पनाएं अनैतिकता के लिए बहुत अच्छा आलंबन और सहारा बनती हैं। अनैतिक होने में इनका बड़ा हाथ होता है। एक कल्पना वह होती है, जिसे वास्तविक कहा जा सके, तर्कसंगत कहा जा सके। किंतु आदमी आधारहीन और ऐसी कल्पना कर लेता है, जिसका न सिर होता है और न पैर होता है। उसी के सहारे चलता है। वह पूरी नहीं होती है तो दुःख भोगता है। सारी कल्पनाएं मन के खेल हैं।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

जब तक इन मन के खेलों से आदमी परे नहीं हो जाता तब तक नैतिकता की बात सोचना कठिन है। बहुत प्रयत्न हो रहा है कि समाज में नैतिकता आए। किन्तु सारे प्रयत्न उलटी दिशा में जा रहे हैं। प्रश्न है नैतिकता का और समस्या है कि अनैतिकता बढ़ती जा रही है। प्रश्न है स्वास्थ्य का और समस्या है कि बीमारियां बढ़ती जा रही हैं। दवाइयां बढ़ रही हैं, हॉस्पिटल बढ़ रहे हैं, साथ-साथ बीमारियां भी उतनी ही तेजी से बढ़ रही हैं। नई-नई बीमारियां पैदा हो रही हैं। यही बात धर्म के क्षेत्र में घटित हो सकती है। धर्म का उपदेश भी बहुत बढ़ रहा है और धर्म के गुरु भी बहुत बढ़ रहे हैं। धर्म के क्षेत्र में बीसों भगवान् और अवतार

पैदा हो गए हैं। नए-नए अवतार और भगवान् पैदा हो रहे हैं। धर्म के प्रवक्ता भी बढ़ रहे हैं और साथ-साथ उतनी ही तेजी से अनैतिकता भी बढ़ रही है। ऐसा क्यों? इसका क्या कारण है? जब तक मूल समस्या पर ध्यान नहीं जाएगा, समाधान नहीं मिलेगा। जरूरी है मूल समस्या को पकड़ना।

मूल को बदलना आवश्यक

सेठ का एक लड़का काफी व्यसनी हो गया। वह शराब पीता है, जुआ खेलता है, चोरी भी करता है। जितने व्यसन हैं, उन सबमें वह लिप्त है। एक दिन सेठ ने अपने मित्र से कहा—‘भाई! मैंने बहुत प्रयत्न कर लिया पर वह कोई बात स्वीकार ही नहीं करता। मैं जानता हूँ—वह शराब पीता है, जुआ खेलता है। पूछने पर वह इन बातों को अस्वीकार कर देता है। कभी कहीं पकड़ में नहीं आता। घर और शरीर—दोनों को बरबाद कर रहा है। अगर तुम समझा सको तो बड़ा उपकार होगा।’ मित्र सेठ को आश्वस्त कर चला गया।

कुछ दिन बाद सेठ का मित्र उस लड़के के पास बैठा। उससे बात की। बातचीत के प्रसंग में उसने कहा—‘बोले भाई! तुम्हारे भीतर कोई बुराई तो नहीं है?’

‘बिल्कुल नहीं है।’

‘जुआ तो खेलते ही हो?’

‘नहीं, बिल्कुल नहीं खेलता।’

‘चोरी करते हो?’

‘नहीं, चोरी भी नहीं करता? मैं सेठ का लड़का हूँ, चोरी क्यों करूँ?’

‘क्या शराब भी नहीं पीते?’

‘शराब को कैसे छू सकता हूँ?’

वह सब कुछ अस्वीकार करता चला गया। मित्र ने पूछा—‘बताओ! तुम्हारे भीतर कोई बुराई है क्या?’

लड़के ने कहा—‘एक बुराई है, मैं झूठ बोलता हूँ।’

जब तक यह एक बुराई है तब तक वह न तो जुआ खेलता है, न शराब पीता है और करता भी है तो सच नहीं बोलता। कोई बुराई सिद्ध नहीं हो सकती। वह सबको अस्वीकार करता चला जाएगा। जब तक मूल बुराई पकड़ में नहीं आएगी, समाधान नहीं होगा। मूल बुराई पकड़ में आ गई तो सब आ गया।

मित्र ने कहा—‘तुम मेरी एक बात मानो। यह संकल्प करो कि मैं कभी झूठ नहीं बोलूंगा। तुम चाहे शराब पीओ, जुआ खेलो, पर यह संकल्प करो कि मैं झूठ नहीं बोलूंगा।’

उसने कहा—‘अच्छा! मैं दृढ़संकल्प करता हूँ कि एक माह तक झूठ नहीं बोलूंगा।’

सांझ का समय हुआ और वह शराब पीने को जाने लगा। पिता ने पूछ लिया—‘कहां जा रहे हो?’

उसने कहा—‘शराब पीने जा रहा हूँ।’

पिता ने कहा—‘शराब पीते हो?’

वह शर्मिंदा हुआ और बैठ गया।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

दूसरा प्रसंग आया। पिता ने पूछा—‘कहां जा रहे हो?’

‘जुआ खेलने जा रहा हूं।’

पिता बोला—‘जुआ खेलते हो?’

पिता चार-पांच दिन यही प्रश्न पूछता रहा और उसने हर बार सही उत्तर दिया। उस लड़के की आंखें शर्म से भर गईं, सुप्त चेतना जाग गई। उसने सोचा—‘मैं किस कुल में जन्मा हूं और कितनी बुराइयों में फंस गया हूं।’

उसका सारा चरित्र बदल गया। एक झूठ छूटा, सारी बुराइयां छूट गईं।

जब तक मूल बात पकड़ में नहीं आएगी तब तक अनैतिकता की समस्या, अनैतिक व्यवहार समाप्त नहीं होगा। जब तक अनैतिकता विद्यमान रहेगी, दो नंबर के खाते भी चलेंगे और बुराइयां भी होती रहेंगी।

मूल समस्या है मानसिकता

मूल समस्या है मानसिकता, मन के खेल। जब तक हम समाज को मन के खेल से नहीं उबार पाएंगे तब तक उसे अनैतिकता की समस्या से नहीं उबारा जा सकता। हर आदमी मन का खेल खेल रहा है। मन के खेल की समाप्ति तब संभव है जब चंचलता को कम किया जाए। हम मन से परे जाएं। यह एक नया काम है। हमने मन की एक सीमा बना रखी है, एक घेरा बना रखा है। हम मन के प्रकल्पित घेरे में जीते हैं। जब तक इस घेरे और किलेबंदी को नहीं तोड़ा जाएगा, नैतिकता की बात समझ में नहीं आएगी।

ध्यान का प्रयोग मन से परे जाने के लिए है। प्रेक्षा का मतलब है देखना। देखना मन का काम नहीं है। जब तक मन की स्थिति में रहेंगे तब तक यह संभव नहीं होगा। देखना हमारे चित्त का काम है, शुद्ध चेतना का काम है। उस चेतना का काम है, जिसमें राग और द्वेष का परिणाम नहीं है। राग-द्वेष सहित चेतना से देखना संभव नहीं होता। वहां मूर्च्छा का साम्राज्य हो सकता है। जिस क्षण चेतना में राग और द्वेष का परिणाम नहीं होता, उस क्षण का नाम है—प्रेक्षा, देखना या दर्शन।

हम स्वयं को रोज देखते हैं, शरीर को रोज देखते हैं। कब नहीं देखते? आदमी शीशे के सामने खड़ा होता है और शरीर को देखता है पर वह देखना प्रेक्षा नहीं है। वह रागात्मक देखना है। आदमी कांच के सामने जाकर खड़ा होता है और पूरा पागल नहीं होता है तो आधा पागल तो बन ही जाता है। बच्चा ही नहीं, समझदार आदमी भी कांच के सामने जाकर आधा पागल बन जाता है। कभी हाथ को उठाता है और कभी मुंह को टेढ़ा करता है। वह सोचता है—‘मैं कैसा लग रहा हूं। इसी नखरे-नखरे में वह आधा पागल बन जाता है। यह रागात्मक परिणाम है। केवल समता, तटस्थता और मध्यस्थता का नाम है प्रेक्षा। जब यह स्थिति आती है तब हम मन के परे चले जाते हैं।

चक्रवर्ती भरत ने भी कांच में अपने आपको देखा था। मनुष्य भी कांच में देखता है। फर्क क्या है? भरत कांच में देखते-देखते केवली बन गए और बहुत सारे लोग कांच में देखते-देखते पागल बन जाते हैं। एक ही स्थिति में यह अन्तर क्यों आया? वही व्यक्ति और वही कांच। एक केवली बन जाए और एक पागल बन जाए। अन्तर क्या है? जब तक मन के खेल में आदमी रहता है, पागल बनता है। उस क्षण में नैतिकता की संभावना नहीं की जा सकती। नैतिकता का विकास तब होता है जब हम मन के खेलों से परे चले जाते हैं।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

नैतिकता का आधार है परमार्थ चेतना

मन को एकाग्र करना और मन को आलम्बन देना, एक प्रयोग है। यह प्रारम्भिक विराम है, मध्यवर्ती विराम है। व्यक्ति को यहां अटकना नहीं है। पहले मन पर एकाग्र होना है और फिर किसी आलम्बन पर टिकना है। किंतु बाद में उसे भी छोड़ देना है, निरालम्ब बनना है। पहले विकल्प और फिर निर्विकल्प। पहले विचार की अवस्था में और फिर निर्विचार की अवस्था तक पहुंचना है। यह शुद्ध चेतना की भूमिका है। वहां पहुंचे बिना परमार्थ की चेतना नहीं जागती। नैतिकता का आधार है परमार्थ चेतना का विकास।

जब तक स्वार्थ चेतना प्रबल रहेगी, मन के सारे खेल खेले जाएंगे और अनैतिकता का विकास होता रहेगा। जिस क्षण परमार्थ की चेतना जाग जाएगी, अनैतिकता का आधार हिल जाएगा, उसकी सम्भावना समाप्त हो जाएगी। जिसमें परमार्थ की चेतना जाग गई, वह अनैतिक हो ही नहीं सकता। जो अनैतिक आचरण और व्यवहार करता है उसमें परमार्थ की चेतना जागी ही नहीं है। यह एक तर्कशास्त्रीय नियम, व्याप्ति बनाई जा सकती है।

अनैतिकता का आधार है स्वार्थ

तर्कशास्त्र में एक व्याप्ति है—जहां-जहां धुआं होता है वहां-वहां अग्नि होती है। यह एक नियम बन गया। एक नई तर्कशास्त्रीय व्याप्ति बनाई जा सकती है—जहां-जहां स्वार्थ की चेतना है वहां-वहां अनैतिकता है और जहां-जहां परमार्थ की चेतना है वहां-वहां नैतिकता है।

नैतिकता तभी संभव है जब हम मन की चंचलता से परे जाते हैं। बड़ी समस्या है चंचलता की। वर्तमान समाज में जितनी मानसिक चंचलता बढ़ी है, अतीत में रही या नहीं, कहा नहीं जा सकता। पदार्थ के विकास के साथ-साथ चंचलता बढ़ती है। गति के साथ-साथ भी चंचलता बढ़ती है। जो गति की तीव्रता आई है, उसने चंचलता को बढ़ावा दिया है, धैर्य का हास किया है। आदमी धैर्य रख ही नहीं सकता, प्रतीक्षा कर ही नहीं सकता। चंचलता बढ़ी है, अधैर्य बढ़ा है, असहिष्णुता बढ़ी है। प्राचीनकाल में कहा गया—जिसमें धृति नहीं होती, वह साधना नहीं कर सकता। आज धृति जैसी बात ही नहीं है। आदमी धैर्य रख ही नहीं सकता। आधा आधा घंटा में डॉक्टर बदल लेता है, जीवन साथी बदल लेता है। धैर्य नाम की वस्तु ही कहां है? मन की इतनी चंचलता बनी रहे और अनैतिकता की समस्या का समाधान हो जाए, यह संभव नहीं लगता।

चंचलता में निहित है अनैतिकता का बीज

नैतिक विकास के लिए मन की चंचलता को कम करना बहुत जरूरी है। यह नहीं कहा जा सकता कि समाज का हर आदमी मन से परे चला जाएगा। एक साधक के लिए कहा जा सकता है कि वह मन के खेलों को छोड़ देगा और शुद्ध चेतना की भूमिका में चला जाएगा। सामाजिक प्राणी समाज का जीवन जीता है, समुदाय में रहता है और व्यवहार में जीता है। व्यवहार की भूमिका पर जीवन की यात्रा चलाता है। वह मन के खेल से परे चला जाए, मनोतीत हो जाए—प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह संभव नहीं होगा। मन की जिस मात्रा में चंचलता बढ़ी है, उसे कम किया जा सकता है। जैसे-जैसे चंचलता कम होगी, वैसे-वैसे



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अनैतिकता भी कम होती चली जाएगी। जैसे-जैसे दवा काम करेगी, वैसे-वैसे घाव की जलन भी कम होती चली जाएगी। मन में एक जलन पैदा हो गई, दुःख पैदा हो गया और अनैतिकता का स्रोत फूट पड़ा। चंचलता दुःख पैदा करती है और दुःख अनैतिकता को पैदा करता है।

मूल्य ध्यान का

आदमी दुःख को सहन नहीं कर सकता, वह दुःख को मिटाना चाहता है। जैसे-तैसे मिटाता है तो अनैतिकता आती है। यदि चंचलता को कम किया जाएगा तो दुःख का संवेदन कम हो जाता है। जैसे ही चंचलता कम होती है, दुःख का संवेदन कम हो जाता है। यह सारा प्रमाणित किया जा सकता है, यांत्रिक स्तर पर एक ग्राफ चलाकर बताया जा सकता है। जितनी चंचलता उतना दुःख और जितना दुःख उतनी ही अनैतिकता। जितनी-जितनी मन की एकाग्रता उतना-उतना सुख और उतनी-उतनी नैतिकता। यह एक नियम बन सकता है, व्याप्ति बन सकती है। अगर इस नियम के आधार पर हम चिंतन करें तो ध्यान का मूल्य समझ में आएगा। ध्यान का बहुत मूल्य है। केवल मानसिक तनाव को मिटाने के लिए ही नहीं किंतु मन में जो अनैतिकता की भावना जागती है, उसे कम करने के लिए भी मन की चंचलता को कम करना बहुत आवश्यक है। मैं समझता हूं समाज जिस दिन यह सचाई समझ पाएगा, अनैतिकता की समस्या का समाधान सूत्र हमारे हाथ आ जाएगा और इसका जीवन में प्रयोग किया गया तो नैतिकता की संभावना बहुत बढ़ जाएगी।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

नैतिकता और संयम

सारे संसार का अध्ययन करें तो मानव व्यवहार में एकरूपता दिखाई नहीं देती। किसी भूखंड में मानवीय व्यवहार एक प्रकार का है और किसी भूखंड में मानवीय व्यवहार दूसरे प्रकार का है। यह नैतिकता की एक बहुत बड़ी समस्या है। हिन्दुस्तान में एक प्रकार का व्यवहार मिलता है। यूरोप और अमेरिका में दूसरे प्रकार का व्यवहार मिलता है। वहां छोटी-छोटी बात के लिए अनैतिक आचरण नहीं होता। मिलावट करना, किसी की चीज उठा लेना, इस प्रकार की अनैतिकता वहां नहीं मिलती। जो क्रय-विक्रय के लिए जाता है वह पूरा दाम चुका देता है। एक दूसरे पर विश्वास होता है, भरोसा होता है। ऐसा लगता है—विदेशी बाजारों में विश्वास ज्यादा चलता है। वर्तमान में भारत की जो स्थिति है, इसमें अविश्वास ज्यादा चल रहा है। कोई किसी पर भरोसा नहीं करता। अगर एकांत में किसी की चीज पड़ी मिल जाए तो व्यक्ति उसे उठा लेगा। मिलावट भी चलती है और चोरी भी। यह अन्तर क्यों? क्या कारण है? क्या यह मानें कि वहां धर्म ज्यादा है, यहां धर्म कम है? यदि धर्म और नैतिकता का कोई संबंध है तो इस विषय में खोज करनी होगी, अनुसंधान करना होगा।

यूरोप और अमेरिका में सत्ता और साम्राज्य स्थापित करने की जितनी भावना प्रतीत होती है उतनी भारत में नहीं है। वहां पूरी मानव जाति के संहार के लिए तैयारियां हुई हैं। कुछ ही घंटों में पूरी मानव जाति को समाप्त किया जा सकता है। हिन्दुस्तान में ऐसा नहीं है। आज भी भारत का यही निर्णय है—अणुशस्त्रों का निर्माण नहीं करेंगे। इस संदर्भ में देखें तो यहां नैतिकता बहुत अच्छी लग रही है और वहां नैतिकता की कमी प्रतीत हो रही है। बहुत जटिल समस्या है नैतिकता की। पूरे भूखंड में मनुष्य का व्यवहार एक जैसा नहीं है। अलग-अलग भूखंडों में अलग-अलग प्रकार के व्यवहार बन गए। इसका कारण क्या है?

नैतिकता की प्राणशक्ति

नैतिकता के साथ कुछ बातें जुड़ी हुई हैं। उनमें पहली बात है—संयम। संयम के बिना नैतिकता की कल्पना नहीं की जा सकती। हमारी जो नैतिकता की प्राण-शक्ति है, जीवनी-शक्ति है, वह संयम है। जहां

यह प्राण-शक्ति नहीं है वहां नैतिकता नहीं हो सकती। संयम बहुत कठोर शब्द है। प्रिय नहीं है। आदमी को जितना सुख प्रिय है उतना संयम प्रिय नहीं है। कुछ चीजें प्रिय होती हैं, पर हितकर नहीं होतीं। कुछ चीजें हितकर होती हैं, पर प्रिय नहीं होतीं। संयम भी वैसा ही है। वह हितकर तो है पर प्रिय नहीं है। असंयम जितना प्रिय है उतना हितकर नहीं है। पर संयम बिल्कुल प्रिय नहीं है। यहीं नैतिकता उलझ जाती है। यह कहा जा सकता है—नैतिकता के बिना यदि समाज स्वस्थ नहीं रह सकता तो संयम के बिना नैतिकता भी स्वस्थ और सप्राण नहीं बन सकती। संयम होगा तभी नैतिकता की कल्पना की जा सकेगी। उसके अभाव में नैतिकता आकाशकुसुम जैसी बनी रहेगी।

मोक्ष का साधन क्या ?

जैन आगम का एक शब्द है—परिज्ञा। परिज्ञा का अर्थ है जानना, पर केवल जानना ही नहीं है। परिज्ञा के दो अर्थ हैं—जानना और छोड़ना। ज्ञ परिज्ञा है जानने वाली परिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा है हेय को छोड़ने वाली परिज्ञा, आचरण करने वाली परिज्ञा। दोनों को अलग नहीं किया जा सकता। यह नहीं हो सकता कि ज्ञ परिज्ञा तो है, प्रत्याख्यान परिज्ञा नहीं है। दोनों संयुक्त होनी चाहिए। अगर सही अर्थ में जान लिया तो फिर आचरण वैसा होगा ही। हमने सही अर्थ में जान लिया कि जहर खाने वाला आदमी मरता है। कोई भी समझदार आदमी जहर नहीं खाता। जहर वही खाता है जिसे मरना होता है।

जहां ज्ञान सत्य हो गया, यथार्थ हो गया, वहां ज्ञान और आचरण में दूरी नहीं हो सकती। दोनों एक साथ चलेंगे। एक त्रिपदी या रत्नत्रयी है—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। ये तीन रत्न हैं मोक्ष की साधना के लिए। दर्शन अगर सम्यक् है, ज्ञान सम्यक् है तो फिर आचरण सम्यक् होगा ही। पूछा गया—मोक्ष किससे होता है? सम्यक् दर्शन से होता है या सम्यक् चारित्र से होता है? उत्तर दिया गया—न सम्यक् दर्शन से मोक्ष होता है और न सम्यक् ज्ञान से मोक्ष होता है और न सम्यक् चारित्र से मोक्ष होता है। जब तीनों मिल जाते हैं तब मोक्ष होता है। जब ज्ञान और आचरण बंट जाता है, विभक्त हो जाता है तो वह ज्ञान भी सम्यक् नहीं होता और वह आचरण भी सम्यक् नहीं होता।

ज्ञान और आचरण की दूरी मिटे

यदि ज्ञान पूरा सम्यक् हो गया तो फिर आचरण गलत कैसे होगा? आचरण गलत है तो मान लेना चाहिए कि ज्ञान पूरा सम्यक् नहीं हुआ। आचारांग सूत्र में कहा गया—जो समत्वदर्शी या सम्यग्दर्शी है वह पाप नहीं कर सकता और जो पाप करता है वह समत्वदर्शी नहीं हो सकता, सम्यग्दर्शी नहीं हो सकता। यह सिद्धांत गहन है पर मनन करने योग्य है। हमारा ज्ञान तभी परिपक्व और यथार्थ ज्ञान माना जाएगा जब ज्ञान और आचरण की दूरी बिल्कुल समाप्त हो जाएगी। 'मैं जानता हूं पर करता नहीं हूं', 'जानता कुछ हूं और करता कुछ हूं,' जब यह दूरी बनी रहती है तब जानना भी उलटा हो जाता है और करना भी उलटा हो जाता है। यह दूरी समाप्त होने पर सही ज्ञान और सही आचरण संभव है। ऐसा लगता है—सम्यक् दर्शन का विकास कुछ भूखंडों में एक प्रकार का हुआ है और कुछ भूखंडों में दूसरे प्रकार का हुआ है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

समस्या है मानवीय प्रकृति की

हिन्दुस्तान में संयम पर बहुत काम हुआ है। उसका बहुत विकास हुआ है, साधना हुई है। भगवान् महावीर का पूरा जीवन-दर्शन संयम का दर्शन है। अहिंसा की परिभाषा है—सब जीवों के प्रति संयम करना। प्रत्येक बात में संयम को महत्त्व दिया गया है। पतंजलि ने यम-नियम को बहुत महत्त्व दिया। किन्तु एक समस्या हमेशा बनी रही। वह समस्या है मानवीय प्रकृति की और मनोविज्ञान की भाषा में मौलिक मनोवृत्तियों की। मनुष्य में कुछ ऐसे संस्कार, ऐसी मौलिक मनोवृत्तियां हैं जिन्हें इंस्टिंक्ट कहा जाता है।

चरित्र का संबंध मौलिक मनोवृत्तियों से नहीं जोड़ा गया क्योंकि ये मौलिक मनोवृत्तियां आदमी को चरित्र की ओर प्रेरित नहीं करती। भूख, युद्ध की भावना, युयुत्सा, जीने की इच्छा, सेक्स, काम-वृत्ति—ये जितनी मौलिक मनोवृत्तियां हैं, आदमी को संयम की ओर नहीं ले जातीं। इसीलिए आचारशास्त्रियों और नीतिशास्त्रियों ने चरित्र के संबंध में इच्छा पर बहुत बल दिया किन्तु मौलिक मनोवृत्तियों को महत्त्व नहीं दिया, उनका मूल्य नहीं माना। मनोविज्ञान के क्षेत्र में मौलिक मनोवृत्तियां बहुत मूल्यवान मानी जाती हैं किन्तु चरित्र के क्षेत्र में इन पर कोई विचार नहीं किया गया। क्योंकि ये आदमी को चरित्र की दिशा में प्रेरित नहीं करतीं। हमारे विकास में बाधक हैं ये मौलिक मनोवृत्तियां। मनुष्य में लोभ का संस्कार है, स्वार्थ का संस्कार है और सुख का संस्कार है। लोभ, स्वार्थ और सुख की भावना—ये संयम के लिए बड़ी बाधाएं हैं। इसीलिए संयम प्रधान नैतिकता की बात फलित नहीं होती। प्रयत्न हजारों वर्षों से हो रहे हैं, पर आज भी आदमी का दृष्टिकोण जितना सुखवादी है, उतना संयमवादी नहीं है और संयमवादी नहीं है इसीलिए अनैतिकता की बात चलती है, नैतिकता की बात मंद हो जाती है।

प्रतिबंध का बिन्दु

हर आदमी सुख चाहता है, सुविधा चाहता है। मैं बहुत बार सोचता हूं—एक आदमी सुख चाहता है और सुविधा चाहता है, भोग चाहता है। दूसरा भी चाहता है और तीसरा भी चाहता है। हर आदमी चाहता है। सुख के साधन भी चाहता है। यानी सुख चाहने का मतलब सुख के साधन चाहना भी है। सुख के साधन चाहता है तो उनकी प्राप्ति भी चाहता है। सुख की आकांक्षा, साधन को पाने की आकांक्षा मन में है, साधन चाहिए, उनकी प्राप्ति होनी चाहिए।

अगर हम केवल इसी बात पर विचार करें कि प्राप्ति के साधन शुद्ध हों तो यह बात चलेगी नहीं। इसे रोका भी नहीं जा सकता, टोका भी नहीं जा सकता। हम यह कहें—साधन-शुद्धि के साथ व्यापार करो। साधन-शुद्धि बरतो। कभी भी सम्भव नहीं है। इस पर कभी प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता। प्रतिबंध कहाँ लगेगा? इसका बिन्दु कौन-सा है? उसे हम पकड़ें। वह बिन्दु है सुख की आकांक्षा।

अगर हमारी सुख की आकांक्षा कम है तो साधन कम जरूरी होंगे। कम साधन की जरूरत होगी तो प्राप्ति का साधन अपने आप शुद्ध बन जाएगा। सुख की आकांक्षा प्रचुर है तो साधन भी प्रचुर चाहिए। प्राप्ति केवल शुद्ध ढंग से हो, यह संभव लगता नहीं है। यद्यपि हमारा प्रयत्न यही होता है कि प्राप्ति के साधन शुद्ध हों, अर्जन के साधन शुद्ध हों, अनैतिक न हों। हमारे भीतर सुख की आकांक्षा विद्यमान है। सुख चाहिए, दूसरे को चाहिए और तीसरे को चाहिए, सबको चाहिए। यह वृत्ति अपना काम कर रही है और



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

हम प्रतिबंध लगाना चाहें कि तुम साधन शुद्ध रखोगे और जो प्राप्त करना है बिल्कुल सही तरीके से प्राप्त करोगे। कब संभव होगा? भीतर से पानी का वेग आ रहा है। पाल कमजोर है। वह वेग उस पर ऐसा धक्का मारेगा कि पाल टूट जाएगी। जब तक हम मूल बात को नहीं पकड़ेंगे, सुख की आकांक्षा को कम नहीं करेंगे तब तक साधन-शुद्धि की बात का कोई सार्थक परिणाम नहीं आएगा।

कृत्रिम साधनों का अस्वाभाविक प्रयोग घातक

नैतिकता का पहला बिन्दु है संयम, सुख की आकांक्षा का संयम। मन में सुख पाने की जो आकांक्षा है, उसका संयम करो। सुख की अनुभूति तो होती है पर वह बहुत काम की नहीं है। एक आदमी गर्मी के मौसम में वातानुकूलित मकान में जाकर बैठ जाता है और सोचता है—पहले कितने दुःख में था और अब कितने सुख में आ गया। उसे सुख की अनुभूति होती है, अच्छा भी लगता है पर वह बहुत काम का नहीं है। जिस व्यक्ति ने निरंतर वातानुकूलन में रहना पसंद किया है, उसने साथ-साथ बीमारियां भी पाली हैं। वातानुकूलन में शरीर की रोग-प्रतिरोधक क्षमता कम होने लग जाती है। जो व्यक्ति गर्मी और सर्दी को सह सकता है, उसमें जितनी रोग-प्रतिरोधक क्षमता होगी, उतनी वातानुकूलित में रहने वाले में नहीं होगी। जो आदमी आदि प्राकृतिक आपदाओं को सहन नहीं करता, उसके बचाव के लिए हमेशा कृत्रिम साधनों का प्रयोग करता है, उसका परिणाम अच्छा नहीं होता। रोग विशेषज्ञों की परिषद् में एक कार्डियोलोजिस्ट ने कहा—जिसमें कृत्रिम खाद दी जाती है, वे चीजें खाना हार्ट के लिए बहुत हानिकारक हैं। बड़ा अजीब है विज्ञान का जगत्। पहले कृत्रिम खाद का प्रचार किया जाता है। अधिक उपजाओ, खाद का प्रयोग करो। कुछ समय के बाद कहा जाता है—कृत्रिम खाद से उपजे पदार्थ मत खाओ, हार्ट कमजोर हो जाएगा। किसकी बात मानें, कृत्रिम खाद देने वाली बात मानें या न देने वाली बात को मानें। जब प्रकृति के साथ अतिरिक्त छेड़छाड़ होती है और अधिक कृत्रिम साधनों का अस्वाभाविक प्रयोग होता है, वह मनुष्य के लिए हितकर नहीं होता।

यह अधिक सुख की आकांक्षा, हमेशा दुःख से बचने का प्रयत्न, कठिनाई से बचने की अभीप्सा और अधिक सुविधावादी दृष्टिकोण आदमी को ऐसे जाल में फंसा देता है जिससे उसे अधिक कठिनाई और परेशानियां भुगतनी पड़ती हैं।

प्राणतत्त्व के हास का कारण

हमें रोग से बचाता है हमारा प्राण-तंत्र। उसे मेडिकल साइन्स की भाषा में प्रतिरोधात्मक शक्ति कहते हैं। कृत्रिम संसाधनों से व्यक्ति अधिक दुःखी बन जाता है। हम मूल बात पर विचार करें कि संयम का सबसे पहला तत्त्व क्या है? कहां संयम करें? सबसे पहले संयम करें सुख की आकांक्षा का। सुख की जो एक प्रबलतम इच्छा है उसको कम करें। केवल सुख ही सुख की बात न करें। वस्तुतः सारी प्रकृति और हमारे जगत् में केवल सुख की बात है ही नहीं। प्रत्येक सुख के साथ दुःख जुड़ा हुआ है।

एक आदमी बहुत खाता है, पेटू है। उसे खाने से सुख मिलता है पर खाने के बाद क्या होता है? क्या सुख ही मिलता है? नहीं, बहुत दुःख मिलता है। रोगी भी बनता है, सूगर आदि अनेक बीमारियों से



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

घिर जाता है। वह अधिक खाने की आदत को बनाए रखने के लिए बहाना भी खोज लेता है और मार्ग भी खोज लेता है।

मालिक ने रसोइये से कहा—‘देखो, आज एक समस्या पैदा हो गई है।

नौकर ने पूछा—‘मालिक! क्या समस्या है?’

मालिक ने कहा—‘आज मेरी नौकरी छूट गई है और जब तक नई नौकरी न लगे तब तक बड़ी परेशानी है। तुम एक बात का ध्यान रखना। रसोई में ज्यादा खर्च मत करना। बहुत सीधा-सादा भोजन बनाना। घी, दूध का ज्यादा खर्च मत करना।’

नौकर ने कहा—‘ठीक है।’ भोजन का समय आया। उसने मालिक को रूखी रोटियां परोस दीं और स्वयं खूब घी और दूध के साथ रोटी खाने लगा।

मालिक ने कहा—‘अरे मूर्ख! मैंने क्या कहा था कि संयम बरतना है और रूखा-सूखा खाना है।’

नौकर ने कहा—‘मालिक! नौकरी आपकी छूटी है, मेरी नहीं छूटी है।’

मूल प्रेरणा है सुख की आकांक्षा

आदमी तर्क खोज लेता है। बड़े बहाने होते हैं। क्योंकि भीतर में जो आकांक्षा बैठी है उसे पूरा किए बिना काम नहीं चलता। हमारे सामने एक जटिल प्रश्न है। हम नैतिकता की बहुत चर्चा करते हैं और उसका बहुत विकास चाहते हैं। हर आदमी यह सोचता है कि भ्रष्टाचार मिटना चाहिए, अनैतिकता मिटनी चाहिए। इतना भ्रष्टाचार और इतनी अनैतिकता! जहां कहीं भी जाओ, बड़ी समस्या और बड़ी कठिनाई का अनुभव होता है और उसको मिटाने के लिए बहुत सारे प्रयत्न भी हो रहे हैं। किंतु समस्या वैसी ही उलझी हुई है और कारण भी बहुत साफ है। हमारी प्रकृति है—हमारे जो सामने आता है हम उसी पर प्रहार कर देते हैं। हम इस बात पर बल देते हैं कि भाई नैतिक रहो, शुद्ध रहो। हम इस बात पर ध्यान दें कि व्यवहार को कौन अशुद्ध बना रहा है? यह प्रेरणा कहां से आ रही है? जब तक उस प्रेरणा पर विचार नहीं करेंगे तब तक समाधान नहीं मिलेगा। वह प्रेरणा आ रही है सुख की आकांक्षा में से। सुख की आकांक्षा और स्वार्थ अनैतिकता की मूल प्रेरणाएं हैं।

आदमी के मन में एक प्रेरणा जाग गई है कि मुझे प्रसिद्ध होना है। भीतर में एक आकांक्षा है प्रसिद्धि की। वह उपाय करेगा कि मैं प्रसिद्ध बनूं। उपाय किया और प्रसिद्धि नहीं हुई तो फिर भीतर से प्रेरणा आएगी कि जैसे-तैसे प्रसिद्ध बनो।

हम देखें—हमारे भीतर में क्या-क्या प्रेरणाएं छिपी हुई हैं। असंयम की प्रेरणा, सुख की प्रेरणा, प्रसिद्धि की प्रेरणा—ये सारी छिपी हुई प्रेरणाएं हैं। ये जब तक कम नहीं होतीं, इनका संयम नहीं होता तब तक साधनों को कम करने और साधनों को शुद्ध ढंग से पाने की बात, व्यवहार शुद्धि या नैतिकता की बात बहुत कमजोर बन जाती है। इसलिए हमें सबसे ज्यादा ध्यान देना है मूल समस्या पर और मूल स्रोत पर, जहां से ये सारी बीमारियां फूट कर आ रही हैं। वह स्रोत है सुख की आकांक्षा।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

समाधान की भाषा

नैतिकता के क्षेत्र में अनेक पश्चिमी दार्शनिकों ने सुखवादी नैतिकता पर भी विचार किया है। किंतु भारतीय साधना पद्धति के संदर्भ में जिस बात पर अधिक बल दिया गया, वे हमारे बहुत परिचित शब्द हैं—संयम, यम और नियम। यदि इन तीनों पर ध्यान दें तो नैतिकता की बात कुछ सुलझ सकती है। जब तक इन पर हमारा गहरा चिंतन नहीं होगा तब तक असंयम भी चलता रहेगा, अनैतिकता भी चलती रहेगी और नैतिकता के लिए घोषणाएं भी होती रहेंगी, पछतावा भी होता रहेगा और भारतीय समाज कितना रसातल तक चला गया है, इसके अनुताप का स्वर भी उभरता रहेगा। किन्तु कोई परिणाम आ सकेगा, ऐसा मुझे नहीं लगता। इसलिए हमें मूल बीमारी को पकड़ना है और मूल स्रोत तक पहुंचना है। वहां पहुंचकर ही हम समाधान की भाषा में बोल सकेंगे।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

15

नैतिकता और व्यवहार

सामाजिक जीवन जीने वाला व्यक्ति अकेला नहीं जीता, दूसरों के साथ जीता है। दूसरों के साथ सबसे अधिक प्रसंग आता है व्यवहार का। आदमी के व्यवहार का मूल्यांकन करते समय यह प्रश्न आता है कि किस व्यवहार को अच्छा मानें और किसे बुरा मानें? किस व्यवहार को शुभ मानें और किसको अशुभ मानें? किस व्यवहार को सत् और पुण्य मानें और किसको असत् और पाप मानें?

सुख का आधार

भारतीय चिंतन में व्यवहार की चर्चा पुण्य-पाप, सत्-असत् के आधार पर की गई है। पश्चिम आचार-शास्त्र में व्यवहार की चर्चा शुभ और अशुभ के आधार पर हुई है। मूल प्रश्न एक ही है कि अच्छे और बुरे व्यवहार की कसौटी क्या है? क्या हम व्यक्ति की इच्छा को कसौटी मानें या कोई ऐसा मानदंड है जो सार्वभौम कसौटी बन सके?

इस कसौटी के प्रश्न पर अनेक शाखाओं ने चिंतन किया है। अनेक मनोवैज्ञानिक और नीतिशास्त्रीय कसौटियां हैं। उनमें एक कसौटी है सुखवाद। आचारशास्त्र में इसको दो भागों में विभक्त किया गया—मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नीतिशास्त्रीय सुखवाद। मनोवैज्ञानिक सुखवाद का मूल प्रतिपाद्य यह है कि जिस आचरण से व्यक्ति को सुख मिले, जो सुखद हो, वह नैतिक है। जिस आचरण से दुःख की अनुभूति हो, दुःख मिले, जो दुःखद हो, वह अनैतिक है। स्वभाव से ही सभी प्राणी सुख चाहते हैं, दुःख नहीं चाहते। इस स्वाभाविकता को मनोविज्ञान ने सुख का आधार माना।

आचारांग सूत्र का वाक्यांश है—‘सुहसाया दुहपडिकूला’—सभी सुख चाहते हैं, दुःख किसी को प्रिय नहीं है। सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है। प्रत्येक प्राणी अनुकूल वेदना चाहता है, प्रतिकूल वेदना कोई नहीं चाहता। यह एक स्वभाव है। इस स्वभाव को आचार की, नैतिकता की और व्यवहार की कसौटी बना

लिया गया है। इसके आधार पर जो सुखद है, अनुकूल है वह नैतिकता है और जो दुःखद है, प्रतिकूल है वह अनैतिकता है।

प्रारम्भिक निष्कर्ष में यह बात बहुत अच्छी लगती है कि वह व्यक्ति नैतिक है जो सुख पहुंचाता है। दुःख देने वाला कभी नैतिक नहीं हो सकता। किन्तु विमर्श करने पर यह कसौटी ठीक नहीं बैठती। यदि हम यह मान लेते हैं कि जो सुखद है, जो सुख देने वाला है, जिससे सुख होता है, वह नैतिक है तो अनेक उलझनें पैदा हो जाती हैं। उससे समाज की व्यवस्था गड़बड़ा जाती है। शराबी को शराब पीने में जैसी अनुभूति होती है वैसी और किसी बात में नहीं होती।

क्या हम मान लें कि शराब सुखद है, सुख देती है इसीलिए शराब पीने का व्यवहार नैतिक है? यदि इसे नैतिक व्यवहार मान लेते हैं तो फिर अनैतिक कर्म कोई बचेगा ही नहीं।

एक नहीं है सुख की परिभाषा

सुख की परिभाषा एक नहीं है, अनेक हैं। यह भिन्न-भिन्न रुचियों और इच्छाओं पर आधारित है। इसे एक घेरे में बांधा नहीं जा सकता। हजार व्यक्तियों की सुखानुभूति के हजार प्रकार हो सकते हैं। किसी को क्रोध करने में सुख की अनुभूति होती है तो किसी को पत्नी को पीटने में सुख मिलता है। किसी को दूसरों को छेड़ने में आनन्द और सुख मिलता है तो किसी को गाली देने में, चेलेंज देने में सुख की अनुभूति होती है।

खलील जिब्रान ने एक सुन्दर कथा लिखी है। एक आदमी जा रहा था। उसने एक खेत में “हड़प्पा” (घास की पुरुषाकृति) देखा। वह उसके पास गया, पूछा—‘अरे! तुम रात-दिन यहां खड़े रहते हो, क्या थक नहीं जाते? क्या परेशान नहीं होते?’

हड़प्पा बोला—‘थकान का अनुभव ही नहीं होता, क्योंकि मुझे पशु-पक्षियों को डराने में बड़ा मजा आता है, सुख मिलता है।’

उस आदमी ने कहा—‘अरे! दूसरों को डराने में तो मुझे भी आनंद आता है।’

हड़प्पा बोला—‘लगता है, तुम भी मेरी तरह बनावटी आदमी हो।’

सुख की अनुभूति के अनेक निमित्त हैं। किसी को डराने में, किसी को पीटने में, किसी को छेड़ने में, किसी को हंसने में, किसी को रोने में सुख का आस्वाद आता है। यदि इस सुख की अनुभूति के आधार पर नैतिक और अनैतिक व्यवहार की व्याख्या करें, उसे सार्वभौम कसौटी मान लें तो नैतिकता और अनैतिकता के विभाग की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। फिर जो भी करें, जैसा भी करें, जिससे सुख मिलता है वह नैतिकता है। बुरे-भले का विभाग मिट जाएगा। बुरा काम करने वाला भी कहेगा—तुम कौन होते हो मुझे इस काम से रोकने वाले। यह नैतिक काम है, मुझे इससे सुख मिलता है। फिर कोई काम बुरा नहीं होगा। सभी आदमी सुख की दुहाई देकर कुछ भी करते हुए नहीं हिचकिचाएंगे।

दुःख : जागृति का सूत्र

दुःख से आदमी घबराता है। दुःख कोई बुरी बात नहीं है। वह नई चेतना को जगाने के लिए आता है। नया संकट आता है, आदमी दुःखी बन जाता है और उस दुःख के कारण उसमें नई जागृति आती है। अनेक



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

भक्त साधकों के प्रार्थना के स्वर हैं—भगवान्! यदि आप मुझे वर देना चाहें तो मेरी मनोकामना पूरी करें कि मुझे दुःख आता रहे। कुंती ने भगवान् से प्रार्थना की—मुझे दुःख मिले। पूछा गया—क्यों? उसने कहा—दुःख आता है तो आपकी स्मृति होती है। सुख में आपकी विस्मृति हो जाती है। यह दोहा भी इसी का प्रतीक है—

दुःख में सुमिरण सब करे, सुख में करे न कोय।

जो सुख में सुमिरण करे, तो दुःख काहे का होय।

यह अनुभूति का स्वर है। दुःख में सारे भगवान् याद आ जाते हैं। जब सुख आता है तब भक्तजन भगवानों को सुला देता है, भूल जाता है। इस दृष्टि से दुःख बुरा नहीं होता।

पहाड़ पर चढ़ना कठिन होता है, पर ऊपर जाने के पश्चात् सुख की जो अनुभूति होती है, वह नीचे खड़े व्यक्ति को नहीं होती। चढ़ते समय कष्ट होता है, दुःख होता है पर शिखर का स्पर्श करते ही वह भुला दिया जाता है।

स्थायी होता है दुःख से प्राप्त ज्ञान

कुछ लोग कहते हैं—जैन मुनि बहुत कष्ट सहते हैं, दुःख झेलते हैं। ऐसे कष्टमय या दुःखमय जीवन से क्या होना जाना है? जीवन में सुख होना चाहिए। यह एक यथार्थ है कि जिस व्यक्ति ने सुख से जो पाया, वह थोड़ा-सा दुःख आने पर चला जाएगा। एक आचार्य ने लिखा है—**सुहेण भावितं नाणं, दुहे जादे विणस्सति।**

आचार्य कुंदकुंद और उत्तरवर्ती आचार्यों ने इस गाथा का अनुसरण किया है। कहते हैं—सुख से भावित ज्ञान दुःख आने पर समाप्त हो जाता है। दुःख से प्राप्त ज्ञान, दुःख से भावित ज्ञान दुःख आने पर नष्ट नहीं होता। हमारी यह जनभाषा है कि सीधी पूंजी किसी को हस्तगत होती है तो वह खतरा पैदा करती है। वह बहुत सताती है। आज जो अनैतिकता की समस्या है उसका एक कारण यह भी है। बाप का धन बेटे को मिल जाता है। यह वास्तव में एक समस्या है। साम्यवादी शासन प्रणाली में स्वामित्व की सीमा की गई और उत्तराधिकार की बात समाप्त की गई कि बाप का धन बेटे को नहीं मिलेगा। यह बात एक सीमा तक उचित है और अनैतिकता के लिए अवरोधक है।

दो भ्रांतियां भारतीय जीवन में

दो भ्रांतियां भारतीय जीवन में चल रही हैं। एक है सात पीढ़ी की चिंता करना और दूसरी है बपौती पर स्वयं का अधिकार होना। जो व्यक्ति सात पीढ़ी को सुखी बनाने की कल्पना से चलता है वह अनैतिक व्यवहार क्यों नहीं करेगा? जब व्यक्ति अपने जीवन की चिंता करता है कि मुझे 50, 60, 90 वर्ष तक जीना है, उस जीवन को कैसे जीऊँ, जिससे शांति बनी रहे—इस चिंतन के परिप्रेक्ष्य में दूसरे प्रकार का व्यवहार और आचरण होगा। जो बेटे-पोते को सुखी बनाने की चिंता में जीता है, उसका व्यवहार भिन्न होगा, आचरण भिन्न होगा।

सीधा धन मिलना भी समस्या पैदा करता है। व्यक्ति को आलसी और विलासी बनाता है। जिस व्यक्ति ने स्वयं धन नहीं कमाया, पसीना नहीं बहाया, पुरुषार्थ नहीं किया, बाप-दादों की कमाई जिसे सीधी



**नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत**

मिल गई, वह यदि बुराइयों से बचे तो विलक्षण बात है और न बचे तो स्वाभाविक बात है, क्योंकि वह धन प्रमाद से मिला है इसलिए उसे प्रमत्त बनाएगा ही। उसे यह अनुभव ही नहीं है कि पैसा कैसे कमाया जाता है इसीलिए वह पैसे को पानी की तरह बहाने में नहीं हिचकिचाता। यह प्रवृत्ति उसे बुराइयों में ढकेलती है।

जरूरी है सुखवादी चिंतन का बदलना

इन समस्याओं के संदर्भ में जब हम नैतिकता की बात करते हैं तो सुखवादी और सुविधावादी चिंतन को भी बदलना जरूरी होता है। सीधा मिला हुआ या सुख से मिला हुआ धन पग-पग पर खतरा उपस्थित करता है। जो व्यक्ति अपने पुरुषार्थ के द्वारा कष्ट सहकर कमाता है, उसका धन दुःख पड़ने पर भी नष्ट नहीं होता और सुख से प्राप्त धन शीघ्र खत्म हो जाता है। इसलिए यह अनुभव वाणी है कि सुख से भावित ज्ञान या सुख से भावित प्राप्ति दुःख आने पर चली जाएगी। दुःख से भावित ज्ञान या प्राप्ति दुःख-काल में जाती नहीं, साथ देती है। जो सैनिक सदा आराम-तलबी का जीवन बिताते हैं, वे युद्ध की वेला में विजयी नहीं बन सकते। जिन सैनिकों ने कष्ट सहा है, अपने आपको कष्टों में खपाया है, वे विकट स्थिति में भी विजय पा लेते हैं।

जर्मनी ने अफ्रीका पर आक्रमण किया। सैनिक लड़खड़ा गए, क्योंकि वे वहां की गर्मी को बर्दास्त नहीं कर सके। वे ठंडे मुल्क के वासी थे। उन सैनिकों को उस गर्मी में रखा गया, उस गर्मी से अभ्यस्त किया गया और फिर सफलता मिल गई।

सुविधा और मूर्च्छा

एक संन्यासी, तपस्वी, साधक या मुनि को कष्ट सहने पड़ते हैं, दुःख सहने पड़ते हैं, कठोर जीवन जीना होता है, अभाव का जीवन जीना होता है। यह तथ्य है। जब तक ऐसा जीवन नहीं जिया जाता तब तक मूर्च्छा-भंग नहीं होती और मूर्च्छा-भंग के बिना सफलता नहीं मिलती। मूर्च्छा को तोड़ने के लिए कठोर जीवन जीना एक अनिवार्यता है। सुविधा मूर्च्छा को पुष्ट करती है, उसे बढ़ाती है। जिस व्यक्ति ने सुविधा का जीवन जिया है, उसकी मूर्च्छा बहुत सघन हो जाती है।

सुविधा दो प्रकार की होती है—शारीरिक सुविधा और मानसिक सुविधा। ये दोनों मूर्च्छा को बढ़ाती हैं। इस सघन मूर्च्छा को तोड़ना फिर कठिन हो जाता है। जब तक कष्ट और दुःख को सहने की क्षमता, प्रतिकूल परिस्थिति को झेलने का साहस नहीं आता तब तक मूर्च्छा भंग नहीं हो सकती।

इस समीक्षा के आधार पर यह कसौटी ठीक नहीं बैठती कि जो सुखद है वह नैतिक है और जो दुःखद है वह अनैतिक है। हमारे ऐसे अनेक व्यवहार हैं, जो दुःख देने वाले होकर भी नैतिक हैं और बहुत सारे ऐसे व्यवहार भी हैं जो सुखद होने पर भी नैतिक नहीं हैं। इसलिए मनोवैज्ञानिक सुखवाद की कसौटी उचित नहीं लगती। यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, यह स्वाभाविकता है किन्तु यह कसौटी नहीं बन सकती नैतिकता की।

बाधा है इच्छा

एक बार एक विद्वान ने तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु द्वारा मान्य अहिंसा की समीक्षा करते हुए लिखा—‘भगवान् महावीर ने कहा है कि सभी प्राणी सुख चाहते हैं, दुःख कोई नहीं चाहता इसलिए



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

सबको सुख दो और आचार्य भिक्षु कहते हैं कि सुख देना धर्म नहीं है। मैंने लिखा—भगवान् के कथन का तात्पर्य ठीक नहीं समझा गया। जीव सुख चाहते हैं, दुःख नहीं चाहते, यह स्वाभाविकता का निरूपण है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सुख दो, दुःख मत दो। भगवान् ने केवल परिस्थिति का निरूपण किया है, मानसिकता का निरूपण किया है। किंतु प्रत्येक प्राणी की सुख पाने और दुःख न पाने की इच्छा निम्नस्तरीय इच्छा है। उच्चस्तरीय विकास होने पर यह इच्छा नहीं होती, समाप्त हो जाती है। इच्छा का इतना परिष्कार हो जाता है कि मोक्ष की इच्छा भी समाप्त हो जाती है। साधना की उच्च भूमिका पर पहुंचा हुआ साधक इच्छा-मुक्त हो जाता है। उसमें मोक्ष की इच्छा भी शेष नहीं रहती। वास्तव में मोक्ष की प्राप्ति तभी होती है जब यह इच्छा भी समाप्त हो जाती है। मोक्ष की इच्छा भी एक बाधा है। इच्छा करना बाधा है। जो व्यक्ति स्वयं में लीन होता है, अपने आप में लीन होता है, उसमें इच्छा की बात समाप्त हो जाती है।

उस व्यक्ति में सुख की भावना भी समाप्त हो जाती है। सामान्य आदमी कहता है, मैं धर्म करूंगा तो मुझे स्वर्ग मिलेगा। एक भाई ने कहा, महाराज! मैं साठ वर्ष का हो रहा हूं। मुझे ऐसा कोई गुरु बता दें जिससे नरक न मिले, स्वर्ग मिले।

यह आदमी की शाश्वत इच्छा है कि वह नरक नहीं चाहता, स्वर्ग चाहता है। नरक का अर्थ है दुःख। स्वर्ग का अर्थ है सुख। यह इच्छा निरंतर बनी रहती है। किन्तु जिस व्यक्ति ने नैतिकता और अध्यात्म को समझा है, चेतना के परिष्कार को समझा है, वह स्वर्ग के लिए भी लालायित नहीं रहता। उसमें एक नई चेतना जाग जाती है।

क्या है नैतिकता की कसौटी ?

प्रश्न होता है कि नैतिकता की कसौटी क्या होगी? हम किस व्यवहार को अच्छा मानें? सुख या दुःख के आधार पर किसी व्यवहार को अच्छा या बुरा न मानें तो फिर और उपाय ही क्या है? सत्-असत्, भला-बुरा, शुभ-अशुभ की कसौटी क्या होगी ?

इस विषय में दो चिंतन प्रस्तुत होते हैं। पहला चिंतन तो यह है कि जिस देश और काल में जिस कर्म या व्यवहार को समाज के द्वारा या बड़े जन-समूह के द्वारा वांछनीय मान लिया गया, वह नैतिक है और जो व्यवहार अवांछनीय माना गया, वह अनैतिक है। यह लौकिक स्वीकृति है। यह नितांत व्यावहारिक कसौटी है, सार्वभौम कसौटी नहीं है। इसे यथार्थ नहीं कहा जा सकता। चार-पांच हजार वर्षों के इतिहास में नैतिकता की अनेक परिभाषाएं हुई हैं और वे परस्पर बहुत टकराती हैं। वे बदलती रहती हैं, एकरूप नहीं रहतीं। एक देश और काल में एक कर्म को नैतिक माना गया और वही कर्म दूसरे देश काल में अनैतिक मान लिया गया, यह सारा व्यवहार के धरातल पर होता है। इसलिए ये सारी व्यावहारिक कसौटियां हैं।

नैतिकता की वास्तविक कसौटी

हम नैतिकता की वास्तविक कसौटी की चर्चा करें जो सार्वभौम है, देशातीत और कालातीत है, वह कसौटी है—**जे निज्जिण्णे से सुहे**। यह वास्तविक कसौटी है। जिस आचरण के द्वारा बन्धे हुए संस्कार क्षीण होते हैं, निर्जीर्ण होते हैं, वह आचरण है नैतिक। जिस आचरण से संस्कार बंधते हैं, सघन होते हैं, वह है



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अनैतिक। जो निर्जरा है वह सुख है और जो बंध है वह दुःख है। सुख और दुःख की यह वास्तविकता ही नैतिकता की कसौटी बन सकती है, किन्तु सुख और दुःख की स्वीकृति में बहुत अन्तर आ गया। सुख और दुःख मान लिया गया वैयक्तिक इच्छा के अनुसार या सामूहिक इच्छा के आधार पर।

इच्छा आधारित सुख और दुःख नैतिकता या अनैतिकता की वास्तविक कसौटी नहीं बन सकता। जो सुख कर्म-विलय से और जो दुःख कर्म-बंध से होता है वह नैतिकता-अनैतिकता का आधार बनता है। निर्जरण सुख है, बंधन दुःख है।

निवृत्ति से अनुस्यूत प्रवृत्ति नैतिक

प्रवृत्ति के तीन विभाग हैं—सत् प्रवृत्ति, असत् प्रवृत्ति और निवृत्ति या अप्रवृत्ति। विवेक कैसे हो कि अमुक प्रवृत्ति सत् है और अमुक प्रवृत्ति असत् है।

एक नियम बना कि जिस प्रवृत्ति के साथ गुप्ति होती है, वह प्रवृत्ति सम्यक् है, वह व्यवहार सत् है। जिस प्रवृत्ति के पीछे गुप्ति नहीं होती, वह व्यवहार असत् है। गुप्ति का अर्थ है—संयम, निवृत्ति। हमारी जिस प्रवृत्ति के साथ मन, वाणी और शरीर की गुप्ति होती है, वह प्रवृत्ति सम्यक् होती है, वह व्यवहार और आचरण नैतिक बन जाता है। जिस प्रवृत्ति के पीछे गुप्ति नहीं होती, असंयम होता है, वह मन, वाणी और काया का व्यवहार अनैतिक बन जाता है, असत् बन जाता है। यह वास्तविक कसौटी है। निवृत्ति से अनुस्यूत या अनुप्राणित प्रवृत्ति नैतिक होती है और निवृत्ति से शून्य प्रवृत्ति अनैतिक होती है।

यही शुभ-अशुभ, सत्-असत्, अच्छे-बुरे व्यवहार की कसौटी बनती है। यह सार्वभौम है, व्यापक है, देशातीत और कालातीत है। इसमें न व्यक्ति का भेद है, न देश और काल का भेद है, न किसी धर्म और सम्प्रदाय का भेद है। यदि इस कसौटी के आधार पर हम व्यवहार की समस्या को सुलझाएं, व्यवहार का मूल्यांकन करें तो नैतिकता की धारणा को स्पष्ट करने में बड़ी सुविधा होती है।

यदि हम व्यापक दृष्टिकोण से चिन्तन करें तो नैतिकता की हमारी यह कसौटी व्यवहार के मूल्यांकन में बहुत सहयोगी होगी। यह सुचिंतित और सुपरीक्षित भी होगी। इसके आधार पर सारे व्यवहार की समस्या को सुलझाया जा सकेगा।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

नैतिकता की आधारशिला : काम का परिष्कार

हर व्यक्ति में परिवर्तन होते हैं, कुछ स्थूल और कुछ सूक्ष्म। परिवर्तन का चक्र निरन्तर चलता रहता है। ये परिवर्तन श्वास के माध्यम से जाने जा सकते हैं। विचार और अन्तर्भावों में होने वाले परिवर्तन भी श्वास के द्वारा जाने जा सकते हैं। व्यक्ति की पहचान का बहुत बड़ा माध्यम है श्वास। दीर्घश्वास का प्रयोग अपने व्यक्तित्व को पहचानने का प्रयोग है, अपने आपको पहचानने का प्रयोग है। श्वास एक माध्यम है—दूसरों को पहचानने का और स्वयं को पहचानने का।

आज इस वैज्ञानिक युग में दूसरों के सूक्ष्म भावों को जानने के लिए अनेक यंत्रों का आविष्कार हुआ है। पुराने जमाने में यन्त्रणाएं देकर अपराधी को अपराध स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जाता था। अब ऐसे यन्त्र विकसित हो चुके हैं कि अपराधी को कुछ करने की जरूरत नहीं है, यन्त्र स्वयं बतला देते हैं कि यह अपराधी सच कह रहा है या झूठ बोल रहा है।

श्वास और भाव

इजरायल में एक यंत्र बनाया गया है। उसका नाम है—‘माइक्रोवेव रेस्पिरेशन मोनीटर’ यानी अणु-तरंग प्रबोध। यह यन्त्र आधे मील की दूरी से यह ज्ञात कर लेता है कि व्यक्ति झूठ बोल रहा है या सच कह रहा है। यदि व्यक्ति झूठ बोलता है तो श्वास के प्रकम्पनों में अन्तर आ जाएगा। श्वास-प्रबोध श्वास की अणु-तरंगें श्वास का अनुमापन कर पता लगा लेती हैं। इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि व्यक्ति के भावों का संबंध श्वास के साथ कितना जुड़ा हुआ है। जिस प्रकार के मनोभाव होते हैं, श्वास की गति उसी प्रकार की बन जाती है।

श्वास और भाव परस्पर गुंथे हुए हैं। एक को जानकर दूसरे को जाना जा सकता है। भाव के माध्यम से श्वास को जाना जा सकता है और वर्तमान का भी मूल्यांकन किया जा सकता है। श्वास की गति को

समझना बहुत बड़ा विज्ञान है। इससे अतीत और भविष्य को भी जाना जा सकता है और वर्तमान का भी मूल्यांकन किया जा सकता है। श्वास की गति के आधार पर 'स्वर-विज्ञान' का विकास हुआ था।

पहचान के साधन

व्यक्ति को पहचानने के दो साधन हैं—आकृति-विज्ञान और श्वास-विज्ञान। आकृति के आधार पर व्यक्तित्व की पहचान हो सकती है। एक आकृति ऐसी होती है जिसमें शांति और संतोष की झलक होती है, प्रसन्नता और स्थिरता का भाव टपकता है। एक आकृति ऐसी होती है, जिसमें अशांति, असंतोष, व्यग्रता, छटपटाहट, चंचलता और विषाद का भाव टपकता रहता है। इन दोनों आकृतियों के आधार पर बिना कुछ पूछे ही व्यक्तित्व का पता लग जाएगा। आकृति प्रमाण होती है, स्वयंभू साक्षी होती है। इस आधार पर आकृति-विज्ञान का विकास हुआ है और उसके जो निष्कर्ष निकलते हैं, वे सही प्रमाणित हुए हैं।

दूसरा है—श्वास विज्ञान। श्वास के आधार पर व्यक्ति की पहचान हो जाती है। यदि श्वास तेज और छोटी होगी तो पता लग जाएगा कि व्यक्ति असंतोष से घिरा हुआ है, मानसिक समस्याओं से उलझा हुआ है। वह विषादग्रस्त है। उसमें हीनता की घनघोर घटाएं उमड़ रही हैं, व्यग्रता है, गहरी चंचलता और टीस है। यदि श्वास शान्त और मन्द है तो पता लग जाएगा कि व्यक्ति बहुत शान्ति से जी रहा है, उसमें सन्तोष का सागर लहरा रहा है और प्रसन्नता फूट रही है।

कारण है कामना

दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं—एक वे, जो प्रसन्नता का जीवन जीते हैं और दूसरे वे, जो अप्रसन्नता का जीवन जीते हैं। एक आदमी प्रसन्नता से भरा है और दूसरा व्यक्ति विषाद से घिरा हुआ है। यह अन्तर क्यों? दोनों प्रसन्न क्यों नहीं? दोनों विषण्ण क्यों नहीं? यदि प्रसन्न हों तो दोनों प्रसन्न होने चाहिए और यदि विषण्ण हों तो दोनों विषण्ण होने चाहिए। एक प्रसन्न और एक विषण्ण—यह भेद क्यों? जब हम भेद की खोज में चलते हैं तो हमें कारण भी उपलब्ध हो जाता है। वह कारण है—'काम'—कामना।

मनोविज्ञान की भाषा में 'काम' मौलिक मनोवृत्ति है। धर्मशास्त्र की भाषा में 'कामना' अतीत का संस्कार है। प्रत्येक व्यक्ति अतीत से जुड़ा हुआ है। कोई भी व्यक्ति अतीत से कटकर इस दुनिया में नहीं जी सकता। आदमी वर्तमान में जीता है, वर्तमान में श्वास लेता है, पर वह जुड़ा हुआ है अतीत से। वह अतीत से इतना संग्रह और संचय कर रहा है कि यदि अतीत का संग्रह समाप्त हो जाए तो व्यक्ति भी समाप्त हो जाएगा। वह इस दुनिया में नहीं रहेगा। उसकी दुनिया दूसरी होगी। फिर वह सामाजिक नहीं रहेगा, किसी लोक का प्राणी नहीं रहेगा। वह केवल आत्मा ही रहेगा। आत्मा बचेगी, प्राण नहीं बचेगा। प्राण के बिना कैसा प्राणी?

हम सब अतीत के साथ जुड़े रहते हैं। उस श्रृंखला की कड़ियां हैं—अतीत का संस्कार, अतीत का कर्म-बंधन, अतीत की वृत्तियां, अतीत की संज्ञाएं, अतीत की वासनाएं, अतीत की मनोप्रांथियां। ये मौलिक मनोवृत्तियां हैं। भिन्न-भिन्न शास्त्रों में भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा एक ही सचाई को अभिव्यक्त किया गया है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

इच्छा लक्षण है चेतना का

अतीत से हमारा संबंध है। वर्तमान में हम श्वास ले रहे हैं। वह अतीत हमारे वर्तमान पर हावी है। 'काम' या 'कामना' का एक संस्कार है। प्रत्येक प्राणी में कामना होती है। एक भी प्राणी ऐसा नहीं मिलता, जिसमें कामना न हो। काम एक पुरुषार्थ है। मनुष्य का एक लक्षण है—कामना या इच्छा। इच्छा के द्वारा जाना जा सकता है कि यह प्राणी है और विकसित इच्छा के द्वारा जाना जा सकता है कि यह मनुष्य है।

चेतना का एक लक्षण है—इच्छा। जैन तर्कशास्त्र में यह सिद्ध किया गया है कि वायु सजीव है, सचेतन है। प्रश्न हुआ—हवा को सजीव कहने का प्रबल तर्क क्या है? आचार्यों ने कहा—हवा सजीव है, क्योंकि यह तिरछी गति करती है। यह जीव या सचेतन का एक लक्षण है। अचेतन तिरछी गति नहीं कर सकता। तिरछी गति इच्छा-प्रेरित होती है। इच्छा स्वतंत्र चेतना वाला ही कर सकता है। जिसमें यह स्वतंत्र चेतना नहीं होती वह तिरछी गति नहीं कर सकता। पत्थर को ऊपर फेंको। वह सीध में ऊपर जाएगा। वह अपनी इच्छा के अनुसार गति नहीं कर सकता। उसकी गति नियत दिशा में ही होगी। हवा सचेतन है। उसमें स्वतंत्र इच्छा है। वह तिरछी गति कर सकती है। जिसमें इच्छा-प्रेरित गति होती है, वह सजीव होता है। निर्जीव में इच्छा-प्रेरित गति नहीं होती। 'इच्छा' प्राणी होने का लक्षण है। इच्छा का विकास चेतना का लक्षण है।

प्रश्न है परिष्कार का

जीवन के चार आयतन है—काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष। काम पहला आयतन है। काम भीतर रहता है। उसकी अभिव्यक्तियां बाहर में होती हैं। 'काम' की जैसी अभिव्यक्ति होती है, वैसी आकृति बन जाती है, वैसी प्रकृति बन जाती है और वैसा ही श्वास बन जाता है। भीतर काम का एक चक्र चलता रहता है और उसके आधार पर सारे परिवर्तन घटित हो जाते हैं।

जिस व्यक्ति ने 'काम' का परिष्कार नहीं किया, वह अशांति, असंतोष, अप्रसन्नता और अस्थिरता का जीवन जीएगा।

जिस व्यक्ति ने 'काम' का परिष्कार कर लिया, वह शांति, संतोष, प्रसन्नता और स्थिरता का जीवन जीएगा।

प्रश्न है परिष्कार का। इस शरीर में रहने वाला, इन्द्रिय और मन के जगत् में जीने वाला कोई भी व्यक्ति सर्वथा 'अकाम' बन जाए, सर्वथा कामना से मुक्त हो जाए, यह कल्पना नहीं की जा सकती। किन्तु काम के परिष्कार की कल्पना की जा सकती है। यह सोचा जा सकता है कि किस व्यक्ति ने कितना परिष्कार किया है, कितना शोधन किया है। शोधन का सिद्धान्त संभव बनता है, 'अकाम' का सिद्धांत सम्भव नहीं बनता। अकाम की स्थिति वीतरागता की स्थिति है। जब वह स्थिति प्राप्त होती है, तब व्यक्ति सांसारिक सम्बन्धों से टूट जाता है। उसका प्रस्थान दूसरे संसार के लिए हो जाता है।

दो बातें हैं। एक है—कामना की पूर्ति और दूसरी है—कामना का परिष्कार।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

मानसिक अशांति के कारण

कामना की पूर्ति का साधन है—अर्थ। यह जीवन का दूसरा पुरुषार्थ है। अर्थ के आधार पर ही कामनाओं को पूरा किया जाता है। मन में कामना जागती है। अर्थ-व्यय से वह पूरी हो जाती है। मन में कामना जागी, अमुक प्रकार का कपड़ा पहनूं, अमुक मिठाई खाऊं। पास में पैसा है। बाजार में गया, कपड़ा खरीदा, पहन लिया। मिठाई खरीदी, खा ली। कामना की पूर्ति हो गई।

कामना की पूर्ति का साधन अर्थ जीवन का दूसरा आयतन बन जाता है। निरंकुश कामना और निरंकुश अर्थ—ये दोनों अपरिष्कृत रहकर व्यक्ति में जो परिवर्तन लाते हैं, वह परिवर्तन मानसिक अशांति को जन्म देता है। मानसिक अशांति के दो मुख्य कारण हैं—निरंकुश काम और निरंकुश अर्थ। जब तक इन दोनों का परिष्कार घटित नहीं होता, तब तक आदमी बेचैनी, अवसाद, हीनता, डिप्रेशन आदि से बच नहीं सकता।

आदमी कामनाओं से आक्रान्त है। उनकी पूर्ति के लिए उसने अर्थ भी जुटा लिया किंतु उसकी मानसिक व्यग्रता आकाश को छूने लग गई। वह और अधिक अशांत हो गया। आज के विकसित राष्ट्र, जो साधनों से संपन्न हैं, जिनके पास प्रचुर वैभव है, संपत्ति है, अर्थ का स्रोत है, वे इस मानसिक अशांति के जीते जागते उदाहरण हैं।

एक भाई ने बताया—संसार का छियालीस प्रतिशत धन केवल एक राष्ट्र अमेरिका के पास है। शेष चौवन प्रतिशत धन सारे संसार के पास है। एक राष्ट्र के पास इतना प्रचुर धन? क्या होगा? जितना प्रचुर धन उतना ही प्रचुर असंतोष! इस असंतोष की तुलना में कहा जा सकता है कि विश्व में जितने अपराध होते हैं उनका छियालीस प्रतिशत हिस्सा अमेरिका को मिलेगा और चौवन प्रतिशत शेष संसार को प्राप्त होगा। कितना अपराध! धन की प्रचुरता, असंतोष की प्रचुरता और अपराध की प्रचुरता।

इन सारे तथ्या-वेषणों से एक निष्कर्ष निकलता है—अपरिष्कृत काम और अर्थ नई व्याधियों को उत्पन्न करते हैं, नई व्याधियों को जन्म देते हैं, मानसिक दुःख को प्रगट करते हैं। इस स्थिति में यह अपेक्षा प्रत्यक्ष होती है कि इन दोनों का परिष्कार किया जाए।

परिष्कार का साधन

परिष्कार का साधन है—धर्म। धर्म के द्वारा काम का परिष्कार किया जा सकता है, धर्म के द्वारा अर्थ का परिष्कार किया जा सकता है। काम शुद्धि और अर्थ शुद्धि—दोनों अपेक्षित हैं।

आयुर्वेद की चिकित्सा पद्धति में विषों का उपयोग होता है। उसमें पारद का भी उपयोग होता है और गंधक तथा संखिया का भी उपयोग होता है। अपरिष्कृत पारद, गंधक या संखिया बहुत हानिकारक होता है। इनके सेवन से मृत्यु हो जाती है। इनका शोधन हो जाने पर ये उपयोगी बन जाते हैं। शोधन किया हुआ पारद, संखिया या गंधक मारने वाले नहीं, उबारने वाले बन जाते हैं। शोधन के पश्चात् इनकी विषैली शक्ति कम हो जाती है और इनकी उपयोगिता बढ़ जाती है।

काम और अर्थ का परिष्कार हो जाने पर शक्ति में परिवर्तन आ जाता है। जितनी बुराइयां, अनैतिकता, अनाचार और अप्रामाणिकताएं होती हैं, वे सब अपरिष्कृत काम के कारण होती हैं। उनके मूल में काम है। काम परिष्कृत भी होता है और अपरिष्कृत भी।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अपरिष्कृत कामना का परिणाम

एक व्यक्ति था विद्वान और वैभवशाली। विद्या और लक्ष्मी का योग कम मिलता है, पर वह विद्यावान भी था और लक्ष्मीवान भी। एक पुजारी उसके पास आया, बोला—‘पंडितवर! आज रात को मुझे एक सपना आया। उसमें मैंने भगवान् को देखा। उन्होंने मुझे कहा—जाओ, उस पंडित के पास और उसे कहो कि भगवान् का आदेश है कि दस हजार रुपये वह तुम्हें दे। उन रूपयों से नया मंदिर बनवाना है। इसलिए मैं आया हूँ। आप मुझे रुपया दें और भगवद् आज्ञा का पालन करें।’

धनी पंडित ने सोचा—यह मुझे ठगने आया है और वह भी भगवान् के नाम पर! भगवान् क्यों कहने आते नए मंदिर के निर्माण के लिए। पंडित ने कहा—‘पुजारीजी! बात तो तुमने अच्छी कही। भगवान् का आदेश मानना ही होगा। रात भर विश्राम करो। मैं सोच लूँ। प्रातःकाल जो कुछ होगा, देखा जाएगा।’

पुजारी रात भर वहीं रहा। सोचा, पंडित मेरी ठगाई में आ गया। रात बीती। प्रभात हुआ। पण्डित उठा। पण्डित ने कहा—‘पुजारीजी! तुमने कल भगवान् का जो आदेश कहा था, वह ठीक था। आज रात को मेरे पास भी भगवान् आए। सपने में उनका साक्षात्कार हुआ। उन्होंने कहा—‘सामने जो चबूतरा बना है, उसके नीचे दस हजार रुपये गढ़े हुए हैं। पुजारी को कहना कि वह चबूतरे को उखाड़ कर दस हजार रुपए ले ले और मंदिर बनवा दे।’

पुजारी बोला—‘पण्डितजी! खुदाई करूं और रुपए न मिले तो क्या होगा?’

पण्डित ने कहा—‘लगता है, तुम्हें भगवान् के दर्शन हुए ही नहीं। तुम्हें भगवान् पर भरोसा ही नहीं है। जैसे तुमको भगवान् कह गए हैं, वैसे ही मुझे भी कह गए हैं। जैसे तुम्हें अपने भगवान् पर भरोसा है, वैसे मेरे भगवान् पर भरोसा क्यों नहीं है? झूठे हो तुम! चले जाओ यहां से।’

पुजारी अपना-सा मुंह लेकर चलता बना।

यह सारा अपरिष्कृत कामना का परिणाम है। सारी प्रवंचनाएं, छलनाएं और ठगाइयां अपरिष्कृत काम या इच्छा से पैदा होती हैं। जब कामना का परिष्कार होता है तब आदमी में ठगने की भावना नहीं होती, विसर्जन की भावना, देने की भावना जाग जाती है। वह अपनी प्रिय वस्तु का भी विसर्जन कर देता है।

निदर्शन परिष्कृत कामना का

एस्किमो जाति, जो ध्रुव प्रदेश में रहती है, को काम परिष्कार के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। उनकी कामना इतनी परिष्कृत है कि पदार्थ के प्रति उनकी मूर्च्छा नहीं के समान है। दूसरों को प्रिय लगने वाली वस्तु का विसर्जन करने में वे कभी पीछे नहीं रहते। उनका पहला तर्क है—हम वस्तु को भोग चुके हैं। अब इसके प्रति मन में कोई आकर्षण नहीं बचा है। जिनके मन में आकर्षण है वे इसे भोगें। दूसरा तर्क है—संपत्ति पर व्यक्ति का अधिकार नहीं होता, समाज का अधिकार होता है, पूरी मनुष्य जाति का अधिकार होता है। जैसे यह वस्तु हमारी है, वैसे ही यह तुम्हारी है। तुम इसका उपयोग करो।

यह है परिष्कृत कामना का विचार। कामना के परिष्कृत होने पर ठगने, लूटने या हड़पने की भावना समाप्त हो जाती है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

महाकवि माघ की यह सर्वविदित प्रकृति थी कि जब कोई व्यक्ति याचना कर लेता तो वे बिना दिए नहीं रहते। जो वस्तु उनके पास होती, मांग करने वाले को वह निश्चित ही मिल जाती। पंडित थे, सरस्वती के प्रिय पुत्र। लक्ष्मी का वरदान प्राप्त नहीं था। काव्य-रचना से कुछ मिल जाता पर दान की इस प्रवृत्ति ने उन्हें भयंकर गरीबी में ला पटका।

एक बार एक व्यक्ति आकर बोला—‘पंडितप्रवर! लड़की का विवाह करना है। पैसा नहीं है पास में। आप ही लज्जा रख सकते हैं।’

कवि माघ ने सोचा—अब क्या दूँ? पास में फूटी कौड़ी भी नहीं है। इसकी मांग कैसे पूरी करूँ? उन्होंने इधर-उधर देखा। देने योग्य कोई भी वस्तु नहीं मिली। अचानक उनकी दृष्टि अपनी पत्नी पर जा टिकी। वह सो रही थी। उसके हाथ में स्वर्ण-कंगन थे। माघ कवि चुपके से वहां गए। धीरे से एक हाथ का कंगन निकाला। पत्नी जाग गई। उसने जान लिया—कोई न कोई याचक आया है। वह तत्काल बोली—‘यह दूसरा कंगन और ले जाओ। एक कंगन से क्या होगा?’

यह है कामना का परिष्कार। जब यह घटित होता है तब व्यक्ति का मनोभाव बदल जाता है, उदारता आ जाती है। जब काम-शुद्धि घटित होती है तब साथ-साथ अर्थ-शुद्धि भी होती है।

प्रथम है काम-शुद्धि

आज अनैतिक आचरण को मिटाने के लिए प्रयत्न हो रहे हैं। शासन और समाज—दोनों इसमें लगे हुए हैं। दंड-शक्ति को काम में लिया जा रहा है। नए-नए कानून बन रहे हैं। प्रश्न होता है—यदि काम अपरिष्कृत बना रहेगा तो अर्थ-शुद्धि घटित हो सकेगी? ऐसा होना संभव नहीं है। रोग कहीं है और दवाई किसी को दी जा रही है। बीमारी कहीं और दवा कहीं! बीमारी तो है काम-अशुद्धि की और प्रयत्न हो रहा है अर्थ-शुद्धि का। कितना विपर्यास। यह विपर्यास इसलिए चलता है कि हम सचाई का अनुभव नहीं करते, सचाई की दिशा में प्रस्थान नहीं करते। जब तक आदमी सचाई की दिशा में प्रस्थित नहीं होगा, जब तक वह धर्म की खोज में नहीं चलेगा, तब तक वह मूल भूल को नहीं पकड़ पाएगा। जब तक मूल पकड़ में नहीं आएगा, तब तक फूल और पत्तों को तोड़ने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। पतझड़ का होना और वसन्त का आना—यह नियति का चक्र है, स्वाभाविक क्रम है। हम मूल को पकड़ें।

अर्थ-शुद्धि द्वयं है। प्रथम है काम-शुद्धि। अर्थ-शुद्धि के लिए अनेक प्रयत्न हैं। इतना नियंत्रण है, टेक्स है कि अमुक धनराशि से अधिक पास में न रखी जाए। ये अर्थ-शुद्धि के प्रयत्न, समाजवाद और अर्थ-विभाजन के प्रयत्न, गरीबी और अमीरी को मिटाने के प्रयत्न—ये सारे प्रयत्न इसीलिए अर्थहीन हो रहे हैं क्योंकि इनके साथ धर्म का योग नहीं है।

भयंकर दार्शनिक भूल

धर्म के बिना काम का परिष्कार नहीं होता और काम के परिष्कार के बिना अर्थ का परिष्कार नहीं हो सकता। केवल अर्थ-शुद्धि घटित करने का अर्थ है—हम परिणाम को मिटाना चाहते हैं, कारण को मिटाना नहीं चाहते। यह एक भयंकर दार्शनिक भूल है। हम प्रवृत्ति को मिटाना नहीं चाहते, परिणाम को मिटाना



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

चाहते हैं। हम परिणाम का शोधन करना चाहते हैं पर प्रवृत्ति के शोधन की बात नहीं सोचते। प्रवृत्ति है तो परिणाम होगा ही। केवल परिणाम का शोधन हो नहीं सकता।

धर्म एक खोज है प्रवृत्ति के शोधन की, काम के परिष्कार की। इसमें इस बात पर बल नहीं दिया गया कि अर्थ का अर्जन अधिक मत करो, इस बात पर अधिक बल दिया गया कि कामना का परिष्कार करो, साधन-शुद्धि को ध्यान में रखो।

परिभाषा परिग्रह की

महावीर ने परिग्रह की परिभाषा करते हुए कहा—मूर्च्छा परिग्रह है। उन्होंने यह नहीं कहा—धन परिग्रह है। मूल परिग्रह है काम, कामना। अर्थ दूसरे नम्बर में परिग्रह बनता है। कपड़ा, रोटी और मकान परिग्रह बनते हैं, पर ये मूल परिग्रह नहीं हैं। कपड़ा, मकान और रोटी परमाणु हैं, परमाणुओं के पिण्ड हैं, वे क्या परिग्रह बनेंगे! परमाणु हमारा न कुछ बिगाड़ता है और न कुछ भला करता है। परमाणु परमाणु है, चैतन्य चैतन्य है, वह परिग्रह नहीं बनता। परिग्रह बनता है काम। कहना यह चाहिए, एक ही बात हमारे समक्ष दो रूपों में प्रगट होती है। यह द्वैत व्यक्तित्व है, दोहरा व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व का एक रूप है काम और दूसरा रूप है परिग्रह। जब काम का अस्तित्व रहता है तब अर्थ भी परिग्रह बन जाता है।

एक त्यागी मुनि कपड़े पहनता है, रोटी खाता है, मकान में रहता है। वह परिग्रह नहीं है। न कपड़ा परिग्रह है, न रोटी परिग्रह है और न मकान परिग्रह है। मुनि कभी-कभी राजप्रासादों में रहते हैं। बड़े-बड़े धनवानों के विशाल मकानों में आवास करते हैं। यदि मकान परिग्रह बनता तो मुनि सबसे बड़े परिग्रही होते। उनके जितना बड़ा परिग्रही कोई नहीं होता, क्योंकि प्रतिदिन नए-नए मकानों में रहते हैं। वर्ष भर कितने मकानों में रह जाते हैं! पर कहीं कोई परिग्रह नहीं छू पाता।

पूछा गया—साधक खाता है, पीता है और भी अनेक वस्तुएं रखता है, उनका उपभोग करता है, फिर भी परिग्रही नहीं, क्यों? आचार्य ने कहा—ममत्व या मूर्च्छा के जुड़े बिना पदार्थ परिग्रह नहीं बनता। ममत्व परिग्रह है, केवल पदार्थ परिग्रह नहीं है।

भीतर का परिग्रह : बाहर का परिग्रह

यह एक महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक सचाई है—वस्तु परिग्रह नहीं है, परिग्रह है हमारे भीतर रहा हुआ काम। जब काम का परिष्कार हो जाता है, काम-शुद्धि हो जाती है तब वस्तु अपरिग्रह बन जाती है। जब तक काम अपरिष्कृत रहता है, तब तक वस्तु परिग्रही बनी रहती है। इसीलिए आचार्यों ने परिग्रह को दो भागों में बांटा—एक है भीतर का परिग्रह और दूसरा है बाहर का परिग्रह। सारी मानसिक ग्रंथियां भीतर के परिग्रह हैं। सोना, चांदी, लोहा, धन-धान्य आदि बाहर के परिग्रह हैं। बाहर का परिग्रह हमें नहीं बांधता। बांधता है भीतर का परिग्रह। काम भीतर का परिग्रह है। वह बांधता है।

काम और अर्थ जीवनयात्रा को चलाने के लिए है। काम के बिना जीवन की यात्रा नहीं चलती। जीवन की यात्रा तब तक चलती है, जब तक काम है। कामना तब तक पूरी नहीं होती जब तक अर्थ नहीं होता। कामना की पूर्ति का एकमात्र साधन है अर्थ। जो आदमी केवल इन दो आयतनों में ही जीना चाहता



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

है, वह आदमी शांति का जीवन नहीं जी सकता। वह व्यक्ति संतोष, स्थिरता और प्रसन्नता का जीवन नहीं जी सकता।

जरूरी है तीसरे आयतन में प्रवेश

आज के लोग दो खेमों में बंटे हुए हैं। कुछ लोग केवल दो आयतनों—काम और अर्थ—में जीना चाहते हैं। वे धर्म को भी नकारते हैं और मुक्ति को भी नकारते हैं। कुछ लोग चार आयतनों में जीना चाहते हैं। जो केवल दो आयतनों में जीना चाहते हैं, वे मानवीय चेतना के साथ खिलवाड़ करते हैं। वे मनुष्य को केवल रोटी के आधार पर जिलाना चाहते हैं। क्या रोटी मन को शांति दे सकती है? जिन्हें प्रचुरता से रोटी उपलब्ध है उनका मन भी प्रचुर रूप में अशांत बना हुआ है। जिन्हें रोटी की प्रचुरता है, वे बड़ी से बड़ी अनैतिकता और बुराई करने में नहीं हिचकते। हम इस सचाई को स्वीकार करें—रोटी ही सब कुछ नहीं है। रोटी के अलावा भी बहुत अपेक्षाएं हैं हमारे जीवन की। उन अपेक्षाओं की पूर्ति धर्म और मोक्ष से हो सकती है। हमें जाने-अनजाने तीसरे आयतन—धर्म में प्रवेश करना ही होगा। वह धर्म जो प्रायोगिक है।

काम परिष्कार का आलम्बन

हम श्वासप्रेक्षा का प्रयोग करते हैं। श्वास को देखना प्रायोगिक धर्म है। एक धर्म होता है केवल उपासना का। वह इतना लाभप्रद नहीं होता। श्वास को देखने का अर्थ है धर्म की चेतना को जगाना। धर्म की चेतना केवल ज्ञान की चेतना है, केवल दर्शन की चेतना है। कोरा ज्ञान और कोरा दर्शन, कोई संवेदन नहीं। श्वास देखते समय न प्रियता का संवेदन होता है और न अप्रियता का संवेदन होता है। अधर्म है—प्रियता और अप्रियता का संवेदन। धर्म है—कोरा जानना, कोरा देखना, केवल ज्ञाता-द्रष्टा होना।

काम-परिष्कार का बहुत बड़ा आलम्बन है—श्वास प्रेक्षा। जैसे-जैसे श्वास के प्रति जागरूकता बढ़ती है, जैसे-जैसे ज्ञाताभाव और द्रष्टाभाव विकसित होता है, वैसे-वैसे काम का परिष्कार घटित होता जाता है, अर्थ की शुद्धि होती जाती है। काम और अर्थ के प्रति जो आसक्ति बनी हुई होती है, वह कम हो जाती है।

समस्या से मुक्ति पाने का तात्पर्य है—काम और अर्थ से मुक्ति पाना। एक ओर है काम और अर्थ। दूसरी ओर है काम-मुक्ति और अर्थ-मुक्ति। इन दोनों के बीच में है—परिष्कार। दो ध्रुवों के बीच हम चलते हैं। यदि परिष्कार होता रहे तो एक प्रकार के नए जीवन का उदय होगा। यदि परिष्कार की बात छूट जाती है तो जीवन का प्रकार बदल जाता है। फिर व्यक्ति में आग्रह पनपता है और वह यही कहता है—मुझे तो यही अपरिष्कृत जीवन ही जीना है। अपरिष्कृत अर्थ का भी आग्रह हो जाता है, व्यक्ति कहता है—मुझे तो इतना संचय करना ही है, फिर चाहे जैसे-तैसे करूं।

एक अनपढ़ आदमी बनारस चला गया। पंडितों का नाम सुना था। वहां गया। कुछ दिन रहा। घर लौटा। मां ने पूछा—‘काशी में जाकर क्या किया तूने?’

उसने कहा—‘मां! मैंने वहां सब पंडितों को जीत लिया। अनेक पंडित आए मेरे पास। मैंने सबको हरा दिया।’



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

मां आश्चर्य में पड़ गई। उसने सोचा, यह पढ़ा-लिखा तो नहीं है। काशी में पंडितों की भरमार है। यह कहता है, मैंने सबको जीत लिया। मां ने पूछा—‘कैसे जीता तूने सब पंडितों को?’ उसने कहा—‘मां! मेरे पास जीतने की अनोखी कला है। उस कला को वे बेचारे पंडित जानते ही नहीं। इसलिए वे आते और हार कर चले जाते।’

मां की उत्सुकता बढ़ी। उसने पूछा—‘बेटे! क्या है वह अनोखी कला?’

वह बोला—‘मां! पंडित मेरे पास आता, बड़ी-बड़ी बातें करता, शास्त्रों की बातें करता। मैं मौन सुनता रहता। अन्त में मैं एक ही उत्तर देता—तुम झूठे हो, मैं सच्चा हूँ। मेरे इस उत्तर से वह सकपका जाता। वह और कुछ कहता पर मैं तो एक ही उत्तर देता—तुम झूठे हो, मैं सच्चा हूँ। इस कला से मैं सबको जीतता गया। मेरा उत्तर अमोघ बन गया।’

संभव है—आज भी व्यक्ति में इतना आग्रह हो गया है। वह सोचता है, कुछ भी हो। समाज टूटे, परिवार टूटे, जाति टूटे, सब धरातल में चले जाएं, पर मेरे पास जीने की एक कला है और उसका सूत्र है—‘पैसा मेरा और सब अनेरा।’ जब अपरिष्कार का इतना आग्रह बन जाता है तब सारी उलझनें पैदा होती हैं।

परिष्कार की बात मूल जड़ की बात है, बहुत बड़ा तथ्य है। ध्यान और श्वासप्रेक्षा के द्वारा हम ऐसी चेतना का निर्माण करें, जिससे परिष्कार घटित हो जाए। काम का परिष्कार हो, अर्थ का परिष्कार हो और परिष्कार होता ही जाए। हम पहले अर्थ के परिष्कार के लिए प्रयत्न न करें। वह काम के परिष्कार से स्वयं होने वाला परिणाम है। जब काम सक्रिय होगा तो उसका परिणाम निष्क्रिय कैसे हो पाएगा? हम काम-कामना के परिष्कार के लिए सधन प्रयत्न करें। उसके घटित होने पर अर्थ-परिष्कार दुरूह नहीं होगा, स्वयं आएगा।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत



चरित्र



चरित्र का प्रश्न : वैयक्तिक या सामाजिक

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामुदुहा धेणु, अप्पा मे नंदणं वणं॥

—आत्मा वैतरणी नदी है, आत्मा कूटशाल्मली वृक्ष है, आत्मा कामदुधा धेनु है और आत्मा ही नंदन वन है।

आत्मा वैतरणी नदी भी है और नन्दन वन भी है। आत्मा के ये दो पक्ष हैं। एक ओर वह वैतरणी नदी है, जिसके जल की धारा इतनी तीक्ष्ण है कि उसके स्पर्श से शरीर के सारे अवयव कट जाते हैं। दूसरी ओर वह नंदन वन है, जो व्यक्ति को आनंद से भर देता है। मनुष्य का चिंतन एक ओर वैतरणी नदी है तो दूसरी ओर नंदन वन है। कोई एक चिंतन ऐसा प्रस्तुत होता है कि वह व्यक्ति और समाज को रसातल तक पहुंचा देता है। कोई एक चिंतन ऐसा प्रस्तुत होता है कि वह व्यक्ति और समाज को हिमालय की चोटी पर पहुंचा देता है। चिंतन ही व्यक्ति को नीचे लाता है और चिंतन ही व्यक्ति को ऊपर ले जाता है। इसलिए कहा जा सकता है कि चिंतन ही वैतरणी नदी है और चिंतन ही नंदन वन है।

क्या चरित्र का प्रश्न वैयक्तिक है?

आज के युग में एक चिन्तन उभरा। वह मनुष्य को जीवन के दो खंडों में विभक्त करता है—व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन। सार्वजनिक क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन कैसा है—इसकी चिंता आवश्यक नहीं समझी जाती। एक तर्क है कि व्यक्तिगत जीवन व्यक्ति का अपना मामला है। उसमें दूसरे का हस्तक्षेप क्यों होना चाहिए? व्यक्ति कैसा जीवन जीता है, यह उसी का प्रश्न है। दूसरे को इससे क्या?

एक आदमी बोला—‘मियांजी! आम आए हैं।’

मियां ने कहा—‘मुझे क्या?’

वह बोला—‘आपके ही आए हैं।’

मियां ने कहा—‘फिर तुझे क्या?’

आज का आदमी इसी भाषा में सोचता है कि मेरा चरित्र चाहे जैसा हो उससे दूसरे को क्या मतलब? किसी व्यक्ति के चरित्र की समालोचना करने पर वह उत्तर की भाषा में कहता है—‘तुम मेरे व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप क्यों कर रहे हो?’ इस चिंतन ने नैतिकता और आचार को बहुत धक्का पहुंचाया है, सामाजिक जीवन में अनेक बुराइयों को पनपने का अवसर दिया है। समाज में अनेक विकृतियां बढ़ती हैं। एक हत्यारे के प्रति आपके मन में अनादर का भाव पैदा हो सकता है। एक चोर के प्रति आपके मन में घृणा पैदा हो सकती है। एक डाकू के प्रति आपका मन आक्रोश से भर सकता है। एक व्यभिचारी के प्रति आपके मन में तिरस्कार के भाव उभर सकते हैं। प्रश्न है—हत्यारे, चोर, डाकू और व्यभिचारी को किसने पैदा किया? क्या आज की गलत मान्यताएं, गलत चिंतन उनको पैदा करने में उत्तरदायी नहीं हैं? क्या आज का सामाजिक वातावरण उनके निर्माण के लिए उत्तरदायी नहीं है? सचमुच इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए।

एक व्यक्ति सार्वजनिक क्षेत्र में काम करता है, ऊंचे पद पर आता है, उसका चरित्र सबके लिए अनुकरणीय बन जाता है। यह चिंतन कि उसके व्यक्तिगत जीवन से हमें क्या प्रयोजन, अपने आप में भ्रंत है। मैं मानता हूँ कि अत्याचार को बढ़ावा देने का इससे बड़ा कोई सूत्र नहीं हो सकता।

प्रश्न है चरित्र का

भारतीय चिंतन की ये प्रारंभिक रेखाएं थीं कि दायित्व पर या सार्वजनिक क्षेत्र में कोई व्यक्ति प्रस्तुत होता है तो सबसे पहले यह देखना चाहिए कि उसका चरित्र कैसा है? उसका आचार कैसा है? उसकी बौद्धिक और कर्मजा-शक्ति कैसी है? यदि वह इन गुणों से संपन्न है तो उससे समाज का बहुत भला हो सकता है। यदि वह चरित्रवान नहीं है, बौद्धिक और कर्मजा-शक्ति से शून्य है तो वह समाज में विकृतियों को जन्म देने वाला होता है। उसके कारण समाज को अनेक यातनाएं भुगतनी पड़ती हैं।

महामात्य कौटिल्य मगध-सम्राट् चंद्रगुप्त का भाग्य-विधाता था। वह मगध साम्राज्य का सर्वेसर्वा था। उसने जैसा जीवन जीया, वैसे जीवन की कल्पना करना भी आज कठिन है। वह एक छोटी-सी झोंपड़ी में रहता था। वहां कुछ अत्यन्त आवश्यक वस्तुएं थीं। न रक्षा का प्रबंध और न कोई मनोरंजन का साधन। न चोरी की चिंता और न किसी प्रकार का भय। ऐसी कुटिया में रहता था महामात्य कौटिल्य, जो अपने युग का सबसे बड़ा बुद्धिमान और शक्ति-संपन्न व्यक्ति था।

महात्मा गांधी ने सादगी पर बल दिया। वे स्वयं सादगी से रहे और आसपास के वातावरण को भी सादगीमय बनाए रखा। आचार की छोटी-छोटी बातों पर गहरी सूक्ष्मता से ध्यान दिया। एक बार दो पैसों की गड़बड़ को लेकर महादेव भाई को इतना उलाहना दिया कि सुनने वाले आश्चर्य में पड़ गए। एक श्रोता ने कहा—‘महात्मा जी! दो पैसे के लिए आप इतना उलाहना दे रहे हैं—यह क्या अच्छा है?’



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

गांधीजी ने कहा—‘प्रश्न दो पैसों का नहीं हैं, प्रश्न सार्वजनिक पैसों का है। प्रश्न हमारे चरित्र का है। यदि उसमें दो पैसे की भी गड़बड़ी होती है तो उससे विश्वास को धक्का लगता है।’

संक्रामक है चरित्र की बीमारी

कौटिल्य ने सूत्र दिया—राजा को जितेन्द्रिय होना चाहिए। आज राजा का अर्थ बदल गया। आज की भाषा में कहा जा सकता है कि प्रत्येक शासक या प्रशासक को जितेन्द्रिय होना चाहिए। जो शासक आत्म-नियंत्रण का पाठ नहीं पढ़ता, वह समाज के लिए अभिशाप बन जाता है। चरित्र की बीमारी संक्रामक बीमारी है। यह छूत का रोग एक व्यक्ति तक ही सीमित नहीं रहता, बहुत प्रसरणशील है। एक व्यक्ति की बुराई हजारों-हजारों व्यक्तियों तक पहुंच जाती है, उन सबको बीमार कर डालती है। शीर्षस्थ व्यक्ति की बीमारी का प्रसरण शीघ्र होता है, तीव्रगति से होता है। वह अपनी लपेट में हजारों-हजारों व्यक्तियों को ले लेता है। पृथ्वीराज चौहान की विलासिता भारत की परतंत्रता का एक मुख्य कारण बनी। फ्रान्स के सम्राट् लूई ने जिस प्रकार का विलासी जीवन जिया, वह समूचे फ्रान्स के लिए अभिशाप बन गया। जिन शासकों ने चरित्रहीन जीवन जीया, उनके आसपास रहने वाले अधिकारी भी चरित्रहीन बन गए। अधिकारी ही नहीं, सारी प्रजा चरित्रहीन हो गई, समूचा समाज विलासिता में डूब गया, उसकी तेजस्विता जाती रही। चरित्रबल के बिना तेजस्विता नहीं आती। जिस समाज के अग्रणी लोग चरित्रहीन होते हैं, वह समाज निश्चित ही तेजहीन और शक्तिशून्य हो जाता है।

बड़ा नरक : बड़ी ताकत

अच्छा तो यह होता कि शासक या अधिकारी के बंधु और मित्र भी चरित्रवान् होते। पर इसका दायित्व कोई शासक या अधिकारी कैसे ले सकता है? चरित्रहीन पारिवारिक जनों और मित्रों के कारण शासकवर्ग को काफी हानि उठानी पड़ती है। इसे वर्तमान की घटनाओं से आंका जा सकता है। सत्ता, धन और अधिकार के बल पर अत्याचार करने की क्षमता बढ़ जाती है। छोटा आदमी बड़ा अत्याचार नहीं कर सकता। बड़ा आदमी बड़ा अत्याचार कर सकता है। पारलौकिक भाषा में कमजोर आदमी बड़े नरक—सातवें नरक में नहीं जा सकता। बड़े नरक में जाने के लिए बड़ा आदमी चाहिए, बड़ी ताकत चाहिए। कमजोर आदमी बहुत बड़ा अच्छा काम नहीं कर सकता तो बहुत बड़ा बुरा काम भी नहीं कर सकता। अच्छा या बुरा बड़ा काम शक्तिशाली आदमी ही कर सकता है। जिसके पास धन की शक्ति है, सत्ता की शक्ति है, अधिकार की शक्ति है और वह आत्म-संयम से शून्य है तो उस एक व्यक्ति के कारण हजारों-हजारों व्यक्तियों को यातनाएं भुगतनी पड़ती हैं। समूचे समाज में गलत मान्यताएं चल पड़ती हैं।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

परिणाम सीमा-बोध की विस्मृति का

आज के मनोविज्ञान ने एक ऐसी मान्यता दी, जिससे बुराई को फैलने में पूरा सहयोग मिला। उसका एक सूत्र है—इच्छाओं का दमन मत करो, उन्हें भोगो। भारतीय मनोविज्ञान का स्वर था—इच्छाओं का संयम करो। आधुनिक मनोविज्ञान के स्वर ने भारतीय मनोविज्ञान के स्वर को मंद कर डाला। इच्छा-संयमन की बात कठिन होती है और इच्छा-भोग की बात सरल। आदमी सरल बात को जल्दी पकड़ता है। आज का

आदमी मनोविज्ञान का सहारा लेकर इच्छाओं को मुक्त-भाव से भोगने लगा है। फलतः वह विलासी बनता जा रहा है, चरित्रहीन बनता जा रहा है, सीमाएं टूट रही हैं। विशेषतः बड़े लोगों के लिए कोई सीमा ही नहीं रही। उन्होंने इस सचाई को भुला दिया कि जीवन में सीमाएं आवश्यक हैं। सीमा-बोध की विस्मृति का परिणाम यह हो रहा है कि हत्या, अपराध और पागलपन बढ़ रहा है। वर्तमान सरकारें उन अपराधों को रोकने के लिए बजट का बहुत बड़ा हिस्सा व्यय कर रही हैं फिर भी अपराध अपनी गति से बढ़ते जा रहे हैं। कुछ देशों में इतना आतंक बढ़ा है कि आदमी सुबह घर से बाहर जाता है और सांझ को सुरक्षित लौट आता है तो उसे अपना सौभाग्य मानता है। कोई तय नहीं कि वह जिन्दा लौट आए। इतना आतंक, भय और आशंका। सचमुच इस मनोवैज्ञानिक धारा ने मनुष्य को निरंकुश बनने में सहयोग दिया है।

चरित्रहीनता के तीन रूप

चरित्रहीनता के तीन रूप हैं—

1. क्रूरता—यह हत्या, मार-काट के रूप में प्रकट होती है।
2. परिग्रह—यह आर्थिक अपराध, व्यावसायिक भ्रष्टता, चोरी, डकैती के रूप में प्रकट होता है।
3. व्यभिचार—यह कामुकता के रूप में प्रकट होता है।

हिंसा, अर्थ-लोलुपता और कामुकता—ये तीनों प्रवृत्तियां समूचे समाज को प्रभावित करती हैं। वर्तमान में हत्याएं बढ़ी हैं। उनके पीछे सत्ता और धन की शक्ति तो काम करती ही है, इच्छाओं को भोग लेने, जो इच्छा पैदा हुई उसे कर डालने की मनोवृत्ति भी काम करती है। एक विद्यार्थी ने सिनेमा देखा। हत्यारे को समाचार-पत्रों की सुर्खियों में समूचे विश्व में प्रसिद्ध होते देखा। वह दृश्य उसके मन को भा गया। वह विश्वविद्यालय भवन की गुंबज पर बैठा और उसने चार-पांच छात्रों की हत्या कर डाली। न्यायाधीश के सामने अपने अपराध को स्वीकार करते हुए उसने कहा—‘मेरे मन में समूचे राष्ट्र में प्रसिद्ध होने की इच्छा जागी, उसे पूरा करने के लिए मैंने ये हत्याएं कीं।’ कैसा पागलपन? यह पागलपन क्यों आया? इच्छाओं को भोग लेने की मनोवृत्ति के कारण ही ऐसा हुआ। किसी भी कीमत पर इच्छा को पूरा कर लेना चाहिए—यह मनोभाव पागलपन पैदा करता है।

अर्थ की लोलुपता

अर्थ की लोलुपता के कारण भी चरित्रहीनता पराकाष्ठा पर पहुंच गई है। अर्थ के अर्जन में जिन साधनों का प्रयोग किया जाता है वैसे साधनों की चर्चा प्राचीन साहित्य में विरल ही मिलेगी। येन केन प्रकारेण धन अर्जित करने की भावना सारे समाज में व्याप्त है। इसमें बड़े आदमी आगे हैं, वे अगुआ हैं, जो विपुल संपत्ति के स्वामी हैं। बड़ी गड़बड़ियां वे ही कर सकते हैं, जिनके पास विपुल साधन हैं। दस-बीस लाख की रिश्वत बड़े साधन वाला ही दे सकता है। बड़ा घोटाला बड़ा आदमी ही कर सकता है। सामाजिक मानदंड ही ऐसे बन गए हैं कि बड़ा वह माना जाता है, जिसके पास अपार संपत्ति है। बड़ा वह माना जाता है, जिसके पास बड़ा अधिकार है। बड़ा वह माना जाता है, जिसकी पहुंच बड़े पद पर रहने वाले व्यक्तियों तक है। ऐसे बड़े आदमी ही बड़ी आर्थिक गड़बड़ियां कर सकते हैं। छोटा आदमी छोटी गड़बड़ी कर सकता



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

है, पर बड़ा आर्थिक घोटाला करने के लिए उसके पास साधन ही कहां? निस्संदेह समूचा समाज आर्थिक चरित्रहीनता के परिणामों को भोग रहा है।

व्यभिचार और कामुकता के परिणाम

व्यभिचार के परिणामों से आज समूचा समाज आक्रांत है। ब्रह्मचर्य का अर्थ ही खो गया है। हजारों-हजारों वर्षों के चिंतन और हजारों वर्ष पुरानी परम्परा में ब्रह्मचर्य की गुणगाथा गायी गई थी। वह आज विस्मृत हो गई है। जो तथ्य मनुष्य के व्यक्तिगत स्वास्थ्य से लेकर सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को प्रभावित करता था, उसे सर्वथा भुला दिया गया है। अति अब्रह्मचर्य के कारण धृति, सहिष्णुता, प्रतिभा और स्वानुभव की अत्यधिक हानि हुई है। अनेक प्रकार की विकृतियां और कुंठाएं पनपी हैं।

बड़े से बड़े साम्राज्य के पतन में कामुकता का हाथ रहा है। सुरा और सुंदरी ने क्या-क्या नहीं किया? अनेक युद्धों के पीछे कामुकता की कहानी जुड़ी हुई है। जो शासक कामुक होते हैं, उनके अधिकारी भी इस बीमारी से बच नहीं पाते। कूटनीति में सुंदरियों का उपयोग किया जाता रहा है। प्रशिक्षित युवतियां दूसरे राष्ट्र के बड़े अधिकारियों को फंसाने में अपना जाल बिछाती रही हैं और उससे राष्ट्र का पतन होता रहा है। कामुकता गुप्तचरी का सबसे बड़ा अस्त्र है।

ब्रह्मचर्य की शक्ति

स्पार्टा द्वीप के तीन सौ सैनिकों ने दस हजार सैनिकों को पराजित कर दिया। कहां तीन सौ की अल्प संख्या और कहां दस हजार की विपुल संख्या! स्पार्टा के एक सिपाही से पूछा गया—‘क्या तुम्हारे राष्ट्र में व्यभिचार होता है?’

उसने कहा—‘नहीं होता।’

फिर पूछा—‘यदि कोई व्यभिचार कर ले तो उसे क्या दंड भोगना पड़ता है?’

सिपाही ने कहा—‘उसका वह बड़ा बैल छीन लिया जाता है जिसका सिर एक पहाड़ी पर होता है और पूंछ दूसरी पहाड़ी पर।’

उसने कहा—‘इतना बड़ा बैल संभव नहीं है।’

सिपाही बोला—‘यदि यह संभव नहीं है तो स्पार्टा में व्यभिचार भी संभव नहीं है।’

पहले स्पार्टा व्यभिचार में डूबा हुआ था। उसके नागरिक कमजोर और तेजहीन थे। वहां एक ऋषि पैदा हुआ। उसने ब्रह्मचर्य का पाठ पढ़ाया। नागरिकों को आत्म-संयम सिखाया। उनके चरित्र को उठाने का उपक्रम किया। व्यभिचार के लिए कठोर दंड की व्यवस्था की। वहां व्यभिचार खत्म हो गया। फिर जो संतान पैदा हुई वह शक्तिशाली हुई। एक सैनिक सौ सैनिकों के लिए पर्याप्त हो गया।

आज तक दुनिया में जितने भी महत्वपूर्ण कार्य हुए हैं, वे सब उन व्यक्तियों ने किए हैं, जो विलासी और कामुक नहीं थे। मुझे आश्चर्य होता है जब मैं यह सुनता हूं कि अमुक बड़े अधिकारी के आसपास कामुकता का वातावरण है। वह उसे यह कहकर टाल देता है कि यह उसका व्यक्तिगत मामला है, यह



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

उसकी पर्सनल लाइफ है। इसमें किसी को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। इस चिन्तन ने भारतीय आत्मा पर गहरा प्रहार किया है। उसकी हत्या ही कर डाली है।

असर नीयत का

प्राचीन राजनीति का सूत्र है—‘राजा कालस्य कारणम्’ राजा काल का कारण होता है। काल उसके पीछे-पीछे चलता है। एक छोटी कहानी है। एक राजा जंगल में भटक गया। प्यास से आकुल-व्याकुल होकर वह इधर-उधर घूमने लगा। उसे एक झोंपड़ी दिखाई दी। वह वहां पहुंचा। वहां एक बूढ़ा आदमी बैठा था। पास ही ईख का खेत था। राजा ने पानी मांगा। बूढ़े ने दो-चार ईख तोड़े, कोल्हू में उन्हें पेरा। ईख के रस से एक कटोरा भर गया। राजा ने वह पीया और उसका मन पुलकित हो गया। उसने बूढ़े से पूछा—‘क्या ईख पर ‘कर’ भी लगता है?’

बूढ़े ने कहा—‘नहीं। हमारा राजा दयालु है। वह भला हमसे क्या ‘कर’ लेगा?’

राजा ने मन ही मन सोचा—‘ऐसी मीठी चीज पर अवश्य ही ‘कर’ लगाना चाहिए। मन में संकल्प-विकल्प उठने लगे। आखिर ‘कर’ लगाने का निश्चय कर लिया। राजा ने चलते-चलते बूढ़े से कहा—‘एक प्याला रस और पिलाओ।’

बूढ़े ने फिर दो-चार ईख तोड़े। उन्हें कोल्हू में पेरा पर रस से कटोरा नहीं भरा। राजा अचंभे में पड़ गया। उसने पूछा—‘यह क्या? पहले ईख के रस से कटोरा भर गया था, अब नहीं भरा, यह क्यों?’

बूढ़ा दूरदर्शी था। उसने कहा—‘लगता है मेरे राजा की नीयत बिगड़ गई। अन्यथा ऐसा नहीं होता।’

राजा मन ही मन पछताने लगा।

राजा की नीयत का इतना असर होता है। क्या अधिकारियों और मंत्रियों के चरित्र का प्रभाव समाज पर नहीं पड़ता? क्या अग्रणी व्यक्तियों के आचरण का असर समाज पर नहीं होता? होता है, अवश्य ही होता है। हम इसे व्यक्तिगत मामला कहकर नहीं टाल सकते। जहां इस प्रश्न को टाल देते हैं वहां नाना प्रकार की विकृतियां पैदा हो जाती हैं, अन्याय करने की खुली छूट मिल जाती है।

दोषपूर्ण मान्यताएं

‘इच्छाओं को भोगो’—इस सिद्धांत के परिणामों को देखकर इस पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता का अनुभव हो रहा है। एक व्यक्ति ने कहा—‘मैं किसी को प्रमाण नहीं मानता। केवल अपनी ही इच्छा को प्रमाण मानता हूं। भीतर से जो इच्छा उठती है, अन्तर में जो प्रेरणा जागती है, वही कर लेता हूं।’

मैंने कहा—‘यह बहुत बड़ी बात है। तुम तो वीतराग बन गए। पूर्ण पवित्र बन गए। तुम्हारी अंतरात्मा जो कहती है, वही तुम करते हो। यह बात वीतराग व्यक्ति के लिए लागू होती है, निर्मल व्यक्ति के लिए लागू होती है। जिसके सारे कषाय-कल्मष धुल जाते हैं, जिसका चिंतन सर्वथा विशुद्ध बन जाता है, जिसके चिंतन में न राग है और न द्वेष है, वैसा व्यक्ति जो कहता है वही करता है, जो करता है वही कहता है। उसका द्वैध समाप्त हो जाता है। वैसा व्यक्ति अपने अंतःकरण को प्रमाण माने, यह उचित है। किंतु जिसमें हजारों विकृतियां हैं, कषाय-कल्मष हैं, हजारों प्रकार के बुरे विचारों और चिंतन से मन भरा पड़ा है, वह



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

व्यक्ति यह कहे कि मेरे में जो अंतःप्रेरणा जागती है, वही मैं करता हूँ—इससे बढ़कर और क्या वज्रमूर्खता हो सकती है?’

जो व्यक्ति इतने बड़े अंधकार को अपने आपमें पालता है, उसकी रही-सही प्रकाश-रश्मियां भी नष्ट हो जाती हैं। मनुष्य बहुत बार अपने ही विकृत चिंतन के जाल में इस प्रकार फंस जाता है कि उससे मुक्त हो पाना उसके लिए कठिन हो जाता है। इन दोषपूर्ण चिन्तनों, मान्यताओं और धारणाओं ने समाज का बहुत अहित किया है। गलत चिंतन करने वाले व्यक्ति का ही अहित नहीं होता, उसके कारण सैकड़ों-सैकड़ों व्यक्तियों का अहित होता है। हम फिर इस विषय पर गंभीरता से विचार करें कि चरित्र का प्रश्न वैयक्तिक नहीं, सामाजिक है।

एक मकान है। पास में एक खाली प्लॉट है। मकान मालिक उस की ओर अपने मकान में खिड़की नहीं निकाल सकता। नगरपालिका की स्वीकृति के बिना अपने मकान में इच्छानुसार परिवर्तन नहीं कर सकता। कितना नियंत्रण! अपने मकान को बदलने में भी व्यक्ति स्वतंत्र नहीं है। एक ओर इतना नियंत्रण और दूसरी ओर चरित्र के विषय में इतनी छूट! पदार्थ के प्रति इतना नियंत्रण और चेतन को इतनी छूट! क्या कहा जाए? होना तो यह चाहिए कि चेतन के प्रति नियंत्रण हो और पदार्थ के प्रति अनियंत्रण रहे! जहां नियंत्रण की जरूरत नहीं है वहां नियंत्रण थोपे जा रहे हैं और जहां नियंत्रण की जरूरत है वहां व्यक्ति को खुली छूट दी जा रही है। पता नहीं इस विकृत चिंतन का अन्त कहां होगा?

प्रवाहपाती न बनें

आज अध्यात्म के क्षेत्र में काम करने वाले अनेक विचारक प्रवाहपाती हो रहे हैं। वे कहते हैं इच्छाओं का दमन मत करो, इच्छाओं को भोगो। इस विचार से फिर एक नया वाम-मार्ग प्रस्थापित हो रहा है। इस नये वाम-मार्ग की घोषणा है—इच्छाओं का दमन अनावश्यक है। उससे शक्तियां क्षीण होती हैं। जैसा हो वैसा हो जाए। जो मन में आए, उसे कर लिया जाए। संभोग से समाधि सध सकती है। वे मूर्च्छा की समाधि को जाग्रत् समाधि के रूप में प्रस्तुत कर एक बड़ी भ्रांति को जन्म दे रहे हैं। एक व्यक्ति को क्लोरोफार्म सुंघाया जाता है, वह बेहोश हो जाता है। अन्य किसी भी प्रकार की नशीली वस्तु का सेवन कराया जाता है और व्यक्ति एक प्रकार की समाधि में चला जाता है। चित्त की शून्यता घटित हो जाती है। क्या बेहोशी और समाधि को एक ही माना जा सकता है? इस बेहोशी की समाधि ने अनेक लोगों के मस्तिष्क को भ्रांत बना डाला। उनके लिए आत्म-संयम का अर्थ ही लुप्त हो गया।

हम केवल प्रवाहपाती न बनें, केवल अनुगमन न करें, कोरे अनुयायी न बनें। हम अपने स्वतंत्र चिंतन का भी उपयोग करें। अनुयायी होना एक अच्छी बात हो सकती है और एक खतरनाक बात भी हो सकती है। केवल दूसरों के पीछे चलना, उनका अधानुसरण करना अच्छी बात नहीं है। इच्छाओं के अनियंत्रित उपभोग ने समाज को पतन के कगार पर ला खड़ा किया है। हम इस सचाई का अनुभव करें।

आत्म-संयम

मुट्टी भर हड्डियों के ढांचे में अपने अस्तित्व को बनाए हुए महात्मा गांधी ने भयंकर शारीरिक यातनाएं सहनीं। उन्होंने भारी समस्याओं का सामना किया। कभी घुटने नहीं टेके। यह कैसे संभव हुआ? यदि उनके



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

पास ब्रह्मचर्य का बल नहीं होता तो वे कभी टूट जाते। उनके बारे में कहा जाता है कि उन जैसा कुरूप और सुरूप व्यक्ति इतिहास में दुर्लभ मिलेगा। शारीरिक दृष्टि से वे सुरूप नहीं थे, किन्तु चरित्र की दृष्टि से इतने लुभावने थे कि हर व्यक्ति को आकृष्ट कर लेते थे। आत्म-संयम से ऊर्जा उत्पन्न होती है, आभा-मंडल तेजस्वी होता है, सहनशीलता और धृति बढ़ती है, प्रतिभा सूक्ष्म होती है। इन सबको हम भूल गए। संयम के साथ जो आनंद की भावना जुड़ी हुई है, उसे भी हमने भुला दिया। केवल दमन, निग्रह और नियंत्रण शब्द पर ही अटक गए। चिंतन के इस अवरोध को मिटाए बिना चरित्र के अवरोध को समाप्त नहीं किया जा सकता।

सामाजिक है चरित्र का प्रश्न

चरित्र का प्रश्न भी वैयक्तिक नहीं है, वह सामाजिक है। चरित्रहीन व्यक्ति के द्वारा जहां परिवार दूषित होता है वहां गांव और समूचा समाज दूषित होता है, विकृतियां फैलती हैं। चरित्रहीन व्यक्ति यदि ऊंचे पद पर होता है तो उसके आचरण से सारा राष्ट्र भी प्रभावित होता है और कभी-कभी अंतरराष्ट्रीय जगत् भी प्रभावित हो जाता है। हम इस भेद-रेखा को मिटा दें कि व्यक्ति का एक जीवन होता है व्यक्तिगत और दूसरा जीवन होता है सामाजिक। जीवन को इस प्रकार खंडित नहीं किया जा सकता। जीवन एक और अखंड है। व्यवहार आचरण से फलित होता है और व्यवहार दूसरों के प्रति होता है, इसलिए व्यवहार और आचरण के बीच कोई लक्ष्मण-रेखा नहीं खींची जा सकती। हम गहरे में उतरकर आचरण और व्यवहार की एकात्मकता का अनुभव करें। इस एकात्मकता का अनुभव जीवन में नए आलोक का संचार कर सकता है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

चरित्र और नैतिकता की आवश्यकता क्यों?

वैज्ञानिक युग में अवैज्ञानिक बात मान्य नहीं हो सकती। आज के विश्वविद्यालय के परिसर में भौतिक-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, जीवन-विज्ञान आदि विज्ञान की अनेक शाखाएं प्रचलित हैं। इन अनेक शाखाओं की उपस्थिति में भी तथा विज्ञान की इतनी प्रगति हो जाने पर भी एक अवैज्ञानिक बात चल रही है। गंगोत्री सूखी पड़ी है और उसकी धारा प्रवाहित हो गई, यह अवैज्ञानिक बात है। उद्गम सूखा पड़ा है और उसमें से धारा प्रवाहित हो रही है, यह महान् आश्चर्यकारी बात है।

दृष्टि वैज्ञानिक या अवैज्ञानिक

जीवन के विषय में हमारी कोई वैज्ञानिक दृष्टि नहीं है। शेष सभी विषयों के प्रति हमारी दृष्टि बहुत वैज्ञानिक है, उत्तरोत्तर वैज्ञानिक बनती जा रही है। आज का मनुष्य इसलिए अशांत है कि वह अपने आप में शून्य है और शेष शून्यता को भरता जा रहा है या भरने का प्रयत्न करता जा रहा है। जब तक स्वयं की शून्यता नहीं भरेगी तब तक मनुष्य की दृष्टि वैज्ञानिक होकर भी अवैज्ञानिक ही रहेगी। आज का मनुष्य जीवन-विज्ञान के विषय में कुछ भी नहीं जानता। वह सांस लेना भी नहीं जानता और अपने भीतर घटित होने वाले परिवर्तनों, परिणमनों और पर्यायों को भी नहीं जानता। शेष सबको सूक्ष्मता से जानने का वह प्रयत्न कर रहा है किन्तु अपने-आपको जानने के प्रति उदासीन है। यह स्वयं की शून्यता और अपना अपरिचय अंतःकरण की रिक्तता को भर सके, यह कभी संभव नहीं है।

विकास का क्रम

ज्ञान बहुत आवश्यक है। जितना चेतना का ज्ञान आवश्यक है उतना ही पदार्थ का ज्ञान आवश्यक है। किन्तु कोरा ज्ञान पर्याप्त नहीं है। ज्ञान के बाद दृष्टि होनी चाहिए और दृष्टि के बाद चरित्र। चरित्र नहीं है तो दृष्टि की सार्थकता नहीं होती। यदि दृष्टि नहीं है तो ज्ञान सार्थक नहीं होता। विकास का एक क्रम है।

अज्ञान से ज्ञान का विकास, ज्ञान से दृष्टि का विकास, दृष्टि से चरित्र का विकास और चरित्र से चैतन्य का विकास, अपने अस्तित्व में रमण, सार्वत्रिक और सार्वदिक अशांति का विसर्जन। यह एक क्रम है। यदि यह क्रम पूरा नहीं होता है तो जो बनना चाहिए वह नहीं बनता। जब ज्ञान का विकास होता है तब चरित्र का विकास और अनिवार्य हो जाता है। अज्ञानी मनुष्य चरित्र का विकास न करे तो उतना खतरनाक नहीं होता। किन्तु ज्ञानी मनुष्य यदि चरित्र का विकास नहीं करता है तो वह ज्ञान बहुत अधिक खतरनाक बन जाता है।

दृष्टि और चरित्र

आज समूचे संसार पर एक भयंकर खतरा मंडरा रहा है। युद्ध की विभीषिका, अणु-अस्त्रों के प्रयोग से होने वाला प्रतिफलन इतना व्यापक है कि कोई राष्ट्र या मनुष्य आश्वस्त नहीं है। वह आश्वस्त रह नहीं सकता। प्रतिपल यह आशंका बनी रहती है कि कब क्या घटित हो जाए! इतना व्यापक खतरा और भय अतीत में कभी नहीं था। क्योंकि अस्त्रों के विषय में जितना ज्ञान आज है उतना ज्ञान अतीत में नहीं रहा होगा। निकट अतीत में तो था ही नहीं। जब मनुष्य ने पदार्थों के सूक्ष्म रहस्यों को जान लिया तब उसने भयंकर अणु-अस्त्रों का निर्माण किया। ज्ञान तो बहुत बढ़ गया। किन्तु आज का मनुष्य दृष्टि और चरित्र—दोनों से दरिद्र है। दृष्टि और चरित्र से शून्य ज्ञान समूची मानव जाति को भयंकर विनाश की ओर ले जा सकता है।

आवश्यकता चरित्र और नैतिकता की

प्रश्न पूछा जाता है कि आज के युग में चरित्र और नैतिकता की क्या आवश्यकता है? मैं मानता हूँ कि चरित्र और नैतिकता की आवश्यकता हर युग में है। जहाँ व्यक्ति है वहाँ चरित्र की अनिवार्यता होती है। जहाँ समाज है वहाँ नैतिकता अनिवार्य है। ये दोनों अनिवार्यताएं सदा होती हैं। इन्हें सामयिक नहीं कहा जा सकता। ये देश-कालातीत हैं। इनकी जितनी आवश्यकता आज है, उतनी आवश्यकता पहले नहीं रही होगी। आवश्यकता पर सदा संदर्भ के परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाता है।

वैज्ञानिक युग के संदर्भ में चरित्र और नैतिकता का प्रश्न बहुत ज्वलंत प्रश्न है। मैत्री, सहिष्णुता, अहिंसा—ये चरित्र के मुख्य अंग हैं। जब मैत्री की भावना नहीं होती है, तब सहिष्णुता का विकास नहीं हो सकता। सहिष्णुता नहीं होती है, तो मैत्री की भावना का विकास नहीं हो सकता। दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं। मैत्री और सहिष्णुता नहीं होती है तो अहिंसा का विकास नहीं हो सकता। चरित्र का विकास अहिंसा, मैत्री और सहिष्णुता पर निर्भर है। यदि समाज में अहिंसा का विकास नहीं होता तो यह समाज मनुष्यों का समाज नहीं रहता, पशुओं का समूह बन जाता। जिस समाज में समता का आचरण नहीं होता, समानता की प्रतिष्ठापना नहीं होती, वह मानव समाज कैसे हो सकता है?

चरित्र और समता

चरित्र का महत्वपूर्ण अंग है—समता। जब-जब विषमता बढ़ती है तब-तब समाज में उच्छृंखलता पनपती है, क्रांतियां होती हैं। प्रत्येक क्रांति के पीछे विषमता का स्वर मुखर है। मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह दूसरे को हीन देखने में अधिक रस लेता है। यह प्रकृति का स्वभाव है कि जब-जब मनुष्य दूसरे



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

को हीन मानने लगता है, तब चक्र उलटा चलने लगता है। हीन मानने वाला नीचे चला जाता है और जिन्हें हीन माना जाता है, वे ऊपर आ जाते हैं।

आज का युग क्रांतियों का युग है। इसमें राजनीतिक क्रांति, आर्थिक और सामाजिक क्रांति होती रही है। इस युग में समानता की सर्वाधिक आवश्यकता है। समानता की अनुभूति चरित्र का मुख्य अंग है। जातिभेद, वर्णभेद, रंगभेद, वर्गभेद—ये सारी विषमताएं हैं। ये विषमताएं मनुष्य जाति की अस्मिता को निगलती जा रही हैं। इसे हम मानें या न मानें, जानें या न जानें, यह वस्तुस्थिति है। यह एक ऐसा राहु-ग्रास है जिसने उजली चांदनी पर आकर समूचे संसार में अंधकार फैला रखा है। इसे दूर किए बिना मनुष्य जाति अपनी निर्मलता के साथ जी नहीं सकती।

व्यवस्थित आचार-संहिता

आज चरित्र की बहुत आवश्यकता है, अतीत में भी यह आवश्यकता रही है। भगवान महावीर ने गृहस्थ के लिए एक आचार-संहिता प्रस्तुत की थी। मुझे लगता है, चरित्र की इतनी व्यवस्थित आचार-संहिता अन्यत्र दुर्लभ है। वह केवल सैद्धांतिक ही नहीं, पूर्ण व्यावहारिक है। समाज में रहने वाला व्यक्ति सामाजिक लोगों के प्रति किस प्रकार प्रामाणिक और समभावी रह सकता है, इसका पूरा रूप उसमें परिलक्षित है। मिलावट न करना, असली दिखाकर नकली न देना, धरोहर न हड़पना, बंधक वस्तु पर अपना स्वामित्व न जताना, दूसरे का अधिकार न हड़पना आदि-आदि जितनी अपेक्षित बातें हैं, वे सारी आचार-संहिता में निहित हैं।

नैतिकता और चरित्र

नैतिकता चरित्र से पृथक् नहीं है। वह चरित्र का ही एक अंग है। यदि हम दोनों में कोई भेद करना चाहें तो यह भेदरेखा खींची जा सकती है कि चरित्र का संबंध व्यक्ति से है और नैतिकता के लिए दो व्यक्ति चाहिए। एक व्यक्ति दूसरे के प्रति जो व्यवहार करता है, उसके साथ नैतिकता जुड़ी हुई होती है। चरित्र अकेले में भी हो सकता है। मैत्री और अहिंसा का भाव, राग-द्वेष मुक्त चेतना का भाव अकेले में भी हो सकता है। नैतिकता के लिए कम-से-कम दो व्यक्ति चाहिए। चरित्र और नैतिकता दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं। चरित्रहीन व्यक्ति अपने आपमें असंतुष्ट होता है। नैतिकताविहीन व्यक्ति स्वयं में उतने असंतोष का अनुभव न भी करे किन्तु समाज के लिए असंतोष पैदा करता है।

आवश्यकता धर्म की

धर्म सार्वभौम तत्त्व है। आज के मनुष्य ने पारलौकिक धर्म को अस्वीकार-सा कर रखा है। वर्तमान जीवन के प्रति उसकी जितनी आस्था है उतनी पारलौकिकता के प्रति नहीं है। जो नहीं है उसे जबरदस्ती लाया नहीं जा सकता। धर्म केवल पारलौकिक ही नहीं है। वह वर्तमान जीवन में परिवर्तन लाता है। परलोक की चिंता कोई करे या न करे—यह भिन्न प्रश्न है। वर्तमान जीवन में भी धर्म की बहुत बड़ी आवश्यकता है, अनिवार्यता है। पदार्थ की अनिवार्यता है, इसलिए मनुष्य ने पदार्थ का इतना विकास किया है। क्या धर्म की कम अनिवार्यता है? क्या अशांति का प्रश्न धर्म से जुड़ा हुआ नहीं है? क्या अनुशासनहीनता का प्रश्न



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

धर्म से जुड़ा हुआ नहीं है? क्या युद्ध और आतंक का प्रश्न धर्म से जुड़ा हुआ नहीं है? ये सारे प्रश्न धर्म से जुड़े हुए हैं।

अशांति, भय और आतंक—ये सब इसीलिए चल रहे हैं कि मनुष्य ने धर्म को अस्वीकार किया है। मुझे लगता है, सम्प्रदाय के नाम पर धर्म का सिक्का चल रहा है। वह खोटा सिक्का था, इसीलिए मनुष्य ने उसको अस्वीकार किया, किंतु साथ ही साथ जो वास्तविक था उसे भी अस्वीकार कर दिया। इससे मनुष्य ने बहुत हानि उठाई। अशांति की समस्या को तब तक नहीं सुलझाया जा सकता जब तक धर्म को स्वीकार नहीं किया जाता। धर्म का अर्थ है—चैतन्य का जागरण।

हमारी चेतना पर प्रियता और अप्रियता का संवेदन हावी हो रहा है। हम किसी भी पदार्थ को या तो प्रियता की दृष्टि से देखते हैं या अप्रियता की दृष्टि से देखते हैं। किंतु एक तीसरी दृष्टि भी है, जो न प्रियता से संवलित है और न अप्रियता से संवलित है। वह तीसरी दृष्टि है—समता की। समता की दृष्टि से देखने का हमारा अभ्यास ही नहीं है, इसलिए धर्म हमारी पकड़ में नहीं आ रहा है। समता की दृष्टि ही धर्म है। धर्म और समता दो नहीं हैं। समता की दृष्टि के अभाव में मनुष्य या तो प्रियता के जाल में फंसता है या अप्रियता के जाल में। वह यह निर्णय नहीं कर पाता कि इससे परे भी कोई सचाई है। उस भूमिका का निर्णय ठीक है। वह जिस जाल में फंसा हुआ है, वहां से यही निर्णय लिया जा सकता है। सचाई दूर रह जाती है। जब सचाई दूर हो जाती है तब समाधान नहीं होता।

इस चक्र का अंत कहां होगा ?

आज धर्म के प्रश्न पर पुनर्विचार की जरूरत है। समस्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की नहीं, समूचे संसार की समस्या उलझती ही जा रही है। गांठ घुलती जा रही है, वह खुलती ही नहीं। इसका कारण यही है कि प्रियता और अप्रियता से परे जो मंजिल है, उस मंजिल की ओर हमारा प्रस्थान ही नहीं है। आज भले ही हम न सोचें, किंतु एक दिन अवश्य ही सोचना होगा कि मानव-जाति की अशांति, तनाव और समस्याओं को सुलझाने वाला कोई तत्त्व उपलब्ध होना चाहिए। वह तत्त्व चरित्र और नैतिकता के अतिरिक्त कुछ हो नहीं सकता। हमारा विचित्र प्रयत्न है। हम समाधान को टुकराते जा रहे हैं और समस्या को सुलझाने की अपेक्षा उलझाने की दौड़ में आगे बढ़ते जा रहे हैं। इस चक्र का अंत कहां होगा, कुछ नहीं कहा जा सकता।

मूल्य : शाश्वत भी, सामयिक भी

आज का बौद्धिक युवक धर्म के नाम से सकुचाता है। वह धर्म को बीते युग की अनुपयोगी वस्तु मान बैठा है। चरित्र और नैतिकता के प्रश्न को भी वह गंभीर प्रश्न नहीं मानता। किन्तु मुझे लगता है कि बहुत बार खुलते दरवाजे को भी आदमी अपने ही हाथों बंद कर देता है। क्या धर्म, चरित्र और नैतिकता के बिना मानसिक उलझनों और पारस्परिक संघर्षों को समाप्त किया जा सकता है ?

आज शांति के लिए बहुत खोजें हो रही हैं, संघर्षों को समाप्त करने के लिए बहुत सोचा जा रहा है। पर मूल प्रश्न पर चिंतन किए बिना इन दोनों समस्याओं का हल होता दिखाई नहीं देता। केवल अतीत



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

के संस्कारों को ध्यान में रखकर नहीं, धर्म के प्रति किसी अनुराग की भावना से नहीं, यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में मैं कहना चाहता हूँ कि अपने अस्तित्व के प्रति पूर्ण जागरूक हुए बिना कोई भी आदमी चरित्रवान् नहीं बन सकता, नैतिक नहीं बन सकता। जागरूकता के अभाव में, पदार्थ की प्रचुरता होने पर भी आदमी शांति से नहीं जी सकता। चरित्र की अपेक्षा इसीलिए है कि आदमी को शांति की अपेक्षा है। चरित्र की अपेक्षा इसीलिए है कि मनुष्य को शुद्ध चैतन्य के अनुभव की अपेक्षा है। नैतिकता की अपेक्षा इसीलिए है कि समाज लुटेरों का समाज रहना नहीं चाहता, किंतु प्रगतिशील मनुष्यों का समाज रहना चाहता है। वह चेतना के स्तर पर उन्नत होना चाहता है। ये दोनों अपेक्षाएं हैं। वैज्ञानिकता ने इन दोनों अपेक्षाओं को और अनिवार्य बना दिया है। इसलिए आज के मनुष्य को चरित्र और नैतिकता के प्रश्न पर पुनः विचार करना चाहिए। ये हमारे शाश्वत मूल्य हैं। शाश्वत होने के साथ-साथ ये सामयिक मूल्य भी हैं। शाश्वत और सामयिक—दोनों दृष्टियों से इस प्रश्न पर विचार होना चाहिए।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

चरित्र निर्माण का प्रश्न

पूज्य गुरुदेव ने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया। उसमें सबसे पहला सूत्र यह दिया—‘धर्म और संप्रदाय एक नहीं हैं। संप्रदाय भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, किन्तु धर्म कभी भिन्न नहीं होता, वह एक ही होता है। सत्य दो नहीं होता, आकाश दो नहीं होता। अपने-अपने घर में सबके आकाश है। मेरे घर में आकाश है, दूसरे के घर में आकाश नहीं है, यह मानना एक मिथ्या भ्रम और विपर्यय होता है। आकाश रचनाकार है, वह देश और काल में विभक्त नहीं होता। धर्म कभी विभक्त नहीं होता, सत्य कभी विभक्त नहीं होता।

हम वर्तमान की समस्या पर विचार करें। राष्ट्रीय चरित्र की समस्या पर विचार करें तो सबसे पहले धर्म के स्वरूप को समझना आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना चरित्र-निर्माण की कोई संभावना नहीं की जा सकती।

क्यों होता है चरित्र का पतन ?

पूरा समाज काम और अर्थ—इन दो पुरुषार्थों के बीच चलता है। काम है और अर्थ उसकी पूर्ति का साधन है। इन दो के बिना समाज कभी नहीं चलता, जीवन की यात्रा भी नहीं चलती। किन्तु काम और अर्थ की सीमा होनी चाहिए। काम अतिरिक्त होता है और अर्थ का भी असंयम होता है तो फिर चरित्र का पतन और हास होता है। आश्चर्य है कि इन दोनों का सीमाकरण नहीं हो रहा है। मैं जब-तब बड़े-बड़े धनपतियों को देखता हूँ तो मन में आता है कि वे स्वयं धन की सीमा नहीं रखते और सरकार ने भी व्यक्तिगत स्वामित्व की कोई सीमा निर्धारित नहीं की है। कितना अच्छा होता यदि व्यक्तिगत भोग और व्यक्तिगत स्वामित्व सीमित होता। एक सीमा होती इनकी तो शायद चरित्र का इतना पतन नहीं होता। चरित्र के पतन का सबसे बड़ा कारण यह धनबल हो रहा है। धन की व्यवस्था हमारी कहीं सीमित नहीं है, इसलिए भ्रष्टाचार बढ़ता है। चाहे आर्थिक क्षेत्र को लें या सामाजिक क्षेत्र को, निरंतर बढ़ रही अपराध-

वृत्ति के पीछे मूल कारण अर्थ ही है। काम भी इसका कारण बनता है, किन्तु काम भी अर्थ के बिना स्वयं अपराध का कारण नहीं बनता।

राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण की बात करें तो हमारे सामने सबसे बड़ा प्रश्न और सबसे बड़ी समस्या है—हमने अर्थ के बारे में कोई निश्चित सीमा निर्धारित की है या नहीं, कोई अर्थ की नीति निर्धारित की है या नहीं? अगर नहीं की है तो फिर चरित्र-निर्माण के प्रश्न को भी सुलझाया नहीं जा सकता, जैसा चल रहा है, वैसे ही चलेगा।

अणुव्रत में अर्थ की सीमा पर बहुत विचार किया गया है। श्री जयप्रकाश नारायण इस कार्य में बहुत सहभागी बने थे। किन्तु लगता है सरकार और समाज में अभी वह सीमा निर्धारित नहीं हो रही है। बड़े-बड़े उद्योगपतियों और धनपतियों के उपभोग की सीमा भी निर्धारित नहीं हो रही है। हम देख रहे हैं एक शादी में पन्द्रह और बीस करोड़ के खर्च खुलेआम हो रहे हैं, उधर देश में ऐसे लोगों की संख्या कई करोड़ों में है, जिनके पास दो वक्त खाने को पूरा भोजन भी नहीं मिलता। ऐसे में चरित्र-निर्माण की बात कैसे करें? यह एक अजीब प्रश्न हमारे सामने है।

जरूरी है प्रयोगात्मक स्वरूप

अब तक समाधान सिद्धान्त के स्तर पर खोजा जाता रहा है। हमारा मानना है कि केवल सिद्धान्त के आधार पर समस्या का समाधान नहीं होता, उसकी क्रियान्विति नहीं होती, जब तक उसका प्रयोगात्मक स्वरूप हमारे सामने नहीं आता, व्यवहार की भूमिका कोई सामने नहीं आती। इस प्रसंग में एक छोटी-सी कहानी है—

एक गृहस्थ के घर में चूहे बहुत थे। एक बार कहीं बाहर जाना था। सोचा—पुस्तक को रसोईघर में रख दूं। पुस्तक का टाइटिल था—‘चूहों को पकड़ने की सौ विधियां। उसने पुस्तक रसोईघर में रख दी। उस पुस्तक में चूहों को पकड़ने की विधि के रंगीन चित्र थे। पुस्तक को रख कर चला गया। चूहों ने रसोईघर पर हमला बोला। पुस्तक बोल उठी—‘देख नहीं रहे हो? मेरा नाम है चूहों को पकड़ने की सौ विधियां। कोई भी नजदीक आया तो मैं उसे पकड़ लूंगी।’ चूहों पर उसकी बात का क्या असर होता? उन्होंने उस पर ध्यान ही नहीं दिया, अपने काम में लग गए। पुस्तक को भी कुतर डाला।

केवल सिद्धान्त से और सौ प्रकार की विधियां बतलाने मात्र से हमारी किसी समस्या का समाधान नहीं होता। समस्या का समाधान तब संभव बनता है, जब कोई प्रायोगिक पद्धति हमारे सामने आए। विज्ञान की खोजों से भी यह बात सिद्ध हुई है कि चरित्र-निर्माण के लिए हमारे मस्तिष्क में विशेष प्रकार के न्यूरोन और विशेष प्रकार के प्रकोष्ठ होते हैं, उन्हें जाग्रत किया जाए तो चरित्र विकास में अच्छी गति हो सकती है। शिक्षा के क्षेत्र में ऐसे ही प्रयोगों की जरूरत थी, किन्तु इन प्रयोगों को काम में नहीं लिया गया, जिससे प्रारम्भ से ही विद्यार्थी के चरित्र निर्माण में मदद मिलती।

आवश्यक है गंभीर चिन्तन

इस समस्या के निवारण के लिए हमें कुछ करना होगा। हम जानते हैं कि जिस राष्ट्र का नेतृत्व नैतिक नहीं होता, वह एक बार भले ही लगे कि बहुत भौतिक विकास कर रहा है किन्तु दीर्घकाल तक उसकी



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

मजबूती कायम नहीं रह सकती। इसलिए हमें इस प्रश्न पर गंभीरता से चिंतन करना चाहिए। जिसके हाथ में राष्ट्र के संचालन की बागडोर है और जहां से सब कुछ बनता-बिगड़ता है, उन सांसदों के बीच यह चिंतन बहुत आवश्यक है। अपेक्षा है ऐसा कोई गंभीर चिन्तन हो जिससे यह चरित्र हास की समस्या सुलझे। कभी बाहर के लोग आकर इस देश में नैतिकता, सदाचार और संयम की शिक्षा ग्रहण करते थे, आज हम स्वयं इस दृष्टि से श्रीहीन हो रहे हैं। आज की सबसे बड़ी अपेक्षा है कि हमारा नैतिक क्षरण, चारित्रिक हास रुके और हम पुनः अपने उस प्राचीन वैभव को प्राप्त करें, जो हमारी सबसे बड़ी पहचान थी।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

सदाचार का आधार : नानात्व का बोध

जिज्ञासा और समाधान—ये दो तत्त्व हैं। इनके द्वारा चिन्तन और दर्शन का विकास हुआ है। शिष्य और गुरु—यह एक युगल माना जाता है। शिष्य भी व्यक्ति और गुरु भी व्यक्ति। इसका दूसरा युगल बन सकता है—जिज्ञासा शिष्य है और समाधान गुरु है। दर्शन के विकास में आश्चर्य, कुतूहल बहुत बड़ा हेतु बना है।

एक शिष्य के मन में जिज्ञासा उभरी। वह गुरु के पास पहुंचा, वन्दना कर बोला—‘गुरुदेव! मैं मनुष्य हूं और इस दुनिया में केवल मैं ही नहीं हूं। आकाश में देखता हूं तो बहुत सारे पक्षी उड़ रहे हैं। भूमि पर देखता हूं तो बहुत सारे पेड़-पौधे खड़े हैं। आपने मुझे बताया था—सब जीव समान हैं, आत्मा आत्मा में कोई अन्तर नहीं है फिर यह नानात्व कैसे बना? यह भेद कैसे आया? कोई मनुष्य है, कोई पक्षी है, कोई पशु है और कोई वनस्पति है। इस प्रकृति के प्रांगण में अनेकता है, कहीं एकरूपता नहीं है। यह क्यों?’

समानो वर्तते जीवः, नानात्वं कथमिष्यते।

मनुष्यो वर्तते कश्चित्, कश्चित् पक्षी पशु स्तरुः ॥

यूनान के कुछ दार्शनिक आत्मा आत्मा में भेद बताते थे। उनकी दृष्टि से सब आत्माएं समान नहीं हैं। पशु-पक्षियों की आत्माएं अलग हैं, वनस्पति की आत्मा अलग है और मनुष्य की आत्मा अलग है। वे आत्मा के ये तीन वर्ग मानते हैं किन्तु जैन दर्शन में कहा गया—सब जीव समान हैं। उनमें कोई भेद नहीं है। फिर यह नानात्व कैसे आया? नानात्व का हेतु क्या है?

नानात्व का कारण

आचार्य ने इस प्रश्न का समाधान दिया—‘वत्स! सब जीव समान हैं। जीवों में कोई अन्तर नहीं है किन्तु समान होने पर भी नानात्व का एक कारण है—

अस्त्यात्मा शाश्वतस्तेन, गतिचक्रं प्रवर्तते।
अस्ति पुण्यं च पापं च, नानात्वं च गतेस्ततः॥

आत्मा शाश्वत है। व्यक्ति के मरने के बाद भी आत्मा की मृत्यु नहीं होती। गति का एक चक्र चलता है। आत्मा एक गति में जाता है और वहां से दूसरी गति में जाता है। यह गति का चक्र निरन्तर चालू रहता है, रुकता नहीं है।

शिष्य ने पूछा—‘गुरुदेव! गति-चक्र चलता है। उससे सबके सब मनुष्य बन जाएं लेकिन यह क्यों होता है कि एक मनुष्य बनता है और दूसरा पशु। इसका कारण क्या है?’

गुरु ने कहा—‘इसका हेतु है पाप और पुण्य। प्राणी पुण्य के साथ जन्म लेता है, मनुष्य बन जाता है। प्राणी पाप के साथ जन्म लेता है, तिर्यच योनि में चला जाता है, कुत्ता बन जाता है, चील बन जाता है, और कुछ बन जाता है।’

दुनिया में नानात्व है, अनेकरूपता है। चार गतियां बताई गई हैं—नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव। इनमें मनुष्य और तिर्यच—ये दो गतियां प्रत्यक्ष हैं। नरक और देव—ये दो गतियां परोक्ष हैं। इनमें दो इन्द्रिय-ज्ञान का विषय हैं और दो अतीन्द्रिय ज्ञान का। परोक्ष को जानना आसान नहीं है, प्रत्यक्ष मनुष्य के सामने है। मनुष्य और तिर्यच में बहुत बड़ा अन्तर है। मनुष्य ने बहुत विकास कर लिया किन्तु पशु आज भी वैसा का वैसा है जैसा वह हजारों वर्ष पहले था। हजार वर्ष पहले बैल गाड़ी से जुतता था और आज भी जुतता है। हजार वर्ष पहले कुत्ता ऐसे ही गलियों में भौंकता था और आज भी भौंकता है। कोई फर्क नहीं पड़ा। मनुष्य ने हजार वर्ष में बहुत विकास किया है। इन दो सौ वर्षों में भी उसने बहुत बड़ा विकास किया है।

आत्मा की अमरता है, गति का चक्र है, अपना-अपना पुण्य और पाप है, इसलिए यह गति का भेद हो रहा है। इस गति-भेद की पृष्ठभूमि में अपना-अपना किया हुआ शुभ-अशुभ कर्म, पुण्य और पाप कारण बन रहा है। यही धार्मिक या नैतिक जीवन जीने का बहुत बड़ा आचारशास्त्रीय आधार बनता है।

नैतिक और धार्मिक क्यों बने?

प्रश्न होता है—आदमी नैतिक क्यों बने? धार्मिक क्यों बने? किसलिए बने? धर्म ऐसी चीज नहीं है, जिसका प्रत्यक्ष अनुभव हो। रोटी का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, दूध-चाय का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। भूख लगते ही मांग शुरू हो जाती है और मांग होते ही आदमी उसे खाता है। ऐसे धर्म की मांग क्यों नहीं होती? कोई भी दिन ऐसा नहीं उगा होगा, जिस दिन धर्म की भूख लगी हो। इसलिए उसकी अपेक्षा महसूस नहीं होती। जिसकी प्रत्यक्ष मांग है, उसकी जरूरत है। भूख लगती है इसीलिए रोटी चाहिए, पैसा चाहिए और पैसे के लिए कोई व्यापार चाहिए। यह प्रत्यक्ष मांग है। इसके लिए प्रेरणा देने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

साधु-साध्वियां बहुत उपदेश देते हैं, प्रवचन करते हैं। हजारों-हजारों गांवों में, हजारों-हजारों स्थलों में धर्म का प्रवचन होता है किन्तु ऐसा कोई प्रवचन मंडप नहीं बना, जहां रोटी खाने का उपदेश दिया जाता हो। जिसकी प्रत्यक्ष जरूरत है, उसके लिए प्रवचन की आवश्यकता नहीं होती। धर्म की बात प्रत्यक्ष नहीं



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

है। अगर यह गति का नानात्व नहीं होता, सब आदमी समान होते, पुण्य-पाप का भेद नहीं होता तो धर्म की बात समझ में ही नहीं आती। मौत होती है तो धर्म की बात समझ में आती है। बीमारी होती है तो धर्म की बात समझ में आती है। यदि मौत नहीं होती, बीमारी नहीं होती, कोई दुःख नहीं होता तो शायद आदमी धर्म का नाम सुनना ही पसन्द नहीं करता। उसे धर्म केवल निकम्मी बात लगती है। मैंने साक्षात् देखा है—धर्म को थोथी बकवास कहने वाले जब बीमार पड़े तो कांप उठे।

बिना भक्त तारिये तो तारिबो तिहारो है

एक श्रावक परम्परा में जनमे हुए व्यक्ति धर्म के कट्टर आलोचक थे। जब वे बीमार पड़ गए, मृत्यु के निकट पहुंच गए, तब उनकी भावना में बदलाव आया। उन्होंने आचार्यवर को प्रार्थना करवाई—‘आचार्यवर! आप दर्शन दिराएं।’ आचार्यश्री पधारे, बातचीत हुई। वे बोले—‘महाराज! मैंने बहुत आलोचना की है, धर्म और संघ की निंदा की है, साधुओं की निन्दा की है पर अब अन्तिम समय आ गया है। मैं चाहता हूं—अब मुझे धर्म की बात सुनाई जाए। आपने पधार कर दर्शन दिए, बहुत अच्छा हुआ। मेरी भावना है—आप हमेशा साधु-साध्वियों को दर्शन दिलाने के लिए यहां भेजें, मुझे अधिक से अधिक धर्म की बात सुनाएं।’ यह सुनकर सारे लोग अवाक् रह गए। लोगों ने कहा—पूर्व में उगने वाला सूरज पश्चिम में कैसे उग आया? यह क्या हुआ? कैसे हुआ? उस समय उन्होंने कहा—‘आचार्यवर! मैंने तो कुछ नहीं किया पर आप मुझे तारें। जिन्होंने भक्ति की, उन सबको तारना आसान है किन्तु जिन्होंने भक्ति नहीं की, उन्हें तारना ही तारना है—

प्रह्लाद को तार्यो ताके तात को तमासो देख्यो,
ध्रुवजी को तार्यो ताको बालापन टार्यो है।
मोरध्वज तार्यो ताके पुत्र पे करोत धरी,
हरिश्चन्द्र तार्यो ताको कहां सत्य टार्यो है।
सुग्रीव को तार्यो ताको बंधव करायो नाश,
विभीषण तार्यो ताको कुटुम्ब संहार्यो है।
भक्त-भक्त तारे या में राव री बड़ाई कहां,
बिना भक्त तारिये तो तारिबो तिहारो है॥

अगर विषम परिस्थितियां नहीं होतीं, पुण्य-पाप नहीं होता तो शायद धर्म का मूल्य समझ में नहीं आता। वास्तव में पुण्य और पाप—ये दो तत्त्व ऐसे हैं, जो आदमी की मति को बदल देते हैं। धर्म दिखाई नहीं देता। दिखाई देता है व्यक्ति का पुण्य और पाप। यह पुण्य-पाप नहीं होता तो आदमी धर्म जैसे गूढ़ तत्त्व तक जाने की बात सोचता ही नहीं। किन्तु ये दो चौकीदार हैं, जो आदमी को सदा जगाते रहते हैं, सावधान करते रहते हैं। व्यक्ति को पाप बहुत सावधान करता है, साथ-साथ पुण्य भी उसे सावधान करता है। एक आदमी के पुण्य को देखकर दूसरा भी सावधान होता है। इसने पाप किया था अतः यह भोग रहा है, मैंने नहीं किया इसलिए मुझे यह नहीं भोगना पड़ रहा है। ये दोनों ही मनुष्य को जगाते रहते हैं।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

खतरनाक है दूसरों के सहारे ऊपर उठना

एक पिता के तीन पुत्र थे। जब तीनों बड़े हुए, पिता ने उन्हें बुलाया। पिता ने कहा—तुम जाओ, कमाकर खाओ।

जो पिता अपने पुत्र का पुरानी संपत्ति के आधार पर विकास चाहता है, वह अपने पुत्र का हितैषी नहीं है। अनेक व्यक्ति कहते हैं—भाई! बहुत धन पड़ा है हमारे पास, तुम कमा कर क्या करोगे? परावलम्बी जीवन जीना दूसरों के भरोसे पर जीवन जीना जितना खतरनाक होता है उतना बड़ा खतरा दुनिया में किसी बात का नहीं होता।

मुम्बई चातुर्मास में आचार्यवर ने कहा—तुम मेघ पर अष्टक लिखो। आचार्यवर के निर्देश को तत्काल स्वीकृत कर मैंने मेघाष्टक लिखा। उसका एक श्लोक है—

आश्रित्यानिलमूर्ध्वगा जलमुचो जानन्ति तत्त्वं न तत्,
कुर्वन्तो गगनांगणे चपलताकेलिं हरन्ते मनः।
स्तोकेनैव पलेन भूमिपतनं ते यान्त्यतर्क्यध्रुवं,
अन्यालम्बनतो यदूर्ध्वगमनं तन्नास्ति रिक्तं भयात्॥

मेघ पवन के आश्रय में बहुत ऊंचे चले जाते हैं। वे तत्त्व को नहीं जानते, वे आकाश में चपल क्रीड़ा करते हुए जनता का मन हर लेते हैं। वे थोड़े ही समय में अतर्कित रूप से भूमि पर गिर जाते हैं क्योंकि दूसरों के सहारे ऊपर चढ़ना खतरे से खाली नहीं होता।

मेघ पवन के आश्रय से बहुत ऊपर उठा और हवा के सहारे ही नीचे गिरा। जो दूसरों के सहारे ऊपर उठता है, उसके पतन को रोका नहीं जा सकता। अपनी क्षमता और शक्ति के विकास के बिना केवल दूसरों के भरोसे पर चलना, दूसरों के सहारे ऊपर जाना खतरे से खाली नहीं होता।

दूरी आराम और हराम में

पिता ने कहा—मेरी सम्पत्ति के भरोसे पर मत जियो। मैंने जो कमाया है उसके आधार पर मत जियो। अपना पुरुषार्थ करो और कमाओ। मैं तुम्हें प्रारम्भ में हजार-हजार मुद्राएं दे देता हूं। इन्हें ले जाओ, प्रदेश में व्यापार को बढ़ाओ और कमाओ। तुम्हें लम्बे समय तक सुदूर प्रदेश में रहना है, बारह वर्ष की यात्रा करके वापस आना है और व्यापार का पूरा लेखा-जोखा मुझे देना है।

उस समय यात्रा के साधन तीव्रगति वाले नहीं थे। अधिकांश यात्राएं समय और श्रम साध्य होती थी। गंतव्य स्थल पर पहुंचने में भी छह-सात महीने लग जाते थे। पुत्र व्यापार के लिए चल पड़े। वे चलते-चलते एक शहर में पहुंचे। तीनों भाइयों ने परामर्श कर निश्चय किया—इसी शहर में रहेंगे, व्यापार करेंगे और कमाएंगे। तीनों सगे भाई काम-धंधे में लग गए।

तीनों भाइयों के पास हजार-हजार मुद्राएं थीं। हजार मुद्राएं उस समय बहुत होती थीं। सौ वर्ष पहले दो-चार रुपये एक परिवार के लिए एक महीने तक पर्याप्त होते थे।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

बड़े भाई ने सोचा—मेरे पास बहुत मुद्राएं हैं, आराम करूंगा। कोई चिन्ता की बात नहीं है। वह आराम में चला गया।

जो आराम में जाता है वह हराम बन जाता है। आराम और हराम के बीच ज्यादा दूरी नहीं है। इधर आराम और उधर हराम—इतनी-सी दूरी है। उसने जुआ खेलना भी शुरू कर दिया। वह बुरी आदतों में फंसता ही चला गया।

दूसरे भाई ने सोचा—पिताजी ने हजार मुद्राएं दी हैं। यह व्यापार का झंझट क्यों मोल लूं?

कुछ लोग कोई भी खतरा मोल लेना नहीं चाहते, सीधा जीवन बिताना चाहते हैं। ज्यादा झंझट और माथापच्ची उनके वश की बात नहीं होती।

उसने वे हजार मुद्राएं ब्याज में दे दीं। जो ब्याज में आएगा, उसे खाऊंगा। पिताजी ने जो दिया है, वह सारा का सारा वापिस समर्पित कर दूंगा। किराए पर मकान लिया। ब्याज में उसका पूरा जीवन चल जाता। न कोई झंझट, न कोई उठा पटक। वह शांति के साथ अपने जीवन को बिताने लगा।

तीसरे भाई ने सोचा—पुत्र का कर्तव्य होता है कि उसे पिता से जितना मिले, उसे बढ़ाकर पिता को दे। सम्पत्ति की वृद्धि करना मेरा दायित्व है। पुत्र का काम होता है विकास करना। जैसे अपने शिष्य को आगे बढ़ते देख गुरु प्रसन्न होता है वैसे ही अपने पुत्र को विकास करते देख पिता प्रसन्न होता है। छोटे पुत्र ने एक बड़ी कल्पना के साथ व्यापार शुरू किया और ग्यारह वर्ष में उस नगर का सबसे बड़ा धनपति बन गया।

ग्यारह वर्ष बीत गए। बारहवां वर्ष चल रहा था। उसने सोचा—अब तो चलना होगा। दो-तीन माह रास्ते में लगेंगे। पिता के आदेश से तीनों भाई साथ-साथ आए। पिता का आदेश था, अतः तीनों भाई अलग-अलग रहे। अब तीनों को वापस साथ जाना है। उन दोनों का पता ही नहीं है कि वे कहां हैं। उनसे कैसे मिलूं! उसने एक उपाय ढूंढ़ निकाला। एक भोज का आयोजन किया। उसमें सब व्यापारियों को निमंत्रित किया। भोज में नगर के प्रतिष्ठित व्यापारी आए। बड़े भाई मिल गए। वह बोला—भाई साहब! अब तो चलना होगा। बारह वर्ष बीत रहे हैं। कुछ माह रास्ते में लग जाएंगे।

आराम का परिणाम

दोनों भाई मिल गए पर तीसरा नहीं मिला। उसने सोचा—तीसरा क्यों नहीं आया? उसने दूसरा उपाय सोचा तीसरे भाई को ढूंढ़ने का। वह एक-एक वर्ग को भोजन पर आमंत्रित करने लगा। कभी स्वर्णकार वर्ग को बुलाया, कभी क्षत्रिय वर्ग को बुलाया और कभी किसी वर्ग को बुलाया। अनेक वर्ग आए, पर भाई नहीं मिला। आखिर एक वर्ग आया लकड़हारों का। उसमें तीसरा भाई भी आ गया। दोनों भाई उसकी दशा देखकर दंग रह गए। उसके पास सीधा जाना भी एक समस्या बन गया। भोजन कर सब जाने लगे। सेठ ने अपने कर्मचारी को भेजा। कर्मचारी ने तीसरे भाई से कहा—‘आप रुक जाएं।’ उसने कहा—‘मैंने कोई चोरी थोड़े ही की है।’ कर्मचारी ने कहा—‘सेठ साहब का हुक्म है, आपको रुकना होगा।’ सब चले गए। दोनों भाई नीचे आए। उन्होंने कहा—‘भाई! यह क्या हुआ है?’



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

छोटे भाइयों ने बड़े भाई को पहचान लिया पर बड़े भाई ने छोटे भाइयों को नहीं पहचाना। पैसा बढ़ता है तो आदमी की दशा भी बदल जाती है।

बड़ा भाई बोला—‘मेरी दशा खराब हो गई। मैं बुराई में फंस गया, बुरे आचरण में डूब गया। सारी राशि उसमें समाप्त हो गई। खाने को रोटी नहीं बची। लकड़ी लाने का काम करने लगा। रोज लकड़ी लाना और बेचना, रोज कमाना और रोज खाना। बस, यही मेरा भाग्य बन गया।’

तीनों भाई चले, पिता के पास पहुंचे। पिता ने बड़े भाई से पूछा—‘बताओ! तुमने क्या कमाया?’

वह रोने लगा। उसने व्यथा भरे स्वर में कहा—‘पिताजी! गया था तब हाथ भरा था और अब खाली हाथ आ रहा हूं।’ उसने अपनी सारी स्थिति बताई।

पिता ने कहा—‘बैठ जाओ।’

दूसरे लड़के से पूछा—‘तुमने क्या कमाया?’

उसने कहा—‘आपने जो दिया था, वह सुरक्षित है।’

पिता ने तीसरे लड़के से भी यही प्रश्न पूछा।

उसने कहा—‘ये बही-खाते देख लें।’

सेठ बही-खातों को उलट-पुलट कर देखने लगा। उसमें अपार संपदा का ब्यौरा था। सेठ प्रसन्न हो गया।

तीन बनिए समान राशि को लेकर गए। एक ने मूल को गंवा दिया, एक मूल को वापस लेकर आया और एक ने सम्पदा को अथाह बना दिया। यह एक उपमा है, उत्तराध्ययन सूत्र का बहुत मार्मिक उदाहरण है।

मानवीय संदर्भ

इस व्यावहारिक उदाहरण को मानवीय संदर्भ में भी देखा-परखा जा सकता है। मनुष्य भी तीन प्रकार के होते हैं। एक मनुष्य बना और बुराईयों में फंस गया। बुरे व्यवहार से वह मूल को ही खो देता है। वह मर कर नरक में जाता है, तिर्यच गति में जाता है, अपनी मूल पूंजी मनुष्य जीवन से ही वंचित हो जाता है। दूसरे प्रकार का मनुष्य वह है, जो न ज्यादा धर्म करता है और न बुराई में जाता है। उसकी प्रकृति सरल होती है, जीवन सादा होता है। वह मरकर मनुष्य बन जाता है, अपनी मूल पूंजी मनुष्य जीवन को सुरक्षित रख लेता है। एक मनुष्य ने तपस्या की, संयम की आराधना की, सदाचार और नैतिकता का आचरण किया, इन्द्रियों का संयम किया। उसने अपार लाभ कमा लिया। वह मरने के बाद देवगति में चला जाता है, मूल पूंजी मनुष्य जीवन को बहुत अधिक बढ़ा लेता है।

नानात्व का कारण : व्यक्ति का आचरण

नानात्व का कारण है अपना-अपना आचरण। आचरण की विभिन्नता से व्यक्तियों में विभिन्नता होती है। एक मनुष्य मरने के बाद नरक अथवा तिर्यच गति में जाता है, एक मरने के बाद मनुष्य बना रहता है और एक मरने के बाद देवता बन जाता है। यह नानात्व व्यक्ति के आचरण पर, उसके पुण्य-पाप पर



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अवलम्बित है। इस प्राकृतिक नियम को मिटाया नहीं जा सकता। केवल कानूनी नियम इस विषय में प्रभावी नहीं होते।

आज के लोग कानूनी नियमों को समझने का बहुत प्रयत्न करते हैं पर प्राकृतिक नियमों की ओर उनका ध्यान नहीं जाता। प्राकृतिक नियमों को समझना जरूरी है। केवल कानून के नियम व्यक्ति के लिए त्राण नहीं बनेंगे। हो सकता है—कानून के नियम 20-30 वर्ष तक व्यक्ति के आड़े आ जाएं किन्तु व्यक्ति को यहां से जहां जाना है, वहां कौन आड़े आएगा? न कोई वकील साथ में चलेगा और न कोई डॉक्टर साथ में चलेगा। वहां साथ चलेगा अपना नियम और प्रकृति का नियम। इसलिए प्रकृति के नियम को समझना आवश्यक है, गति के नानात्व और उसके हेतु को जानना अपेक्षित है। सब जीव समान नहीं हैं, सब मनुष्य भी समान नहीं हैं। यह गति का जो भेद है, वह व्यक्ति का अपना किया हुआ भेद है। यह बात जितनी गहराई से हृदय में उतरेगी, व्यक्ति अपनी चेतना को उतना ही अधिक पवित्र बना सकेगा, अपने आचरण को विशुद्ध बना सकेगा। आचरण शुद्धि, नैतिकता और सच्चरित्र का बहुत बड़ा हेतु बनता है नानात्व का बोध। इस तथ्य को समझने वाला, हृदयंगम करने वाला धर्म की ओर प्रस्थित हो जाता है, उसका जीवन सदाचार से भावित और प्रभावित हो जाता है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

चरित्र-परिवर्तन के सूत्र

ललित-कला, ललित-साहित्य—ये जीवन की दिशा के घटक हैं। आदमी इनसे प्रेम करता है। रागात्मकता को जीवन विकास की दिशा में अनिवार्य माना जाता है। जहां रागात्मकता नहीं होती वहां किसी भी कला का विकास नहीं होता और कलाशून्य जीवन पशुतुल्य माना जाता है। इस स्थिति में राग से विराग की ओर जाने की बात क्यों?

प्रशस्त राग : अप्रशस्त राग

भारत के प्रसिद्ध कवि रामधारीसिंह दिनकर ने कहा था—‘कोई भी जैन मुनि अच्छा कवि नहीं हो सकता क्योंकि वह विराग की साधना करता है, विरागी है। कवि रागी होना चाहिए।’ मैंने सोचा—कवि होना कठिन नहीं है, किन्तु राग और विराग की सीमा को समझना कठिन है। राग प्रशस्त और अप्रशस्त—दोनों प्रकार का होता है। महावीर के प्रति गौतम का बहुत राग था, अनुराग था। उसे प्रशस्त राग कहा गया है। यह रागात्मकता दोष नहीं है। जो आसक्ति है, मूर्च्छा है, प्रमाद है, वह अप्रशस्त राग है, जो अपने भीतर द्वेष के कीटाणुओं को पालता चलता है।

लौकिक दृष्टि से कला, साहित्य, स्थापत्य आदि में होने वाला राग बुरा नहीं माना जाता। हम अभी अध्यात्म के संदर्भ में विचार कर रहे हैं। वहां राग को अप्रशस्त भी माना गया है। हमें इस पर नियंत्रण करना है। इसका उपाय है प्रशस्त राग का विकास। प्रशस्त राग का विकास अप्रशस्त राग पर विजय पाने में सहायक बनता है।

आदमी में शरीर, आहार और धन के प्रति आसक्ति होती है। शरीर की आसक्ति, आहार की आसक्ति और धन की आसक्ति—ये तीन मुख्य आसक्तियां हैं, जो अन्यान्य आसक्तियों को जन्म देती हैं। सामाजिक प्राणी न शरीर को छोड़ सकता है, न आहार और धन को छोड़ सकता है। फिर प्रश्न होता है कि

ऐसी स्थिति में राग को छोड़ने और विराग को लाने की बात कैसे सोची जा सकती है? विराग अच्छा है, संतोष अच्छा है। पर उसके प्रतिष्ठापन का प्रयत्न जटिल है।

अंतर आवश्यकता और आसक्ति में

अध्यात्म के आचार्यों ने कहा—सबसे पहले आवश्यकता और आसक्ति का भेद समझ लेना चाहिए। दोनों दो बातें हैं। शरीर एक आवश्यकता है, उसे छोड़ा नहीं जा सकता। आहार जीवन की अनिवार्यता है, परम आवश्यकता है, उसे छोड़ा नहीं जा सकता। धन जीवन-निर्वाह का एक साधन है, आवश्यकता है, उसे छोड़ा नहीं जा सकता।

एक शिष्य ने गुरु से पूछा—आवश्यकता और आसक्ति में अन्तर क्या है? गुरु ने एक पिंजरा और एक फल मंगवाया। पिंजरा खाली था, खुला था। एक पक्षी आया। फल खाकर पिंजरे को देखकर चला गया। दूसरे दिन एक फल बाहर रखा और दूसरा फल भीतर। पिंजरा बंद था। ठीक समय पर पक्षी आया। बाहर पड़ा फल खाया। उसकी दृष्टि पिंजरे में पड़े बड़े फल की ओर गई। वह पिंजरे के चक्कर लगाने लगा। बहुत समय तक चक्कर लगाता रहा। थक गया। फल मिला नहीं। उड़ गया।

गुरु ने कहा—पक्षी के कल थी आवश्यकता और आज है आसक्ति। आवश्यकता पूरी हुई। पक्षी उड़कर चला गया। आज आसक्ति है। फल पिंजरे में बंद है। छटपटा रहा है उसे पाने के लिए।

बंदरों को पकड़ने वाले एक संकरे मुंह वाले बर्तन में चने डालकर रख देते हैं। बंदर चनों का लालची होता है। वह उस संकरे बर्तन में हाथ डालता है, चनों से मुट्ठी भर कर हाथ बाहर निकालने का प्रयत्न करता है, पर बाहर निकाल नहीं पाता। क्योंकि मुट्ठी में चने हैं, वह बंद है। यह बंदर की आसक्ति है।

अध्यात्म के चिंतकों ने अव्यावहारिक बात नहीं कही। उन्होंने व्यवहार का लोप नहीं किया। उन्होंने पहले ही चरण में यह नहीं कहा कि वीतराग बन जाओ। ऐसा होना असंभव है। साधना का भी क्रम होता है। पहले चरण में उन्होंने कहा—आवश्यकता और आसक्ति का भेद समझो कि यह मेरे जीवन की आवश्यकता है और वह मेरे जीवन की आसक्ति है। यह बोध स्पष्ट होने पर आगे की बात सुगम हो जाती है।

जीवन में यदि कोरी आसक्ति रहती है तो वह बोझिल बन जाता है। फिर आवश्यकता का भी नामशेष हो जाता है। उसका पता ही नहीं चलता। केवल आसक्ति चलती रहती है। बहुत सारे लोग आसक्ति का जीवन जीते हैं और भार ढोते रहते हैं। मानसिक तनाव, उच्च रक्तचाप, मानसिक अवसाद और पागलपन—ये सब आसक्ति की चिनगारियां हैं जो अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती हैं।

रागात्मक चरित्र को मिटाने का पहला उपाय है—आसक्ति और आवश्यकता का भेद-ज्ञान करना।

अशौच भावना

दूसरा उपाय है अशौच भावना। यह अपने शरीर के प्रति या दूसरे के शरीर के प्रति होने वाली आसक्ति या रागभाव को मिटाने का उपाय है।

शरीर बाहर से सुन्दर है। चमड़ी गोरी है। रंग अच्छा है। पर भीतर रक्त है, मांस है, चर्बी है, मज्जा है, हड्डियां हैं और नानाविध मल हैं। दुर्गन्ध है, सड़ान ही सड़ान है। ऊपर चमड़ी न हो तो भीतर का रूप बीभत्स



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

है, डरावना है, अशुचिमय है। इससे जो निकलता है वह सारा अशुचिमय है। शरीर के संपर्क से अच्छी से अच्छी वस्तु खराब हो जाती है। ऐसा सोचना अशौच भावना है। इस चिन्तन से शरीर की आसक्ति मिटती है। रागात्मक चरित्र को बदलने का यह उपाय है। अशौच भावना शरीर को भीतर से देखने की प्रेरणा है। इस भावना का दृढ़ अभ्यास हो जाने पर शरीर की आसक्ति नहीं टिकती।

श्मशान प्रतिमा

रागात्मक चरित्र को बदलने का तीसरा उपाय है—श्मशान प्रतिमा। साधक श्मशान में जाता है और जलते हुए मुर्दों को देखता है और देखता है कि चिता ठंडी हुई, हवा आई, राख उड़ गई। इतस्ततः उसी व्यक्ति की हड्डियां बिखरी पड़ी हैं। खोपड़ी भूमि पर असहाय पड़ी है। साधक जा रहा था। ठोकर लगी। नीचे देखा। ठोकर खोपड़ी से लगी थी। उसने खोपड़ी अपने हाथ में ली। चारों ओर से उसे देखा। अपनी झोली में डाल उसे झोंपड़ी में ले गया। अब प्रतिदिन प्रातःकाल उसे देखता है और शरीर की नश्वरता के विचार से ओतप्रोत हो जाता है। भक्तों ने पूछा—‘महाराज! यह क्या है? इसे लिए क्यों घूमते हैं?’

संन्यासी ने कहा—‘यह खोपड़ी संजीवनी है। इसने मुझे जिला दिया। इसने मेरी सुषुप्ति मिटा दी, मुझे जगा दिया।’

श्मशान-दर्शन रागात्मक प्रवृत्ति को रूपान्तरित कर विराग की भूमि प्रस्तुत करता है।

भय

चौथा उपाय है—भय। रागात्मक चरित्र वाले व्यक्ति में यदि भय न हो तो वह विकृत आचार वाला बन सकता है। भय उसे पग-पग पर उबारता है।

भय दोनों प्रकार का होता है। आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में भय है परिणाम का बोध कराना, आतंक का बोध कराना। उसे स्पष्ट बताना कि जैसे किंपाक फल का उपभोग मृत्यु में परिणत होता है, वैसे ही इन्द्रिय-विषयों का उपभोग हानिकारक होता है। भोग आपात-भद्र होते हैं, पर उनका परिणाम विरस ही होता है।

धर्मग्रन्थों में स्त्री को राक्षसी आदि कहा गया है। इसका मनोवैज्ञानिक कारण है। स्त्रियों का यह जो रौद्र चित्र है वह सारा रागात्मक चरित्र वाले व्यक्तियों के लिए है। स्त्री सबके लिए राक्षसी नहीं है। वह रागात्मक व्यक्तियों के लिए राक्षसी है। जिस व्यक्ति में देहासक्ति प्रबल होती है, उसके लिए स्त्री राक्षसी है। वह उसके शरीर-सार को चूसकर उसे हड्डियों का ढांचा मात्र बना देती है। ऐसे व्यक्तियों को प्रतिबोध देने के लिए, उनकी आंख खोलने के लिए ये बातें कही गई हैं।

अभय होना बहुत बड़ी साधना है तो भय का होना भी आवश्यक है। समाज भयमुक्त होकर चल नहीं सकता। साधक में यदि भय न हो तो वह भी ठीक चल नहीं सकता। भय दोनों प्रकार का आवश्यक है—बाहर का भय और भीतर का भय। वर्तमान स्थिति का भय और परिणाम का भय। ‘ऐसा काम करोगे तो नाम पर धब्बा लग जाएगा’— यह भय है। शुद्ध अध्यात्म की स्थिति में यह बात कभी मान्य नहीं होती। पर यह भय आदमी को बचाता है। प्रतिष्ठा के कम होने का भय, गुरु के उलाहने का भय, साथी के उपालंभ का भय, परिवार के सम्मान का भय—ये सारे भय रागात्मक चरित्र वाले व्यक्ति को बचाते हैं।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

नियंत्रण

पांचवां उपाय है—नियंत्रण। नियंत्रण के बिना रागात्मक भाव सहसा बदल नहीं पाता। आवास, भोजन, साथी—इन सबका नियंत्रण आवश्यक होता है। रागात्मक चरित्र वाले व्यक्ति का भोजन एक प्रकार का होगा और द्वेषात्मक चरित्र वाले व्यक्ति का भोजन दूसरे प्रकार का होगा। दोनों की भोजन विधाएं भिन्न होंगी। रागभाव वाला व्यक्ति मनोज्ञ भोजन पसन्द करेगा। उससे राग में वृद्धि होगी। द्वेष प्रकृति वाला अमनोज्ञ भोजन करेगा, चिड़चिड़ापन बढ़ता जाएगा। स्निग्धता स्निग्धता को और रूक्षता रूक्षता को बढ़ाती है। रागात्मक चरित्र वाले को कभी-कभी अमनोज्ञ भोजन और द्वेषात्मक चरित्र वाले को कभी-कभी मनोज्ञ भोजन देने से संतुलन बना रहता है। यह नियंत्रण आवश्यक है।

सबके साथ समान व्यवहार नहीं किया जा सकता। विधि-निषेध को जानने वाला संतुलन स्थापित करता है।

वैद्य के पास दो रोगी आए। वैद्य ने एक रोगी को कहा—तुम प्रतिदिन कुछ घी का सेवन करो और दूसरे को कहा—तुम जीवन भर के लिए घी का प्रयोग छोड़ दो। सुनने वाले को यह पक्षपातपूर्ण व्यवहार लग सकता है। पर वैद्य अनुभवी था। जिसके पाचन की मंदता थी उसकी पाचन-अग्नि को उद्दीप्त करने के लिए घी का साधारण प्रयोग उचित था। जिसके चर्बी बहुत बढ़ी हुई थी, उसके लिए घी का सर्वथा वर्जन उचित था। यह पक्षपात नहीं, विवेकपूर्ण व्यवहार है।

दूसरा नियंत्रण है—आवास का। रागात्मक प्रकृति वाले व्यक्ति के लिए नीले रंग का आवास उपयोगी होता है। उसकी प्रकृति का परिवर्तन होने लगता है। नीला रंग उसके रूपान्तरण का सही घटक है। द्वेषात्मक प्रकृति वाले व्यक्ति के लिए हरे रंग वाला आवास करारग होता है। वासना विजय और इन्द्रिय विजय के लिए नीले रंग का ध्यान उपयोगी है। नमस्कार महामंत्र का पांचवां पद है—‘णमो लोए सव्वसाहूणं’। उसका स्थान है—स्वास्थ्य केन्द्र। वहां नीले रंग का ध्यान किया जाता है। ऐसा करने से उत्तेजना शांत होती है, रागात्मक भाव बदलता है।

एक स्कूल के बच्चे बहुत उदंड थे। विचार-विमर्श हुआ। हल नहीं निकला। एक मनोचिकित्सक ने देखा। उसे पता चला कि स्कूल के कमरे लाल रंग से पुते हुए हैं। नीचे लाल रंग की कालीन बिछी हुई है। बच्चों की उदंडता का कारण है यह लाल रंग। उसने व्यवस्थापकों को कहकर लाल रंग के स्थान पर नीला रंग कर दिया। कुछ ही महीनों में बच्चों की उदंडता मिट गई। वे विनम्र हो गए, अनुशासित हो गए।

नियंत्रण का अर्थ बांध देना नहीं है। पागल आदमी को बांधा जा सकता है। आदमी के लिए मनोवैज्ञानिक ढंग से स्थितियां बदल कर नियंत्रण प्रस्तुत करना चाहिए।

तीसरा नियंत्रण है साथी का। अच्छा साथी मिलता है तो व्यक्ति बदल जाता है। यदि बुरे का सहवास होता है तो अधःपतन होता है। शास्त्र कहते हैं—‘निउणं सहायं, गुणाहिअं वा गुणओ समं वा’ साथी निपुण हो, वह स्वयं के गुणों से अधिक गुणी हो या समान गुण वाला हो। वैसा साथी साथ निभा सकता है और उबार सकता है। वह चरित्र को बदल सकता है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

चरित्र को बदलने के लिए चार उपाय प्रस्तुत किए—

1. आसक्ति और आवश्यकता का भेद-बोध
2. अशौच भावना का अभ्यास
3. श्मशान-दर्शन, मृत्यु दर्शन
4. भय की अनिवार्यता।

ये सारे मध्यवर्ती उपाय हैं। अन्तिम सचाई है समता। वह एक साथ नहीं उभरती। इन माध्यमों से हमें वहीं पहुंचना है।

ध्यान के प्रयोग

हमें सबसे पहले अपने चरित्र को समझना होगा कि मेरा चरित्र राग-प्रधान है या द्वेष-प्रधान। दोनों के भिन्न-भिन्न आलंबन होंगे। द्वेषात्मक प्रकृति वाले के लिए ज्योति-केन्द्र की साधना और रागात्मक प्रकृति वाले के लिए आनन्द-केन्द्र की साधना अत्यधिक लाभप्रद होती है। यदि राग की प्रकृति को बदलना है तो आनन्द-केन्द्र पर लम्बे समय तक और यदि द्वेष की प्रकृति को बदलना है तो ज्योति-केन्द्र पर लम्बे समय तक ध्यान अपेक्षित होगा। हमारा यह दृढ़ अभिमत बन जाए कि किसी भी चरित्र को बदला जा सकता है पद्धति के द्वारा। कोरा ज्ञान और कोरा सिद्धान्त रूपान्तरण में उतना सहायक नहीं होता, जितना सहायक प्रयोग होता है। हम सिद्धान्त और प्रयोग—दोनों का संतुलन साधें, चरित्र-परिवर्तन का प्रयत्न सफल बनेगा।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत



अणुव्रत



व्यवस्था बदलें या चेतना ?

दो स्वर हमारे सामने हैं—व्यक्ति बदले और समाज की व्यवस्था बदले। व्यक्ति बदले, इसकी निष्पत्ति हो सकती है—समाज की व्यवस्था बदले और समाज की व्यवस्था बदलती है—उसकी निष्पत्ति व्यक्ति का बदलना भी हो सकती है। दोनों में इतना गहरा संबंध है कि व्यक्ति और समाज दोनों को बांट कर या विभक्त कर देखा नहीं जा सकता। पर बदलने की प्रक्रिया जो है, वह जटिल है।

स्थूल घटना है समाज का निर्माण

समाज का निर्माण एक स्थूल घटना है और प्रत्येक स्थूल घटना के पीछे निर्माण का सूक्ष्म तत्त्व होता है। स्थूल कभी स्थूल का निर्माण नहीं कर सकता। निर्माण सारा सूक्ष्म से आता है। सूक्ष्म है हमारी सामुदायिकता की चेतना या वैयक्तिक चेतना। प्रश्न चेतना पर अटका हुआ है। यदि आज एक मान्यता, एक अवधारणा सबकी बन जाए तो दूसरे दिन परिवर्तन संभव है। किन्तु सामुदायिक चेतना को बदलना बहुत कठिन है। मान्यता सबकी एक होना बहुत जटिल बात है। आज तक दुनिया में ऐसा नहीं हुआ कि सब लोग एक मान्यता को लेकर चलें, एक प्रकार से सोचें और एक प्रकार से काम करें। बड़ा कठिन काम हो रहा है। आरोपण किया गया समाज व्यवस्था का। कई प्रकार की समाज व्यवस्थाएं आईं पर टिक नहीं पाईं। कारण वही है कि जिस व्यवस्था के पीछे एक सामुदायिक चेतना का योग होना चाहिए, वह आधार नहीं मिला। केवल स्थूल में व्यवस्था कर दी गई और कुछ समय के बाद व्यवस्था ध्वस्त हो गई। बहुत जटिल बात है कि कैसे हो? कुछ ऐसी संहिता बने, जिसमें मान्यता और व्यवस्था में अंतर न रहे, दूरी न रहे।

व्यवस्था बारह व्रत की

आज से 2600 वर्ष पहले भगवान् महावीर ने गृहस्थ के लिए व्रतों की एक आचार-संहिता दी, उस आचार-संहिता में 12 व्रत हैं। जैसे अणुव्रत के 11 व्रत वैसे श्रावकों के व्रतों की संहिता में बारह व्रत। उनमें

सातवां व्रत है उपभोग-परिभोग परिमाण-व्रत, उपभोग-परिभोग की सीमा करना। उस समय न तो पर्यावरण की समस्या थी और न भुखमरी की समस्या थी। यानी गरीबी तो थी पर वैसी गरीबी नहीं थी कि किसी को रोटी कपड़ा भी न मिले। उस स्थिति में भी उपभोग-परिभोग के परिमाण की बात कही गई। प्रत्येक व्यक्ति उपभोग-परिभोग वस्तु का संयम करे, नियमन करे—इतने से ज्यादा कपड़ों का प्रयोग नहीं करूंगा। भोजन में इतने से ज्यादा द्रव्य नहीं खाऊंगा। जीवन की चर्या से संबंध रखने वाली जो उपभोग की सामग्री थी, उसके नियमन की दीक्षा दी गई। उस दीक्षा को लाखों व्यक्तियों ने स्वीकार भी किया और बारह-व्रतियों का एक विशाल संघ बन गया। किन्तु सामुदायिक चेतना नहीं जागी।

चेतना को जगाएं

मैं मानता हूँ कि उपभोग की सीमा करना है तो वैयक्तिक चेतना को जगाना होगा। वैयक्तिक चेतना समाज को प्रभावित करती है, समाज उससे प्रभावित होता है। कुछ वैयक्तिक चेतना से होने वाले ऐसे कार्य हैं जो समाज को प्रभावित करते हैं और समाज की व्यवस्था को बदलने में योग देते हैं और कुछ सामुदायिक चेतना के भी ऐसे प्रयोग होते हैं, जो व्यक्ति की चेतना को बदलने में सहयोग देते हैं। सामुदायिक चेतना और वैयक्तिक चेतना को हम कभी अलग नहीं मानते। उपभोग को भी एक सामाजिक मान्यता मिल जाए कि कोई भी व्यक्ति आवश्यकता के अतिरिक्त उपभोग नहीं करेगा। ऐसी मान्यता अगर आरूढ़ हो जाए, उसका आरोपण हो जाए चेतना की अवधारणा में तो वह एक नई सामाजिक व्यवस्था का आधार बनता है।

आज समाज व्यवस्था को बदलने का प्रयत्न स्थूल स्तर पर हो रहा है। हमें और गहराई से चिंतन करना चाहिए। केवल स्थूल को बदलने का ही प्रयत्न होगा तो नई व्यवस्था बन सके, संभव नहीं लगता। उसमें कठिनाई है। कोई भी व्यवस्था करनी है तो पहले सामुदायिक चेतना बदले और फिर सामुदायिक व्यवस्था हो।

तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य जयाचार्य व्यवस्था में बहुत कुशल थे। उनके सामने प्रसंग आया कि साधु-साध्वियों में आहार के संविभाग की व्यवस्था करनी है। कैसे करें? सब साधुओं की धारणा थी—जो भी भिक्षा में आए, पहले साधु खा लें और जो बचे, वह साध्वियों के पास चला जाए। यही क्रम चलता था। जब इस व्यवस्था को बदलना था, संविभागी व्यवस्था करनी थी तब उन्होंने कहा कि अब पांती की व्यवस्था हो जाए। बराबर पांती होगी साधुओं की और साध्वियों की। यह व्यवस्था साधुओं को कैसे मान्य होती? आज तक जो करते आए हैं, एकदम उसको बदलना कठिन है। उन्होंने एक काम किया, एक टहुका बनाया। जैसे कोयल कूकती है—कोयल का टहुका वैसे एक टहुका बनाया, एक ग्रंथ लिखा—कुछ गद्य और कुछ पद्य। जब साधु भोजन करने बैठते तब वह टहुका सबको सुनाया जाता। उसमें संविभाग का महत्त्व बतलाया जाता।

निज पांती में जे रंजे तिण मुनि ने कहो कुण गंजे।

भोजन के समय इस गीत के पदों को रोज सुनाते। इस उपक्रम से मान्यताएं बदल गई, चेतना की अवधारणा बदल गई। जैसे जैसे मान्यता बदली, व्यवस्था कर दी कि आज से संविभाग होगा, ऐच्छिक आहार नहीं होगा, सबको पांती से मिलेगा।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

मैं मानता हूँ कि समाज व्यवस्था को बदलने से पहले चेतना को बदलने का प्रयत्न होना चाहिए, इसे मस्तिष्कीय परिवर्तन कहें या हृदय-परिवर्तन कहें। हम यदि यह कर सकें तो समाज व्यवस्था को बदला जा सकता है, परिवर्तन किया जा सकता है। समस्या यह है—व्यवस्था आती है राज्य के स्तर पर और चेतना काम करती है इन्द्रिय के स्तर पर। व्यक्ति इन्द्रिय चेतना के स्तर पर बटोरना चाहेगा, संग्रह करना चाहेगा, इन्द्रियों को अधिक तृप्ति देना चाहेगा, अधिक सुविधा चाहेगा। अपना बड़प्पन, मान, पूजा और प्रतिष्ठा चाहेगा। चेतना तो वह काम कर रही है और व्यवस्था आए समाज को बदलने की—दोनों में टकराहट होती है। इसलिए इस पर कुछ गहन चिन्तन आवश्यक है कि बदलने की हमारी प्रक्रिया क्या हो? समाज की व्यवस्था कैसे बदले?

मूल बात को पकड़ें

मनुष्य की दृष्टि कमजोर थी। पैर में कांटा चुभ गया, कराहने लग गया। बड़ी पीड़ा हो गई, कई लोग इकट्ठे हो गए। किसी ने कहा—कांटा निकालो। किसी ने कहा—मरहम लगाओ। किसी ने कहा—यह करो, वह करो। एक डॉक्टर आया, उसने कांटे की तरफ ध्यान ही नहीं दिया, आंख में सीधी दवाई डाली। लोगों ने कहा—‘यह क्या कर रहे हो? कांटा तो चुभा है पैर में और दवा डाल रहे हो आंख में।’

डाक्टर ने कहा—‘मूल समस्या का समाधान कर रहा हूँ। आंख कमजोर है इसलिए कांटा चुभ गया। मैं ऐसा कर रहा हूँ कि आंख ठीक हो जाए, जिससे भविष्य में कभी कांटा न चुभे।’

हमें इस बात को पकड़ना है कि मूल समस्या कहां है? समस्या तो है—चेतना के जगत् में और परिवर्तन लाना चाहते हैं स्थूल जगत् में। जब तक दोनों में हम सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाएंगे, मान्यता और अवधारणा को बदलना हमारे लिए संभव नहीं होगा तब तक यह कठिनाई मिटेगी नहीं। हम इतिहास का अध्ययन करें। अनेक सामाजिक परिवर्तन हुए हैं, पर स्थायित्व नहीं आ पा रहा है। इसका कारण यही स्थूल का परिवर्तन है। हम स्थूल और सूक्ष्म, बाहरी और भीतरी दोनों में कोई सामंजस्य बिठाकर व्यवस्था परिवर्तन की बात सोचें और फिर समाज को बदलने की बात सोचें। इस भूमिका पर अणुव्रत का भी दायित्व है। यदि उस आधार पर कार्य चलेगा तो कम से कम सही रास्ते पर हमारा कदम आगे बढ़ेगा। यह तो भविष्य पर निर्भर है कि गति कितनी होगी। पर एक प्रस्थान हो जाए, एक कदम भी सही दिशा में बढ़ जाए तो मैं मानता हूँ कि सफलता के लिए एक श्रीगणेश या जय जिनेन्द्र कुछ भी कहा जा सकता है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

विशेषणहीन धर्म

आज का विद्यार्थी धर्म से बहुत कम परिचित है। साम्प्रदायिकता के कारण वह धर्म के नाम से सहमता है। यह माना जाने लगा कि धर्म की बात सोलहवीं शताब्दी की है किन्तु ऐसा मानना भूल है। साम्प्रदायिकता ने मनुष्य का अनिष्ट जरूर किया है किन्तु मौलिक धर्म जीवन की पवित्रता है। बौद्धिकता के उपरान्त भी स्वतंत्र चेतना का जागरण धर्म ही करता है। पानी में गंध आ सकती है किन्तु केवल इसीलिए पानी पीना नहीं छोड़ा जा सकता। उसे साफ और शुद्ध करके पीया जाता है। इसी प्रकार धर्म के नाम पर या धर्म के साथ गंदगी अथवा साम्प्रदायिकता आई है तो उसे मिटाकर शुद्ध कर सकते हैं लेकिन धर्म के नाम से भागने, सहमने और घबराने की आवश्यकता नहीं।

आचार्य तुलसी धर्म की बात तो करते हैं परन्तु वह धर्म विशेषणहीन है। वह है अणुव्रत। धर्म के पीछे जो परम्पराएं, उपासनाएं और क्रियाकांड हैं, उन सबको अणुव्रत के साथ नहीं जोड़ा गया, क्योंकि ये झगड़ों के निमित्त बन जाते हैं।

आस्था का प्रश्न

एक सेठ के यहां रसोइया था। उसका तिलक सेठजी ही तरह नहीं होता था। सेठजी सीधा तिलक निकालते थे और वह तिरछा तिलक करता था। सेठ ने उसे समझाया कि तिलक सीधा निकाला करो लेकिन रसोइया अपने विश्वास और सिद्धान्त पर अटल था। एक दिन सेठ ने धमकी देते हुए कहा—‘कल यदि सीधा तिलक नहीं किया तो नौकरी से निकाल दूंगा।’

दूसरे दिन रसोइया आया तो ललाट पर फिर तिरछा ही तिलक लगा था। सेठ ने डांटते हुए कहा—‘मेरी आज्ञा नहीं मानकर फिर वही तिरछा तिलक किया है इसलिए अपना हिसाब कर लो।’ रसोइए ने कहा—‘मैंने तिलक सीधा किया है।’

सेट ने पूछा—‘कहां है वह सीधा तिलक?’

रसोइए ने कमीज हटाकर पेट पर बने सीधे तिलक को दिखाते हुए कहा—‘ललाट का तिलक मेरा विश्वास है और पेट के लिए नौकरी करता हूं इसलिए आपका तिलक पेट पर है।’

आज धर्म का प्रश्न तिलक, चोटी, नमाज और उपासना में ही उलझ गया है। जहां हमारे जीवन की पवित्रता का प्रश्न है, जीवन-संघर्ष में जूझने का सवाल है वहां हमने मूल लक्ष्य को भुला दिया। शिक्षा के साथ जीविका का प्रश्न जुड़ा हुआ है किन्तु जीवन-संग्राम में जूझने की शक्ति धर्म ही देता है। अपने परिवार और कुटुम्ब के साथ सामंजस्य स्थापित करना धर्म के द्वारा ही सीखा जा सकता है। सामंजस्य-स्थापना की मनोवृत्ति धर्म के द्वारा विकसित होती है।

आवश्यक है संयम

स्कूल कॉलेजों में शारीरिक एवं बौद्धिक विकास होता है किन्तु बौद्धिक विकास के बाद भी कुछ विकास करना है, वह है चेतना का विकास। चेतना के विकास की कल्पना एक बौद्धिक व्यक्ति नहीं कर सकता। चेतना के विकास के संदर्भ में ही अणुव्रत की बात कही गई। व्रत आच्छादन है, सुरक्षा है। मकान की छत धूप, वर्षा, सर्दी आदि से सुरक्षा करती है, वैसे ही जीवन एवं मानसिक संघर्ष के समय व्रत ही उसे बचा सकता है। धर्म का मतलब ही है व्रत। यह हमारे जीवन की वह छत है जो हमें अनेक समस्याओं से बचा सकती है। व्रत का मूल है संयम। दिल्ली विश्वविद्यालय के उपकुलपति डॉ. गांगुली ने कहा कि हमने छात्र-जीवन में संयम सीखा, किन्तु आज छात्रों में संयम की बात करें तो उपहास होता है लेकिन संयम आवश्यक है। अणुव्रत का घोष है—संयम ही जीवन है। हमारा जीवन संयमित होना चाहिए। खाने, पीने, बोलने, चलने—सबमें संयम अपेक्षित है। गीता, आगम, त्रिपिटक सबमें संयम की बात कही है। धार्मिक वही है, जो संयमी है। आज संयम की बातें कम सुनाई जाती हैं। राजनीतिक दलों के नेता भी असंयम का ही पाठ पढ़ाते हैं।

अणुव्रत का दीप

छात्रों को धर्म-निरपेक्षता की बात कहकर संयम-साधना की शिक्षा से वंचित रखा जा रहा है। शिक्षा की अनेक शाखाएं हैं किन्तु संयम की शाखा नहीं है। यदि यही स्थिति रही और शिक्षालयों में संयम की शिक्षा नहीं दी गई तो उच्छृंखलता और भी बढ़ेगी। यदि यही स्थिति रही तो भारत का रहा-सहा गौरव भी मिटता जाएगा। आज अमेरिका, जर्मनी, ब्रिटेन, जापान आदि देशों में योगविद्या का अनुसंधान हो रहा है क्योंकि वे भौतिकता के परिणामों से संत्रस्त हो चुके हैं। अच्छा होगा यदि पहले ही हम संयम मार्ग को अपनाकर आने वाले नये भौतिक परिणामों से बच सकें। शिक्षा देने वालों का कर्तव्य है कि वे अपने छात्र-छात्राओं को शिक्षा की अन्य बातों के साथ-साथ धर्म और संयम की बात भी बताएं।

सारी संस्कृति अंधकार की अमा के बीच से गुजर रही है। इसमें अणुव्रत ही आलोक देगा और मानसिक शांति भी। घोर अमावास्या की रात्रि में आज अणुव्रत दीप की आवश्यकता है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अणुव्रत की अनिवार्यता को नकारा नहीं जा सकता

दो ध्रुव हैं। उत्तरी ध्रुव है संयम और दक्षिणी ध्रुव है आकांक्षा। आकांक्षा सकारात्मक है। जहां आकांक्षा, वहां जीवन। जहां आकांक्षा वहां विकास। जहां आकांक्षा वहां आसक्ति। आकांक्षा की धुरी पर समूची प्रवृत्तियां गतिशील हो रही हैं। संयम नकारात्मक है। जहां संयम, वहां चैतन्य। जहां संयम, वहां सत्य की अनुभूति। जहां संयम, वहां अनासक्ति।

जीवन जीने के लिए आवश्यक है प्रवृत्ति, विकास और आसक्ति। जीवन को पवित्र बनाने के लिए आवश्यक है—निवृत्ति, चैतन्य की अनुभूति, सत्यनिष्ठा और अनासक्ति।

आकांक्षा : खतरे के बिंदु पर

एक सामाजिक व्यक्ति में आकांक्षा और आसक्ति न हो, यह संभव नहीं। उसमें केवल आकांक्षा और आसक्ति हो, उस पर नियंत्रण करने की क्षमता न हो तो वह अपने लिए और दूसरों के लिए खतरनाक बन जाता है। इस खतरे से सावधान होने का नाम है अणुव्रत। नदी का जलस्तर खतरे के बिंदु तक पहुंच जाता है तब सब सावधान हो जाते हैं। आकांक्षा एक महानदी है। उसका जलस्तर खतरे के बिंदु तक पहुंच जाता है फिर भी मनुष्य सावधान नहीं होता। उस स्थिति में जन्म लेते हैं अपराध, आतंक, हत्या और अनैतिकता। जो खतरे से सावधान नहीं होते, उन्हें खतरे से सावधान करने का नाम है अणुव्रत आंदोलन।

एक मनुष्य सुख चाहता है, सुविधा चाहता है, भोग चाहता है, दूसरा भी चाहता है और तीसरा भी चाहता है। हर आदमी चाहता है। सुख चाहने का अर्थ है सुख के साधन को चाहना। सुख के साधन को चाहना है, इसका अर्थ है, वह उनको पाना चाहता है। सबके सब लोग सुख के साधनों को पाना चाहते हैं।

इस अवस्था में टकराव या संघर्ष होना अनिवार्य है। इसी अवस्था में स्पर्धा, होड़ अथवा दौड़ बढ़ती है। इसी बिन्दु पर अनैतिकता का जन्म होता है।

मूल को पकड़ें

अणुव्रत का दर्शन है—सुख की चाह को सीमित करना, सुविधावादी दृष्टिकोण को बदलना, सुख और सुविधा के साधनों पर अनधिकार अधिकार न करना। क्या यह सब आज के मनुष्य को मान्य है? यदि आज का आदमी समाज में भ्रष्टाचार नहीं चाहता, अनैतिकतापूर्ण व्यवहार नहीं चाहता तो उसकी मान्यता का कोई विकल्प नहीं है, वह अनिवार्य है। अनैतिकता का मूल स्रोत प्रवाहित रहे और उसकी एक धार को हम सुखाना चाहें तो उसकी सार्थकता कितनी हो सकती है? हम पत्तों और फूलों के सिंचन पर ज्यादा विश्वास करते हैं, जड़ के अभिसिंचन की ओर कम ध्यान देते हैं इसीलिए पत्र और पुष्प भी मुरझा जाते हैं।

आधुनिक चीन के निर्माता माओ ने अपनी मां से एक बोधपाठ पढ़ा था। मां की रुग्णावस्था में फूलों के बगीचे की सार-संभाल का दायित्व माओ ने लिया। फूलों पर पानी सींचा। पौधे कुम्हला गए। मां स्वस्थ होकर वहां आई। कुम्हलाए हुए पौधों को देखकर कहा—‘तुमने इन पौधों को सींचा नहीं, ऐसा लगता है।’

माओ का उत्तर था—‘मैंने बहुत बुद्धिमानी से इसे सींचा है। मैंने प्रत्येक फूल को सींचा है।’

मां ने कहा—‘बेटा! तुम समझते नहीं हो। मूल को सींचा जाता है तो फूल खिल उठते हैं और फूलों को सींचा जाता है तो सब मुरझा जाते हैं।’

माओ ने लिखा—‘इससे मैंने एक पाठ पढ़ा कि समस्या के मूल को पकड़े बिना उसे सुलझाया नहीं जा सकता।’

भ्रष्टाचार की समस्या का जो मूल है, उसे पकड़े बिना हम उसे सुलझाना चाहते हैं। यह हमारा प्रयत्न कभी सार्थक नहीं होगा।

अणुव्रत का घोष

संयम ही जीवन है, यह अणुव्रत का घोष है। मनुष्य को पसन्द है असंयम, खुला रहना। अपनी कामना पर, इन्द्रियों पर कौन चाहता है नियंत्रण? पुलिस का या दण्ड-शक्ति का नियंत्रण भले हो जाए, अपने आप अपने पर नियंत्रण करना आदमी नहीं चाहता। अपराध, हिंसा—ये सब असंयम के परिणाम हैं इसलिए असंयम को मृत्यु कहा जाता है। कोई आदमी भूख से मरता है तो विपक्ष सरकार की नींद को हराम कर देता है। असंयम से अथवा अधिक खा-खाकर हजारों लोग अकाल मृत्यु से मरते हैं। उस ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता। मादक वस्तु का सेवन कितने लोगों को बेमौत मार रहा है! फिर असंयम मृत्यु है, यह समझने में कठिनाई नहीं होती। यदि संयम का मूल्यांकन हुआ होता तो राज्यतंत्र और शासक वर्ग पर भ्रष्टाचार का आरोप कभी नहीं होता। असंयम है और वह व्यापक है तभी इन सब घटनाओं की पुनरावृत्तियां होती रहती हैं।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

सीमाकरण की स्थिति बने

अपने से अपना अनुशासन, अणुव्रत की परिभाषा—इस परिभाषा का तात्पर्य हृदयंगम किया होता तो समाज आज की कालरात्रि को नहीं भोगता। अणुव्रत दर्शन का महत्वपूर्ण सूत्र है—इन्द्रिय और मन के स्वामी बनो, दास मत बनो। इसकी क्रियान्विति के लिए सीमाकरण की स्थिति बनती है।

हिंसा और परिग्रह से सर्वथा मुक्त समाज की कल्पना करना संभव नहीं है। हिंसा और परिग्रह की सीमा से मुक्त रहना समाज के हित में नहीं है।

आज निरपराध मनुष्य और प्राणी मारे जा रहे हैं, यदि हिंसा की सीमा होती तो ऐसा नहीं होता।

मनुष्य मनुष्य को अछूत मान रहा है, यदि हिंसा की सीमा होती तो ऐसा नहीं होता।

तेईस करोड़ आदमी गरीबी की रेखा के नीचे का जीवन जी रहे हैं। यदि व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा होती तो ऐसा नहीं होता। अट्टालिकाओं और झोंपड़ियों का संगम नहीं होता, यदि संग्रह की सीमा होती।

असीम केवल आकाश हो सकता है। असंयम असीम हो, यह अवांछनीय है व्यक्ति के लिए भी और समाज के लिए भी। समाज का अर्थ है सीमा की स्वीकृति। वह हार्दिक नहीं होती, राज्यशासन-कृत होती है। अणुव्रत का अर्थ है—सीमा की स्वीकृति। वह हार्दिक होती है, व्यवस्थाकृत नहीं होती।

अणुव्रत एक अनिवार्यता है। नैतिकताविहीन समाज कभी स्वस्थ समाज नहीं हो सकता। आप चाहें या न चाहें, यदि स्वस्थ समाज का निर्माण करना है तो अनिवार्य है 'संयम ही जीवन है' का घोष और अनिवार्य है अणुव्रत की स्वीकृति।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

शक्ति-संवर्धन का माध्यम : अणुव्रत

आदमी परिवर्तन की बात दीर्घकाल से सोचता आ रहा है। वह अपने स्वभाव को बदलने के लिए लंबे समय से तत्पर है, सक्रिय है और उस दिशा में प्रयत्न भी कर रहा है। स्वभाव को बदलने के लिए अनेक तथ्य खोजे गए। उनमें एक तथ्य है भावना का प्रयोग, संकल्प-व्रत का प्रयोग।

जरूरी है इन्द्रिय संयम

व्रत अध्यात्म जगत् की एक महत्त्वपूर्ण शक्ति है। आदमी में संकल्प की शिथिलता दो कारणों से हुई है। एक कारण है चित्त की चंचलता और दूसरा कारण है इंद्रियों का असंयम। मैं मानता हूँ कि सभी व्यक्ति एकाग्र नहीं बन सकते और सबका चित्त समाहित नहीं हो सकता। चित्त की चंचलता रहती है, इंद्रियों का असंयम भी पूरा नष्ट नहीं होता, रहता है। किंतु इंद्रियों पर संयम पाना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है और उस व्यक्ति के लिए तो नितान्त आवश्यक है जो अपना जीवन शांति और सुख से जीना चाहे। चाणक्य ने राजनीतिशास्त्र में बताया—राजा के लिए यह अत्यन्त जरूरी है कि वह इंद्रियों का संयम करे। यदि राजा इंद्रिय-संयम को नहीं साधता है तो प्रजा उससे विपरीत हो जाती है और राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। राजा साधु या संन्यासी नहीं है। वह विलासी है, भोगी है, फिर भी उसके लिए इंद्रियों का संयम नितान्त आवश्यक है। जिन-जिन राजाओं ने इंद्रिय-संयम को नकारा, उनका राज्य नष्ट हुआ और वे स्वयं नष्ट हो गए। जिन राजाओं ने संयम के साथ जीवन जीया, वे सुखी रहे, उनकी प्रजा सुखी रही, राज्य में संपन्नता बढ़ी और चारों ओर खुशहाली रही।

भावना या संकल्प-शक्ति के हास का मूल कारण है इंद्रियों का असंयम। जब इंद्रियां उच्छृंखल होती हैं तब संकल्प का बल क्षीण हो जाता है। वह ऐसा प्रपात बनता है कि पानी नीचे की ओर ही बहता जाता है।

चित्त की चंचलता

संकल्प-शक्ति के हास का दूसरा कारण है—चित्त की चंचलता। जब चित्त स्थिर नहीं रहता, तब संकल्प का बल बनता ही नहीं। संकल्प शक्तिशाली तब बनता है जब चित्त कहीं एकाग्र हो। सुबह संकल्प किया, मध्याह्न में टूट गया। विचार बदल गया। चित्त में इतने विकल्प आ गए कि संकल्प की बात बह गई। आदमी इस स्थिति में दिन में पचास बार संकल्प करता है और पचास बार तोड़ता है।

व्रत का अर्थ

चित्त की चंचलता और इंद्रियों के असंयम से निपटने के लिए व्रत बहुत महत्वपूर्ण है। व्रत की साधना एक खुले दरवाजे को बंद करने की साधना है। जब दरवाजा खुला होता है तब आंधी भी आ सकती है, रेत और कूड़ा-करकट भी आ सकता है। खुला दरवाजा अव्रत है, बंद दरवाजा व्रत है। ऊपर छत नहीं है तो वर्षा भी आएगी, आंधी भी आएगी, आदमी पानी से भीगेगा, धूल से मटमैला होगा। उसने कमरा बनाया, छत बनाई, दीवारें और दरवाजे बनाए। अब वह न पानी से भीगेगा है और न धूल से मलिन होता है। खुला आकाश अव्रत है और बंद आकाश व्रत।

व्रत का अर्थ है—आच्छादन करना। आदमी की आकांक्षाएं और लालसाएं जो खुली पड़ी हैं, उन्मुक्त हैं, उनको ढक दिया, उन पर आवरण डाल दिया, यह व्रत है।

व्रत की परंपरा भारतीय जीवन में बहुत महत्वपूर्ण रही है। व्रतों के कारण आदमी अनेक बुराइयों से बचता रहा है। व्रत के विकास से संकल्प-शक्ति का विकास होता है, यह स्पष्ट है।

जीवन में परिवर्तन घटित करने के लिए संकल्प-शक्ति का महत्वपूर्ण योग रहता है। जैसे ध्यान का प्रयोग परिवर्तन का हेतु बनता है, वैसे ही भावना और संकल्प का प्रयोग भी परिवर्तन का हेतु बनता है।

भावना का प्रयोग

आदमी बदलता है। बदलने के लिए दो स्थितियां अपेक्षित होती हैं। एक है सम्मोहन और दूसरी है बल-संवर्धन। भावना का प्रयोग सम्मोहन की प्रक्रिया है। एक सुझाव दिया जाता है और व्यक्ति सम्मोहित हो जाता है। सम्मोहन का प्रयोग स्वयं के द्वारा स्वयं पर भी किया जाता है। यह आत्म-सम्मोहन की प्रक्रिया है। इसे ऑटो-सजेशन कहा जाता है। यह भावना का प्रयोग है। इससे भीतर परिवर्तन घटित होने लगता है। भावना के द्वारा हम जिसका बीज-वपन करते हैं, वह जाने-अनजाने अंकुरित हो जाता है। हमारे चेतन मन में जितनी शक्ति है, उससे हजार गुना शक्ति है अवचेतन मन में। सुप्तावस्था में अर्थात् चेतन मन की निष्क्रिय अवस्था में जो भावना हमारे भीतर प्रवेश करती है, वह हमें सम्मोहित करती है और अवचेतन मन अपने आप सक्रिय हो जाता है और वह क्रिया संपन्न हो जाती है।

रहस्य दीर्घायु का

हम संकल्प का प्रयोग करें। संकल्प को पूरी आस्था और आत्मविश्वास के साथ दोहराएं। हमें अनुभव होगा कि असंभव लगने वाली बात संभव बनती जा रही है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

एक बार भारत के एक राजा ने अपने अधिकारियों को बुलाकर कहा—तुम चीन देश में जाओ और इस रहस्य को ज्ञात करो कि भारत के राजा अल्पायु क्यों होते हैं और चीन के राजा दीर्घायु क्यों होते हैं? उनके आयुष्य में इतना बड़ा अंतर क्यों है? अधिकारी वर्ग यहां से चला, चीन पहुंचा। राजा से मिला, अपने आगमन का प्रयोजन बताते हुए कहा—‘हमारे सम्राट् आपकी दीर्घायु का रहस्य जानना चाहते हैं, आप हमें बताएं।’

चीन के राजा ने कहा—‘बताऊंगा, पर आज नहीं। आप सब मेरे अतिथिगृह में ठहरें।’

अधिकारियों ने दो दिन बाद पूछा—‘हमारे प्रश्न का उत्तर कब मिलेगा?’

राजा ने कहा—उस अतिथिगृह के ठीक सामने एक बरगद का बड़ा वृक्ष है। उस वृक्ष के पत्ते जब सूख जाएंगे, एक भी पत्ता हरा नहीं रहेगा, उस दिन मैं आपको रहस्य बता दूंगा। तब तक आपको प्रतीक्षा करनी होगी। उस समय से पूर्व आप अपने देश भी नहीं जा सकेंगे।’

अधिकारी अवाक् रह गए। उन्होंने मन-ही-मन सोचा—कहां फंस गए। बरगद का हरा-भरा वृक्ष! इतने पत्ते! वे कब सूखेंगे और कब हम अपने देश जाएंगे! कब हम अपने पारिवारिकजनों से मिल पाएंगे! काल की सीमा नहीं। असीम काल! कैसा झंझट और बंधन!

सभी अधिकारी अतिथिगृह में चले गए। उन्होंने देखा, बरगद का बहुत विशाल वृक्ष हरे-भरे पत्तों से लहलहा रहा है। वे रोज बरामदे में बैठ जाते। सबकी दृष्टि बरगद पर टिक जाती। वे सोचते, इस बरगद के पत्ते कब सूखेंगे और कब हमें यहां से मुक्ति मिलेगी। यह बरगद का वृक्ष हमारे लिए शत्रु का काम कर रहा है। जल्दी क्यों नहीं सूख जाता? वे अधिकारी प्रतिदिन यह भावना करते और सोचते—सत्यानाश हो इस वृक्ष का। जल्दी सूखकर टूट बन जाए तो अच्छा है। क्यों नहीं इसमें आग लग जाती! सब पत्ते झड़ क्यों नहीं जाते? उनके मन में रात-दिन एक ही भावना, एक ही संकल्प।

कुछ दिन बीते। देखते-देखते वह हरा-भरा विशाल बरगद का पेड़ सूख गया। पत्ते सूखकर झड़ गए। टहनियां टूट-टूटकर नीचे गिर पड़ीं। स्कंध-मात्र रहा। वह श्रीहीन हो गया।

अधिकारी लोग प्रसन्न हुए। वे चीन के सम्राट् के पास जाकर बोले—‘सम्राट्! अब हम भारत लौटना चाहते हैं। आपकी शर्त पूरी हो गई। अब आप हमें रहस्य बताएं और हमारी यात्रा का इंतजाम करें।’

सम्राट् बोला—‘अभी तक रहस्य समझ में नहीं आया? गहराई से सोचा नहीं आपने। आपने देखा कि एक महीने पहले बरगद का जो पेड़ हरा-भरा था, हरे पत्तों से लहलहा रहा था, आज वह सूखकर टूट बन गया है। इसका कारण आप लोगों ने नहीं पकड़ा। आप सब प्रतिदिन इसके विनाश की भावना करते थे, संकल्प करते थे। उस भावना के परमाणुओं ने इस पर असर किया और यह आज टूट बन गया। इसी प्रकार भारत के राजा ऐसे काम करते हैं कि प्रजा की बद्दुआएं उन्हें मिलती हैं और हम यहां ऐसे काम करते हैं कि हमारी प्रजा हमें सदा अच्छी दुआएं देती हैं। हम निरंतर प्रजा का हित साधने की बात सोचते हैं इसीलिए जनता की हमारे प्रति शुभ-भावना रहती है। इसी शुभ-भावना और अच्छी दुआ के कारण हमारे देश के राजा दीर्घायु होते हैं, बद्दुआ और अशुभ-भावना के कारण भारत के राजा अल्पायु होते हैं।’



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

भावना का प्रभाव चेतन मनुष्य पर ही नहीं, अन्य वस्तुओं पर भी होता है। संकल्प का प्रभाव अचूक होता है। प्रतिदिन आस्थापूर्वक किया जाने वाला संकल्प असंभव को संभव बना डालता है। आदमी जान नहीं पाता कि यह सब कैसे घटित हो गया, पर घटित होता अवश्य है। आज के मनोचिकित्सक सजेशन और आटोसजेशन का प्रयोग करते हैं और उन्हें सफलता मिलती है। यदि आदमी प्रतिदिन यह भावना करता है कि मैं बीमार हूँ, बीमार हूँ, तो वह बीमार न होते हुए भी बीमार हो जाएगा। इसी प्रकार एक व्यक्ति यदि यह भावना करता है कि मैं स्वस्थ हूँ, मैं स्वस्थ हूँ, मैं स्वस्थ हूँ तो वह स्वस्थ होने लगता है।

इतिहास संकल्प-शक्ति के विकास का

संकल्प-शक्ति और भावना का विकास—यह व्रत का महत्वपूर्ण अंग है। व्रत का अर्थ है—अपनी संकल्प-शक्ति को इतना मजबूत बना लेना कि चाहे जैसी परिस्थिति आ जाए, परिस्थिति को भले ही झुकना पड़े, अपने आपको न झुकाए। व्रत की यह आस्था है। भारतीय साहित्य में ऐसे हजारों व्यक्तियों के जीवन प्रमाणभूत हैं जिनके सामने परिस्थितियों ने घुटने टेक दिए, व्यक्तियों का बाल भी बांका नहीं हुआ।

सम्राट् सिकंदर विजय का अभियान पूरा कर अपने देश लौट रहा था। एक साधक के विषय में सुना और वह वहां गया। साधक अपने में मस्त था। सम्राट् ने कहा—‘देखो! तुम्हारे सामने विजेता सम्राट् सिकंदर खड़ा है।’

साधक बोला—‘मुझे क्या, खड़ा होगा।’

सम्राट् बोला—‘नहीं जानते तुम कि मेरे पास कितना वैभव है, कितनी सत्ता है, कितना सैन्य-बल है!’

‘होगा, मुझे क्या!’

‘तुम मेरे साथ मेरे देश चलो। वहां तुम्हें सब सुविधाएं दूंगा।’

‘मैं नहीं चल सकता।’

‘चलना होगा तुम्हें। यह एक सम्राट् की आज्ञा है।’

‘नहीं चलूंगा और हरगिज नहीं चलूंगा।’

‘आज्ञा का उल्लंघन करने का परिणाम है मौत, जानते हो तुम? नहीं देखते मेरी चमचमाती तलवार को, जिसने हजारों को मौत के घाट उतार डाला।’

‘तुम किसे मारोगे? मेरी आत्मा अमर है। उसे कोई नहीं मार सकता। शरीर को मारने में ही तुम समर्थ हो। मुझे इससे क्या?’

जो व्यक्ति मौत से नहीं डरता, मौत की परिस्थिति उत्पन्न कर देने पर भी जिसका एक रोम भी प्रकंपित नहीं होता, वहां सम्राट् क्या कर सकता है! सम्राट् आगे बढ़ा और साधक के पैरों में झुक गया।

जिस व्यक्ति में अभय की चेतना जाग जाती है, व्रत और संकल्प की चेतना का जागरण हो जाता है, उस व्यक्ति को कोई शक्ति नहीं झुका सकती। ऐसी एक नहीं, हजारों-हजारों घटनाएं भारतीय साहित्य में लिखी पड़ी हैं। प्रत्येक धर्म-परंपरा का इतिहास व्रत और संकल्प-शक्ति के विकास का इतिहास है। ऐसी



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

एक भी धर्म-परंपरा नहीं होती, जिसमें किसी-न-किसी रूप में व्रतों का विकास न हो या संकल्प-शक्ति के विकास की प्रेरणा न हो।

अमेरिका से एक व्यक्ति यहां आया। वह पहले ईसाई धर्म का अनुयायी था, फिर वह इस्लाम धर्म का अनुयायी हो गया। ध्यान की परंपरा का अध्ययन करने वह तुलसी अध्यात्म नीडम् में आया। इसके संकल्प को हमने देखा। मुसलमान रोजा करते हैं अमुक महीने में। किंतु यह व्यक्ति प्रतिदिन रोजा करता था। वहां जेठ के महीने में भयंकर गर्मी थी। फिर भी वह व्यक्ति दिन में न खाना खाता और न पानी पीता। वह पूरे दिन व्यस्त रहता। या तो वह प्रेक्षाध्यान की चर्चाएं करता, ध्यान करता या अन्यान्य दार्शनिक तत्त्वों की चर्चा करता। लोगों को आश्चर्य होता कि बिना पानी पीए, यह भयंकर गर्मी में कैसे रह पाता है! पर उसका संकल्प-बल अटूट था।

प्रत्येक धर्म में संकल्प-शक्ति के विकास तथा व्रतों के विकास की प्रेरणाएं रही हैं और आज भी हैं।

मुख्य बन गया गौण मार्ग

आचार्य तुलसी ने अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि वर्तमान में भारतीय जनता धर्म के व्रतात्मक रूप को विस्मृत कर उपासनात्मक धर्म को अपनाए हुए है। उपासना धर्म का प्रमुख घटक बन गई। मैं उपासना को व्यर्थ नहीं मानता, किंतु जब नींव कमजोर होती है तब छत का और दीवारों का इतना महत्व नहीं रहता। उपासना छत और दीवारों का काम कर सकती है, पर नींव का काम कभी नहीं कर सकती। नींव का काम कर सकती है व्रत-शक्ति या संकल्प-शक्ति। आज ऐसा लगता है कि धार्मिक जगत् में संकल्प और व्रत की शक्ति का हास हुआ है और प्रतिदिन हास होता जा रहा है। आज सुख-सुविधा का भाव बढ़ रहा है, अव्रत का भाव बढ़ता जा रहा है, उपासना का मार्ग मुक्त होता जा रहा है। उपासना का मार्ग मुख्य नहीं था, गौण मार्ग था। वह सहायक मार्ग था। हमारी उद्देश्यपूर्ति में वह सहयोगी था, पर चलते-चलते वह मुख्य बन गया। सहयोगी मुख्य बन गया और योगी गौण हो गया।

योग और सहयोग, योगी और सहयोगी। एक योग और उसके साथ काम करने वाला सहयोग। पर योगी गौण होकर पीछे चला गया और सहयोगी मुख्य बन कर आगे आ गया। यह तो ऐसा ही कुछ हो गया है कि वर तो है नहीं, और बराती मुख्य बनकर कन्या के विवाह के लिए आ गए हैं। कैसा विचित्र संयोग! एक वर नहीं है तो कुछ भी नहीं है। एक योगी नहीं है तो सहयोगियों की कतार से कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। योगी और सहयोगी—इनके प्रति हमारा दृष्टिकोण स्पष्ट होना चाहिए, अवबोध स्पष्ट होना चाहिए। योगी प्रथम रहे, सहयोगी द्वयं रहे। जब सहयोगी प्रथम बन जाता है और योगी द्वयं हो जाता है तब सब-कुछ गड़बड़ा जाता है। वर के बिना कन्या किसके गले में वरमाला डाले? एक वर नहीं है, बराती अनेक हैं पर उनसे क्या हो?

गौण गौण होता है और मुख्य मुख्य। आज का भारतीय मानस सहयोगी तत्त्वों को पकड़े हुए है और योगी को विस्मृत किए हुए है। माला जपना, ईश्वर का नाम-स्मरण करना, सामायिक करना—ये प्रतिदिन किए जा रहे हैं, पर मूल योगी का कहीं अता-पता ही नहीं है। अणुव्रत आंदोलन इसी आधार पर शुरू किया गया कि भारतीय मानस में यह विवेक जाग्रत् हो कि जिसका प्रथम स्थान है उसे प्रथम स्थान दें और जिसका द्वयं



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

स्थान है उसे द्वयं स्थान दें। स्थानों का व्यत्यय न करे। इसी में दोनों की सार्थकता है, अन्यथा दोनों व्यर्थ हो जाएंगे। यह विवेक स्पष्ट होना चाहिए। स्थान का विवेक और मर्यादा न हो तो बड़ी कठिनाई पैदा हो जाती है।

एक ब्राह्मण यात्रा कर रहा था। रास्ते में उसे रसोई बनानी थी। उसने एक स्थान चुना। उस स्थान को बुहारा, गाय के गोबर से लीपा और वस्तुएं लाने चला गया। इतने में उधर से एक गधा आया और उस स्थान पर आकर बैठ गया। ब्राह्मण ने देखा कि उस लिपे-पुते स्थान पर गर्दभराज विराजमान हैं। वह गधे के समक्ष गया, हाथ जोड़कर बोला—‘महाशय! यदि यहां कोई दूसरा आकर बैठता तो मैं कहता, बना-बनाया गधा है। पर अब मेरे सामने समस्या है कि आप खुद गर्दभराज आ गए हैं। आपको किस उपमा से उपमित करूं? दूसरे के लिए आपकी उपमा दी जाती है, पर आप तो अनुपम है, आपको कौन-सी उपमा दूं!’

व्रत की आत्मा

जब स्थान या मर्यादा का परिवर्तन हो जाता है, किसी के स्थान पर कोई दूसरा आकर बैठ जाता है तब अनेक समस्याएं पैदा हो जाती हैं। इस समस्या का समाधान यही है कि जिसका जो स्थान हो उसे वही स्थान दिया जाए। भारतीय मानस में जो व्रत का स्थान है, उसे व्रत का स्थान दें और जो उपासना का स्थान है, उसे उपासना का स्थान दें। एक-दूसरे के स्थान का परिवर्तन न करें। व्रत का स्थान पहला होगा। उपासना का स्थान दूसरा होगा। उपासना व्रत का सहयोग करेगी, उसमें प्राण फूँकेगी, उसे शक्तिशाली बनाएगी। किंतु वह व्रत की आत्मा नहीं बन सकती। व्रत की आत्मा का संबंध हमारी आंतरिक चेतना से है और उपासना बाह्य चेतना को छूती है।

अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन इसीलिए हुआ कि व्यक्ति व्रतों का वास्तविक मूल्य आंक सके और अपनी संकल्प-शक्ति को जगा सके। आज व्रतों का और संकल्प-शक्ति का मूल्य हमारी दृष्टि से ओझल हो चुका है, वह पुनः स्थापित हो और व्रत अपनी शक्ति की स्थापना करें।

विदेश के कुछ अर्थशास्त्रियों ने भारतीय धर्मों पर यह आरोप लगाया था कि भारतीय धर्मों में नैतिक आचार-संहिता नहीं है। जहां अणुव्रत की आचार-संहिता विद्यमान है, फिर नैतिकता की आचार-संहिता कैसे नहीं? अणुव्रत आज का शब्द नहीं है। भगवान् महावीर ने अपने समय में गृहस्थ के लिए बारह व्रतों की आचार-संहिता दी थी। उसमें अणुव्रतों का समावेश था ही। उन्हीं व्रतों को आधारभूत मानकर, आज अणुव्रतों की आचार-संहिता आचार्यश्री ने प्रस्तुत की है। यह गृहस्थ के लिए पूरी आचार-संहिता है।

इतिहास अच्छाई और बुराई का

बुराइयों का इतिहास अच्छाइयों के इतिहास जितना ही पुराना है। प्राचीनकाल में अच्छाइयां थीं तो बुराइयां भी थीं। आज बुराइयां हैं तो अच्छाइयां भी हैं। मिलावट पहले भी होती थी, आज भी होती है। यह पुरानी बीमारी है। कोई भी बीमारी नई नहीं होती। आदमी भी नया नहीं है। आदमी का स्वभाव भी नया नहीं है। हजारों-हजारों वर्षों से उसका इतिहास प्राप्त होता है। जो था, वह है। दो सौ वर्षों के पहले भी पिता पुत्र को कहता था—सावधान रहना, जमाना बड़ा खराब है। आज भी यही शब्द सुनने को मिलता है और आगे भी यही ध्वनि मिल सकती है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

मनुष्य की शाश्वत वृत्तियां कभी नहीं बदलतीं। पर हर युग में परिवर्तन की बात सोची जाती रही है और अनेक उपायों को खोजा जाता रहा है। इसी शृंखला में आज अणुव्रत आंदोलन प्रस्तुत हुआ है। आदमी को बदलना है। परिस्थितियों और युग को बहाना बनाकर परिवर्तन से मुंह नहीं मोड़ना है। हमारा काम है बदलने का प्रयत्न करना और कांटों को बुहार कर मार्ग को साफ करना। यदि रेगिस्तान का आदमी यह सोचे कि यहां तो रेत आती ही रहती है, आंधियां चलती ही रहती हैं, मैं क्यों रेत को साफ करूं, तो क्या दशा होगी? वह धूलमय बन जाएगा। पर आदमी प्रयत्न में विश्वास करता है। वह प्रयत्न कभी नहीं छोड़ता। जितनी बार रेत आती है, आंधियां आती हैं, वह बुहारता है, साफ-सफाई करता है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि रेत आए ही नहीं, आंधियां चलें ही नहीं। रेत आएगी, बुहारी लगेगी, सफाई होगी। यही वास्तविक प्रक्रिया है। दोनों बराबर चलेंगे-रेत का स्वभाव है आना, आदमी का काम है सफाई करना। संक्रमणों और परिस्थितियों से आने वाले विचलनों की उपेक्षा न करें। उनके साथ आंख-मिचौनी न खेलें। उनकी सफाई करें, सफाई करते जाएं, रुकें नहीं। यदि यह मानकर बैठा जाए कि बुराईयां बहुत हैं, भयंकर प्रकोप है बुराईयों का, तो आदमी उनसे भयंकर रूप में ग्रस्त हो जाएगा। आदमी आदमी ही नहीं रहेगा। सारा समाज रुग्ण बन जाएगा। हमारी दृष्टि साफ रहे कि बीमारी आए, हम उसकी चिकित्सा करें। चिकित्सा कर उसे मिटा दें। बुराई आए तो उसका प्रतिकार करें। अणुव्रत उसी दिशा का एक संकेत है कि आज जो शिथिलता का मनोभाव बन गया, स्वार्थ और सुविधावादी मनोवृत्ति विकसित हो गई, उसका प्रतिकार किया जाए। जहां सुविधावादी मनोवृत्ति पनपती है, वहां व्रतों में विचलन आता है, व्रत की भावना फिसलने लग जाती है।

अणुव्रत : सुविधावादी प्रवृत्ति के प्रति विद्रोह

तेरापंथ के आद्य-प्रवर्तक आचार्य भिक्षु खड़े-खड़े प्रतिक्रमण करते थे। अवस्था सत्तर वर्ष की थी। किसी ने उन्हें सुझाया, आप बैठे-बैठे प्रतिक्रमण करें। आचार्य भिक्षु ने कहा—मुझे सुविधावादी नहीं बनना है। कष्ट होता है तो भले हो। इससे मेरा संकल्प दृढ़ होता है। आज मैं इस अवस्था में खड़े-खड़े प्रतिक्रमण करता हूं तो आने वाली पीढ़ी बैठे-बैठे तो करेगी और कभी संकल्प-शक्ति को विकसित करने का प्रयत्न तो करेगी।

अणुव्रत सुविधावादी मनोवृत्ति के प्रति एक विद्रोह है। आदमी को सुविधाएं मिले, यह भिन्न बात है और आदमी की मनोवृत्ति सुविधावादी हो, यह भिन्न बात है। आदमी को सुविधावादी नहीं बनना चाहिए, श्रम से नहीं कतराना चाहिए। कठिनाइयों के सामने उसे घुटने नहीं टिकाने चाहिए। वह सहिष्णु बने, घबराए नहीं। यदि यह शक्ति जागती है तो दुनिया की कोई भी ताकत उसे परास्त नहीं कर सकती। जिस समाज के लोग श्रम से कतराने लग जाते हैं, श्रम को नीचा समझने लग जाते हैं, असहिष्णु बन जाते हैं, कष्टों से घबरा जाते हैं, वे स्वयं परास्त हो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं।

व्रत से बढ़ती है संकल्प-शक्ति

व्रतों का जीवन संयम का जीवन है, कठोरता का जीवन है, सहिष्णुता का जीवन है, त्याग का जीवन है। इससे संकल्प-शक्ति बढ़ती है। जिस व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की संकल्प-शक्ति दृढ़ होती है, उसे



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

दुनिया में कोई नहीं जीत सकता। वह अजेय बन जाता है। जिस व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की संकल्प-शक्ति कमजोर हो जाती है, उसे पराजित करने के लिए दूसरे व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की आवश्यकता नहीं होती, वह स्वयं नष्ट हो जाता है।

हिब्रू सम्राट का सेनापति उदास बैठा था। पत्नी ने देखा। उसने पूछा—‘इतने उदास क्यों? कभी आपको इस प्रकार मुंह लटकाए नहीं देखा। आज क्या बात है?’

उसने कहा—‘बहुत बुरा हो रहा है। युद्धक्षेत्र में मेरी सेना हार रही है। शत्रुसेना जीत रही है। यही मेरी उदासी का कारण है।’

पत्नी ने कहा—‘मैंने तो और ही कुछ सुना है। बहुत बुरा समाचार है। लोग कहते हैं कि सेनापति का संकल्प-बल क्षीण हो गया है। अब उनमें संकल्प-शक्ति नहीं रही है। यह सबसे बुरा हुआ है। इसे सुनकर मैं भी व्यथित हूं।’

सेनापति ने सुना। उसका आहत पराक्रम जाग उठा। मर्म पर तीर लगा। वह रणक्षेत्र में गया। सैनिकों का साहस बढ़ाया। इतनी वीरता से लड़ा कि पराजय जय में बदल गई।

संकल्प टूटता है तो सब कुछ टूट जाता है। संकल्प-बल मजबूत होता है तो सब कुछ दृढ़ हो जाता है।

हम अणुव्रतों का मूल्यांकन करें—इस दृष्टि से नहीं कि यह केवल व्रतों की आचार-संहिता है, किन्तु इस दृष्टि से करें कि यह जीवन की आधारभूत नींव है। प्रत्येक व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए यह अत्यावश्यक है कि वह अपनी संकल्प-शक्ति को बढ़ाए। संकल्प के बल पर वह उसका इतना विकास करे कि जीवन का प्रासाद इतना मजबूत और अविचल बन जाए कि प्रलयकाल के पवन का झोंका भी उसे प्रकंपित न कर सके, धराशायी न कर सके।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अनुभव की वेदी पर संयम का प्रतिष्ठान

एक शरीर है और इन्द्रियां पांच हैं। इनके अतिरिक्त एक मन भी है जो हमारी इन्द्रियों को संचालित करता है। ये छह सम्पर्क-सूत्र बाह्य जगत् से जोड़े हुए हैं। यदि ये सम्पर्क-सूत्र नहीं होते तो न कोई देखने वाला होता और न कुछ दृश्य, न कोई सूंघने वाला होता और न कोई घ्राण। इन्द्रियों और मन के अभाव में बाह्य से सम्पर्क नहीं रहता और सब अपने आपमें होते। इन्द्रियों और मन ने ऐसा धागा प्रस्तुत किया कि आदमी जुड़ गया। सूई धागे को लेकर चलती है और दो टुकड़ों को जोड़ती है। इन्द्रियां भी सूई का काम करती हैं। आज अकेला जैसा कुछ भी नहीं है। जहां दो होते हैं वहां भय प्रारम्भ हो जाता है किन्तु कठिनाई यह है कि एकाकीपन में मन नहीं लगता। उपनिषद् में कहा—‘स एकाकी नैव रेमे।’ भगवान् का भी अकेले मन नहीं लगा इसलिए ‘एकोऽहम् बहु स्याम्’ की भावना से सृष्टि-रचना की गई। इसलिए जहां दो हैं, वहां संयम की आवश्यकता है।

इन्द्रियों का स्वभाव

संयम से सुरक्षा होती है। अपनी सुरक्षा और सामाजिक सुरक्षा—दोनों ही इससे प्राप्त होती हैं। जहां व्यक्ति दूसरों के साथ अपना उचित सामंजस्य नहीं बना पाता, वहां व्यक्ति का व्यक्तित्व खंडित हो जाता है। इन्द्रियों का स्वभाव है संयम से विमुख जाना और हमारा लक्ष्य है संयम की ओर अग्रसर होना। आज मनुष्य की वाणी में संयम नहीं, स्वाद का संयम नहीं, दृष्टि का संयम नहीं और श्रवण आदि का भी संयम नहीं। ऐसे भोजनभट्ट आपको मिलेंगे, जो जीने के लिए नहीं खाते, केवल खाने के लिए जीते हैं। शास्त्रों में कहा है—

आहारार्थं कर्म कुर्यादनिन्द्यं, स्यादाहारः प्राणसंधारणाय।

प्राणा धार्याः तत्त्वजिज्ञासनाय, तत्त्वं ज्ञेयं येन भूयो न भूयात्॥

—आहार के लिए भी वही कर्म करना चाहिए जो निन्दनीय नहीं हो। आहार भी प्राणों को धारण करने के लिए ही किया जाना चाहिए। परन्तु आज व्यवहार विपरीत देखने में आता है।

एक चौबेजी के पुत्र ने अपने पिता से कहा—‘पिताजी! आज तो बड़ी दुविधा में फंस गया हूं।’

पिता ने पूछा—‘ऐसी क्या बात है? क्या आज कहीं से भोजन का निमंत्रण नहीं मिला?’

पुत्र ने खेद भरे स्वर में कहा—‘भोजन का निमंत्रण मिला था और मैं अभी-अभी भोजन करके आया हूं किन्तु फिर दूसरी जगह से निमंत्रण आ गया है और पेट में जगह ही नहीं है, पेट फट रहा है।’

पिता ने फटकारते हुए कहा—‘मूर्ख! प्राण बार-बार मिलेंगे किन्तु भोजन का निमंत्रण नहीं।’

आप अपने जीवन में देखें। हम तृप्ति के लिए सब कुछ कर रहे हैं, यथार्थता के लिए नहीं। इन्द्रियां तृप्ति चाहती हैं और कर्तव्य संयम। इन दोनों में सामंजस्य कैसे हो। लक्ष्य को निर्धारित करने से ही विसंगति मिट सकती है। व्यक्ति को आकर्षण-केन्द्र बदलना होगा और जिस दिन यह बदलेगा उसी दिन इन्द्रियों और कर्तव्य में सामंजस्य होगा।

आकर्षण का केन्द्र

इन्द्रियों का आकर्षण बाह्य जगत् की ओर है। मैं आपको देखता हूं किन्तु स्वयं को नहीं देख पाता। मैं दुनिया का कोलाहल सुनता हूं किन्तु अपने अन्तर के स्वर को सुन नहीं पाता। यदि मेरा आकर्षण अन्तर्-जगत् की ओर होता तो संयम की समस्या नहीं होती। मेरा घर मेरे लिए आकर्षण का केन्द्र नहीं है, दूसरों के घर में आकर्षण लगता है। अपनी थाली का भोजन पसन्द नहीं, दूसरे की थाली में जो है वह प्रिय लगता है। दूसरों को अच्छा मानते हैं, स्वयं को नहीं जानते। इसलिए संयम की कठिनाई है। भगवान् महावीर की वाणी में कहते हैं—‘आय तुले पयासु’। वेदों का स्वर गाते हैं—‘एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति।’ किन्तु जैन और वेदान्ती दोनों ही अपनी-अपनी दुकान पर यह वाक्य भूल जाते हैं।

सुनने की बात : करने की बात

एक ब्रह्मवादी अपने पुत्र के साथ प्रवचन में गया। पुत्र ने प्रवचन में सुना कि आत्मा सबकी एक है और ब्रह्म की ही माया है, कहीं भेद नहीं है। प्रवचन के बाद पुत्र अपनी दुकान पर आया। अनाज के ढेर से गाय अनाज चर रही थी। उसने ‘एकं ब्रह्म’ के अनुसार गाय को नहीं हटाया; क्योंकि वह समझ गया था कि सब ब्रह्म की माया है। पिता ने गाय को अनाज चरते देखा तो क्रोधित होकर पुत्र को डांटने लगा। पुत्र ने प्रवचन की बात दोहराई। पिता ने डांटते हुए कहा—‘वह केवल सुनने की बात थी, करने की नहीं। प्रवचन की बात दुकान पर नहीं चल सकती।’

यह क्यों होता है? हमें इसके कारण पर विचार करना चाहिए। इसका कारण है, अनुभूति की तीव्रता का अभाव। हम सुनते हैं किन्तु अनुभूति में तीव्रता नहीं आती इसलिए सुनना कार्यकर नहीं होता।

अनुभूति की तीव्रता के हेतु

अनुभूति की तीव्रता के तीन कारण हैं—शब्द, अनुमान और प्रत्यक्षीकरण।

शब्द से जानकारी होती है, वस्तु का ज्ञान होता है किन्तु शाब्दिक ज्ञान में अनुभूति नहीं होती, केवल ज्ञान होता है। शास्त्रों से जो सुनते हैं, वह शाब्दिक ज्ञान होता है, अनुभूति नहीं होती। इसलिए हजारों वर्षों



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

से शास्त्र सुनकर भी तदनुरूप क्रिया नहीं होती। ज्ञान और अनुभूति दो चीजें हैं। चीनी को खाने के पहले उसका ज्ञान हो सकता है किन्तु खाये बिना अनुभूति नहीं होती।

दूसरा अनुमान है। धुआं देखकर अग्नि का अनुमान किया जा सकता है। शाब्दिक ज्ञान के साथ अनुमान जोड़ने से थोड़ी अनुभूति होती है, किन्तु अनुभूति की तीव्रता इसमें भी नहीं आ पाती।

अनुभूति की पूरी तीव्रता प्रत्यक्षीकरण में होती है। संयम के प्रति तीव्र अनुभूति नहीं है, क्योंकि उसका प्रत्यक्षीकरण नहीं है, केवल शाब्दिक और आनुमानिक ज्ञान है। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि अच्छा है। यह कैसे जाना? आप कहेंगे कि शास्त्रों में लिखा है। जीवन में अनुभव नहीं किया है। केवल पढ़कर या सुनकर आप भी उसे वैसा कह देते हैं।

एक व्यक्ति ससुराल से अपने घर आया, आते ही आंगन में बैठकर रोने लगा। लोगों ने रोने का कारण पूछा तो जोर-जोर से रोते हुए कहा—‘मेरी स्त्री विधवा हो गई?’ लोगों ने कहा—‘तुम जीवित हो तब तुम्हारी स्त्री विधवा कैसे हो सकती है?’ उसने कहा—‘मेरी ससुराल वालों ने कहा है, वे क्या झूठ बोलते हैं?’

आज स्थिति कुछ ऐसी ही है। दूसरों के माध्यम से किसी बात को स्थापित करना चाहते हैं, स्वयं के अनुभव से नहीं बता पाते। यह जीवन की कितनी विसंगति है? संयम से तृप्ति मिलती है, विकास होता है, ऐसा प्रत्यक्षीकरण का प्रमाण देने वाले कितने मिलते हैं?

बहुत हैं भारवाही

अणुव्रत की चर्चा इस संदर्भ में करें। यदि त्याग की भावना से स्वर्ग-नरक को जोड़कर अणुव्रत को देखेंगे तो कम प्राप्त कर सकेंगे। अणुव्रत धर्म-क्रांति का स्वर है किन्तु धर्म के साथ स्वयं की अनुभूति नहीं जोड़ेंगे तो धर्म के ऋणी बन सकते हैं परन्तु लाभ नहीं उठा सकेंगे। विचारों, धारणाओं और संस्कारों का आदमी भार ढोता है किन्तु जीवन में उन्हें मूर्तरूप देने का, व्यवहार में उतारने का मौका नहीं देता। जीवन में भारवाही बहुत बनते हैं किन्तु रस उठाने वाले नहीं होते।

लखपति, करोड़पति व्यक्तियों को देखता हूं और उनको कई बार कहता हूं कि तुम सबसे बड़े नौकर हो। दिनभर पैसे की नौकरी निभाना तुम्हारा काम है, अन्य कुछ भी नहीं। आप भी अपने जीवन पर विचार करें, आत्म-निरीक्षण करें। अतीत का सिंहावलोकन करके देखें। व्रत के प्रति दृष्टिकोण बनना चाहिए था वह नहीं बन पाया है, अणुव्रत के प्रति जो निष्ठा उत्पन्न होनी चाहिए थी वह नहीं हो रही है। क्योंकि लोगों ने सोच लिया है कि त्याग और बलिदान के बिना ही कोई सस्ता लाभ मिल जाए। पूजा-पाठ पंडितजी कर दें और लाभ सेटजी को मिल जाए। आज तो विज्ञान के युग में व्यक्ति खाने और पचाने से भी बचना चाहता है।

हमें अपनी अनुभूति तीव्र बनानी चाहिए अन्यथा संयम के प्रति आकर्षण नहीं होगा। जब तक संयम के प्रति आकर्षण नहीं होगा तब तक दूसरी ओर आकर्षण रहेगा। सिनेमा देखने का उपदेश नहीं दिया जाता, फिर भी लोग उधर भागते हैं। रोटी खाने का उपदेश किसी को नहीं दिया जाता, फिर भी प्रत्येक मनुष्य खाता



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

है क्योंकि उसकी प्रत्यक्ष तीव्र अनुभूति होती है। इसी प्रकार धर्म, संयम और व्रत की तीव्र अनुभूति हो जाए तो उपदेश की जरूरत नहीं।

विकल्प और लाभानुभूति

विकल्प और लाभानुभूति दो ऐसी बातें हैं जिनसे जनता आकृष्ट होती है। धर्म एवं संयम से क्या लाभ होता है, यह अनुभूति करा दी जाए एवं असंयम के विपरीत संयम का विकल्प दिया जाए तो सहज ही आकर्षण बढ़ेगा। आजकल ध्यान का अभ्यास लाभ के साथ जोड़ा जाता है। कहा जाता है कि ध्यान से व्यापार में ज्यादा सफलता मिलती है। इसलिए व्यापारी वर्ग ध्यान की ओर मुड़ता है; क्योंकि उसमें उसे लाभ मिलने की संभावना है। संयम के साथ भी लाभ जुड़ा है। सच्चा, प्रामाणिक एवं ईमानदार रहकर काम करने वाले को अनेक प्रकार का लाभ होता है किन्तु इसकी तीव्र अनुभूति करानी और करनी होगी। इसके लिए जीवन के आकर्षण को बदलें। अनुभूति की तीव्रता होगी, संयम का आकर्षण होगा तो फिर उपदेश की जरूरत ही नहीं रहेगी।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अणुव्रत और मूल्यों की खोज

इक्कीसवीं शताब्दी सामने है। उसमें प्रवेश कैसे हो, यह चिन्तन का विषय बना हुआ है। विकास की अनेक कल्पनाएं उभरकर आ रही हैं। अधिकांश कल्पनाएं भौतिक विकास और औद्योगिक विकास से जुड़ी हुई हैं। चरित्र विकास और आध्यात्मिक विकास के प्रति रुझान कम है और उसकी उपयोगिता के विषय में भी मानस संदिग्ध है। बीसवीं शताब्दी ने मनुष्य के सामने अनेक समस्याएं पैदा की हैं। उन समस्याओं का समाधान भी खोजा गया और खोजा जा रहा है। आर्थिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। गरीबी मिटी है, यह भी नहीं कहा जा सकता और गरीबी नहीं मिटी है, यह भी नहीं कहा जा सकता। भूख के कारण कोई आदमी नहीं मरता। इसके प्रति सरकार सजग है। फिर भी गरीबी की यातना से करोड़ों-करोड़ों लोग पीड़ित हैं। गरीबी नहीं मिट रही है, इसका दोष सरकार के सिर मढ़ा जाता है। पता नहीं इसमें सरकार दोषी है अथवा त्रुटिपूर्ण अर्थव्यवस्था। समस्या भी भौतिक है और उसका समाधान भी भौतिक स्तर पर खोजा जा रहा है। क्या समस्या के मूल में आध्यात्मिक दृष्टिकोण का अभाव नहीं है? क्या नैतिक मूल्यों के प्रति अनास्था का भाव नहीं है? क्या नैतिक चेतना और आध्यात्मिक चेतना के जागरण का इस समस्या के समाधान में योग नहीं हो सकता? एकांगी दृष्टिकोण और एकांगी चिन्तन समस्या के समाधान में बाधक बन रहा है।

वर्तमान की समस्या

आचार्य तुलसी ने पांच दशक पहले ही इस एकांगी चिन्तन के चक्रव्यूह को तोड़ने का प्रयत्न किया। उन्होंने अणुव्रत की आचार-संहिता समाज के सामने प्रस्तुत की और कहा—‘नैतिकता की उपेक्षा कर जो भौतिक विकास की कल्पना की जा रही है, वह समस्या को सुलझा नहीं पाएगी।’ समाजवाद की अवधारणा ने सुनहरे स्वप्न संजोए पर समाजवादी व्यवस्था का स्वप्न आकार नहीं ले सका। इसका हेतु स्पष्ट है—भौतिकवादी धारा के साथ नैतिक मूल्यों और आध्यात्मिक चेतना का समन्वय नहीं किया गया।

पदार्थ आसक्ति या मूर्च्छा पैदा करता है। आसक्ति स्पर्धा को जन्म देती है। पदार्थ विकास की होड़ में नैतिक मूल्यों की चिन्ता नहीं हो सकती। वर्तमान की समस्या का यही रेखांकन हो सकता है।

सुविधावाद और उपभोक्तावाद से वर्तमान युग समस्या संकुल हो गया है। समस्या और तज्जनित पीड़ा का अनुभव भी हो रहा है। पर कोई भी आदमी पीछे हटने को तैयार नहीं है। प्रगति और प्रतिगति (पिछड़ेपन) की अवधारणा के चक्रव्यूह में पूरा युग उलझा हुआ है। क्या उस चक्रव्यूह को तोड़ा जा सकता है? बहुत कठिन काम है।

विकास की अवधारणा

विकास की अवधारणा पदार्थ के साथ जुड़ी हुई है। जिस राष्ट्र के पास उपभोग के साधन अधिक हैं, उद्योग अधिक हैं, तकनीकी ज्ञान और उपभोग की क्षमता अधिक है, वह राष्ट्र विकसित है। कोई भी राष्ट्र अविकसित की पंक्ति में रहना नहीं चाहता। कोई भी समाज और कोई भी व्यक्ति अविकसित रहने में श्रेयस की अनुभूति नहीं करता। सब विकास की दौड़ में संलग्न हैं। विकास के साथ साधन-शुद्धि का संकल्प नहीं है। 'येन केन प्रकारेण' विकास के शिखर तक पहुंचने का निश्चय है। इस अवस्था में नैतिकता का आसन प्रथम पंक्ति में कैसे बिछाया जा सकता है?

अनास्था का वातावरण

आचार्य तुलसी बहुत बार कहते थे—'नैतिक मूल्यों का हास हुआ है। इसकी चिन्ता है पर इससे भी अधिक चिन्ता यह है कि नैतिक मूल्यों के प्रति एक अनास्था पैदा हो गई है। इससे भी अधिक चिन्ता की बात यह है—नैतिक मूल्यों के प्रखर व्याख्याता भारतीय मानस में यह अनास्था पैदा हुई है। क्या इसे कालचक्र का दोष मानें? अथवा कालिदास की इस उक्ति को सार्थक मानें—**नीचैः गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।**

कुछ भी मानें, भारतीय मानस में अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार—चारों का दर्शन हो रहा है। पिछली पंक्तियों में जो मैंने लिखा, उस पर पुनश्चिन्तन अपेक्षित लगता है।

कौन भौतिकवादी : कौन अध्यात्मवादी

पश्चिमी जगत् पदार्थवादी विकास की अवधारणा, भौतिक दृष्टिकोण, सुविधावाद, उपभोक्तावाद आदि समस्याओं से ग्रस्त है फिर भी वहां नैतिक मूल्यों का हास नहीं है और उनके प्रति अनास्था का वातावरण नहीं है। एक भाई विदेश यात्रा से लौटा। उसने मुझे कहा—हम पश्चिम जगत् को भौतिकवादी मानते हैं और हिन्दुस्तान को अध्यात्मवादी। किन्तु मेरी यात्रा ने मुझे सोचने को विवश किया है। मेरी धारणा यह बनी है—हम भौतिकवादी हैं और पश्चिमी जगत् अध्यात्मवादी। हमारे पास अध्यात्मवाद और उससे फलित होने वाले नैतिक मूल्यों का दर्शन कहां हो रहा है? प्रश्न गंभीर है और इस पर विमर्श करना भी आवश्यक है। ऐसा प्रतीत हो रहा है कि अनासक्ति की व्याख्या करने वालों ने नैतिक मूल्यों के प्रति अनास्था का वातावरण पैदा किया है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

हास का कारण

समस्या का मूल पकड़ में नहीं आ रहा है। व्यावहारिक स्तर पर नैतिक मूल्यों का हास हो रहा है। नैतिकता से आजीविका करने वाला कठिनाई का सामना कर रहा है। अनैतिकता से आजीविका करने वाला सुख सुविधा के साथ जीवन बिता रहा है। इस चिन्तन के साथ नैतिक मूल्यों के विकास का दरवाजा बन्द हो जाता है। प्रतीत हो रहा है—चिन्तन की कुछ त्रुटियों ने तथा कर्मवादी, भाग्यवादी और धार्मिक अवधारणाओं ने भी नैतिकता की प्रतिष्ठा को कम किया है।

धर्म के क्षेत्र में उपासना प्राथमिक और अनिवार्य है, नैतिकता अनिवार्य नहीं है। वास्तव में वह अनिवार्य है किन्तु वर्तमान धार्मिक अवधारणा ने उसे किनारे रख दिया है। जिसका भाग्य अच्छा होता है उसे धन-संपत्ति मिलती है। इस अवधारणा ने नैतिकता और अनैतिकता का प्रश्न गौण कर दिया।

एक गरीब आदमी दुःख भोग रहा है। उसके प्रति सहानुभूति नहीं होती। यह चिन्तन उभर कर सामने आता है—पिछले जन्म में उसने बुरे कर्म किए थे, उन्हीं का फल भोग रहा है।

चिन्तन की सीमा ने व्यक्तिवाद और स्वार्थवाद को अत्यधिक महत्त्व दिया। सामुदायिक चेतना और संवेदनशीलता की बात परदे के पीछे चली गई। आत्मतुला और वसुधैव कुटुम्बकम् का पाठ तोतारटन अथवा टेपरिकार्डर की ध्वनि बन कर रह गया। उसे व्यवहार के धरातल पर नहीं उतारा जा सका।

जरूरी है प्रारंभ बिन्दु की खोज

गरीब की अभाव को भरने की विवशता, अमीर की और अधिक अमीर बनने की मनोवृत्ति, जनसंख्या की बढ़त—आदि अनेक हेतु हैं, जो नैतिक मूल्यों के विकास में विघ्न उपस्थित कर रहे हैं। इन सबसे भी बड़ा कारण है शिक्षा प्रणाली में नैतिकता के संस्कार देने का अभाव। इस दिशा में प्रयत्न करना आवश्यक है। हमारा विश्वास है—बचपन के संस्कार जटिल परिस्थिति में भी अपनी अस्मिता को बनाए रख सकते हैं। वर्तमान के वातावरण को बदलने के लिए किसी प्रारम्भ बिन्दु को खोजना होगा। उस प्रारम्भ बिन्दु को शिक्षा के क्षेत्र में ही खोजा जा सकता है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

जीवन-निर्माण की दिशा और अणुव्रत

एक संस्कृत कवि ने लिखा है—

अग्निदाहे न मे दुःखं, न दुःखं लोहताडने।
इदमेव महद्दुःखं, गुञ्जया सह तोलनम्॥

सोना स्वर्णकार से कह रहा है—‘मुझे अग्नि में गर्म किया उसका दुःख नहीं है, मेरे ऊपर घन की चोटों दीं उसका भी मुझे तनिक मात्र दुःख नहीं है। मुझे दुःख इसी बात का है कि तुम मुझे गुञ्जाओं (चिरमियों) के साथ तोल रहे हो।’

सचमुच सोने की इस आपत्ति में तथ्य है। किसी विशेष वस्तु की नगण्य के साथ तुलना करने पर क्या उसे वेदना नहीं होती, पीड़ा नहीं होती! आज हिन्दुस्तान के नागरिकों की तुलना कुछ अन्य देशीय नागरिकों के साथ होती है—वह भी कुछ चरित्र के मामले को लेकर—ऐसे देशों के साथ जिनका उत्कर्ष प्रकट नहीं होता, सचमुच पीड़ा की बात है। प्रश्न है—क्यों? अतीतकाल में हिन्दुस्तान धर्म-प्रधान देश रहा है। उसी धर्म-प्रधान देश को आज साहस के साथ धर्म-प्रधान देश नहीं कह सकते, दुःसाहस करके ही कह सकते हैं। मुझे कहने में संकोच होता है। केवल अतीत की दुहाई देनी हो तो मैं दे सकता हूँ। किन्तु अतीत तो मात्र दर्पण है। वह हमें प्रतिबिम्ब दे सकता है, चला नहीं सकता। हमें देखना है कि हमारा वर्तमान सुन्दर व सुखद है या नहीं? जहां पर सामाजिक जीवन में धर्म का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, जीवन में धर्म का आचरण नहीं होता, केवल उपासना और क्रियाकाण्डों में ही विश्वास किया जाता है और व्यवहार में शुद्धि नहीं रखी जाती, उस देश को हम धर्म-प्रधान कैसे कह सकते हैं? बौद्धिक मानस शायद ही इसके लिए तैयार हो। आज की स्थिति क्या है?

दो विकल्प

हमारे सामने दो विकल्प हैं—पहला विकल्प है रोटी का और दूसरा है आस्था का। रोटी हमारे लिए आवश्यक है। आस्था को किसके सहारे टिकाएं? वह लक्ष्य या सिद्धान्त के सहारे टिक सकती है। रोटी जीवन

को चलाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। आस्था के अभाव में सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती, चाहे वह भौतिक, मानसिक और अध्यात्म क्षेत्र में हो अथवा किसी भी क्षेत्र में। आस्था को रखना अत्यन्त आवश्यक है। वही व्यक्ति जीवन में कुछ कर सकता है जो आस्थावान् होता है। जीवन में श्रद्धा का होना बहुत जरूरी है। बिना श्रद्धा के आत्मविश्वास पैदा नहीं होता। आत्मविश्वास के अभाव में सफलता के मार्ग में अनेक कांटे हैं। जहां आस्था नहीं, दृढ़ संकल्प नहीं, दृढ़तम इच्छा नहीं, वहां अनेक समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं।

व्यक्तिवादी मनोवृत्ति

हिन्दुस्तान अतीतकाल में सोने की चिड़िया कहलाता था। आज उसी हिन्दुस्तान के सामने रोटी और आस्था की प्रमुख समस्या है। पता नहीं हिन्दुस्तान इसमें क्यों उलझ गया? जहां तक मैंने समझा है हिन्दुस्तान में व्यक्तिवादी मनोवृत्ति बहुत तीव्र हो गई है। स्वयं के स्वार्थ में दूसरों की हानि का उसे कोई दुःख नहीं होता। स्वयं के ही स्वार्थ की बात सोचता है, स्वयं की प्रतिष्ठा कैसे बढ़े, दूसरे मेरे बड़प्पन का महत्त्व कैसे आंके, यह मनोवृत्ति आज भारतरूपी शरीर में प्रवेश कर गई है जो शरीर को जला रही है किन्तु उसकी वेदना ज्ञात नहीं हो रही है। व्यक्तिवादी मनोवृत्ति अध्यात्म क्षेत्र में अत्यन्त उपयोगी है किन्तु जहां समाज का प्रश्न है, व्यक्तिवादी मनोवृत्ति मनुष्य को कर्तव्य से दूर कर देती है।

अप्रामाणिकता का हेतु

आज हिन्दुस्तान में 'अप्रामाणिकता' का रोग बढ़ गया है। हर क्षेत्र में अप्रामाणिकता की शिकायत है। यह शिकायत क्यों? शायद हिन्दुस्तान के नागरिकों ने यह कभी जिज्ञासा भी नहीं की हो! उस अप्रामाणिकता के पीछे हेतु है 'व्यक्तिवाद' का। यह सच है कि धन के अभाव में देश संत्रस्त होता है, किन्तु यह भी सच है कि एक ओर गरीबी या धन का अभाव होने पर भी अनेक व्यक्ति अप्रामाणिकता नहीं करते, दूसरी ओर अनेक संपन्न व्यक्ति भी अप्रामाणिकता करने में आगे रहते हैं। हम समाचार-पत्रों में पढ़ते हैं कि एक टैक्सी वाले, तांगेवाले या श्रमिक ने अमुक व्यक्ति के गहने, रुपयों का बटुआ पाया और उसने खोज करके मालिक के पास सुरक्षित पहुंचा दिया। किन्तु हमने यह नहीं देखा कि किसी उद्योगपति या मिल के मालिक ने ऐसी प्रामाणिकता का परिचय दिया हो। इसका कारण क्या है? मुझे लगता है इसके दो प्रमुख कारण हैं—

1. आस्थाहीनता
2. मार्गदर्शन का अभाव।

आखिर हमने यह क्यों मान लिया कि मानसिक विकास, जीवन की सफलता और समृद्धि-संचय के लिए अप्रामाणिकता करना आवश्यक है। यह हमारे दर्शन के मूल में ही भूल है। जीवन की समस्याओं का सबसे बड़ा हेतु है अप्रामाणिकता। इस अप्रामाणिकता के कारण ही दुनिया के देशों में हिन्दुस्तान ने प्रतिष्ठा को खोया है।

कहां है साख?

अभी कुछ दिन पहले हमने समाचार-पत्रों में दुनिया के धनिकों के आंकड़े देखे थे। देखने पर आश्चर्य हुआ कि जो टाटा, बिरला, डालमिया इत्यादि हिन्दुस्तान के सबसे बड़े धनी माने जाते हैं, उनका दुनिया के



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

धनिकों में न जाने किस क्रम के बाद नाम आता है, उनके नाम का कोई अस्तित्व ही नहीं है। मुझे आश्चर्य होता है कि हिन्दुस्तान के व्यावसायिकों ने कहां धन कमाया, कहां है उनकी समृद्धि तथा कहां है धन अर्जन का दिमाग? आपसे ही पूछना चाहता हूं कि दुनिया के किस देश में किस क्षेत्र में हिन्दुस्तान की प्रामाणिकता की साख है!

आज एक ओर समाजवाद की बात चल रही है। समाजवाद का अर्थ है वितरण। प्रश्न होता है— किसका वितरण किया जाए? वितरण उसी का होता है जहां पर उत्पादन हो। यहां पर उत्पादन की बात तो गौण है और विसर्जन की प्रमुख। इस देश के श्रमिक लोग काम करने से जी चुराते हैं, राज-कर्मचारी आठ घंटों के कर्तव्य के स्थान पर मुश्किल से दो घंटे का कर्तव्य अदा करते हैं, यहां के देश की पूंजी का कैसे विकास होगा? यहां पर लोग अकर्मण्य जीवन जीकर क्या समाजवाद लाएंगे? मेरी समझ में तो नहीं आता है कि जिस देश में अकर्मण्यता, निठल्लापन और आस्थाहीनता बढ़ रही हो, वहां पर समाजवाद पनपेगा।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यहां के लोक-जीवन में शिथिलता-सी आई हुई है। ऐसे विचार भर गए हैं कि उनका कोई स्वतंत्र चिन्तन ही नहीं तथा ऐसी-ऐसी धारणाएं दिमाग में घुसी हुई हैं जिनको निकालना मुश्किल-सा हो गया है। हिन्दुस्तानियों ने यह मान लिया कि अप्रामाणिकता ही जीवन की सफलता का सूचक है। हमारे व्यापारियों की दुनिया के बाजारों में साख नहीं है। जहां साख नहीं होगी, वहां पर आप स्वयं सोचें कि उस देश में आयात ज्यादा होगा या निर्यात? इस देश की किस क्षेत्र में प्रामाणिकता है, कहना मुश्किल है। आज जो हिन्दुस्तान को हानि उठानी पड़ रही है उसका प्रमुख कारण अप्रामाणिकता ही है।

विचार-क्रांति का दर्शन

जब मैं इस संदर्भ में 'अणुव्रत' को देखता हूं तो मुझे लगता है कि अणुव्रत का विचार समूची मानव-जाति के लिए आवश्यक है। मैं पहले अणुव्रत को स्थान देता हूं, पीछे धर्म को। यदि जीवन में प्रामाणिकता, सचाई तथा सामंजस्य नहीं है तो मैं मानता हूं बड़े-बड़े धर्मशास्त्री भी वर्तमान के युग में नहीं टिक सकते। जहां सामाजिक जीवन में धोखा, आक्रोश पनपता है वहां सामंजस्य कहां? व्यक्ति पूजा करता है, उसमें वह भगवान् का नाम अत्यन्त श्रद्धा से लेता है, किन्तु उसके पीछे भी उसका स्वार्थ बोलता है। वह भगवान् का नाम इसलिए लेता है कि दूसरों के साथ धोखाधड़ी व अप्रामाणिकता निर्बाध चलती रहे। यह हमारे जीवन का अभिशाप बन गया है। आज के इस नए युग में एक नए सन्दर्भ की आवश्यकता है।

अणुव्रत एक विचार-क्रांति का दर्शन है। अणुव्रत कहता है कि कोई भी व्यक्ति धार्मिक बने या न बने, किन्तु उसका नैतिक बनना आवश्यक है। वास्तव में धार्मिक बनने का अधिकार उसी को प्राप्त होना चाहिए जो पहले नैतिक हो।

जरूरी है प्रामाणिकता का संस्कार

छलांग प्रकृति के राज्य में हो सकती है किन्तु मानवीय विकास स्तम्भ में नहीं, किन्तु आज ऐसा हो रहा है। जीवन-निर्माण की दृष्टि से अणुव्रत की भूमिका महत्वपूर्ण है। मनुष्य नैतिक अवश्य बने। अणुव्रत यह भी कहता है कि मनुष्य भगवान् की पूजा करे या न करे, क्रियाकांडों में विश्वास रखे या न रखे, पलती



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

हुई रूढ़ियों का बहिष्कार करे या न करे, अणुव्रती बनने के लिए आचार्यश्री तुलसी को गुरु माने या न माने, परन्तु मनुष्य अच्छा मनुष्य बने, नैतिक बने, प्रामाणिक बने। प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य होता है कि वह राष्ट्र के प्रति वफादार बने, प्रामाणिक बने।

हमने जिस देश में, जिस समाज में जन्म लिया है उसका हमारे पर बहुत बड़ा ऋण है। उस ऋण से हम तभी मुक्त हो सकेंगे, जब प्रामाणिक बनकर मानवीय विकास में, राष्ट्रीय विकास में एक कड़ी का काम करेंगे। कड़ी बनने से पहले नैतिक बनना आवश्यक होगा। राष्ट्र में रहने वाले साधु-संन्यासियों का प्रमुख कर्तव्य होता है कि वे समाज में रहने वाले को प्रामाणिकता के संस्कार दें, जिससे देश की समृद्धि बढ़ सके। आज देश में बड़े-बड़े बांध बन रहे हैं। बांध पूरा नहीं बनने के पूर्व ही वह टूटने लग जाता है। कारण स्पष्ट है कि काम प्रामाणिकता से नहीं होता।

वर्तमान का यथार्थ

एक बार एक मकान बन रहा था, उसमें हमने देखा कि जहां पर सीमेन्ट लगी हुई है वह अभी तक पूरी सूखी भी नहीं है, उससे पहले टूटनी शुरू हो गई है। निरीक्षण करने पर ज्ञात हुआ कि जहां पर लेप लगा हुआ है उसमें नब्बे प्रतिशत तो बालू रेत है और दस प्रतिशत सीमेन्ट। ऐसी घटनाएं बहुत होती हैं। आप समाज में रहते हैं इसीलिए आप यथार्थ को ज्यादा भोगते हैं तथा आपको जीवन में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। व्यक्ति बाजार से घी, मिर्च, दूध, तेल इत्यादि वस्तुएं खरीदता है, किन्तु उसको विश्वास नहीं है कि मैंने शुद्ध वस्तु खरीदी है।

हम दिल्ली में थे, एक साधु तीन सूट के गठिए गृहस्थी से लेकर आया। पीसने पर मालूम हुआ कि एक शुद्ध है और दो मिट्टी के हैं। यही स्थिति लौंग और काली मिर्च की हुई। यह तो क्या, आजकल जहर भी शुद्ध नहीं मिलता। इसी संदर्भ में एक सत्य घटना है—एक विद्यार्थी ने आत्महत्या करनी चाही। वह बाजार से खरीदकर एक जहर की पुड़िया लाया। उसने अपनी जीवन-लीला को समाप्त करना चाहा इसीलिए रात्रि में वह पुड़िया लेकर सो गया। जब वह प्रातः उठा तो उसे दुःख हुआ कि आज के युग में शुद्ध जहर भी प्राप्त नहीं होता। आज जो यह ठगने का चक्रव्यूह चल रहा है उसमें जो एक बार फंस गया, वह जीता हुआ भी बाहर नहीं निकल सकता।

विडम्बना उपासना की

आज इस स्थिति का यथार्थ सबको भुगतना पड़ रहा है। जब एक व्यापारी रेलवे स्टेशन पर टिकट लेने के लिए जाता है और रेलवे कर्मचारी रिजर्वेशन के लिए पांच रुपये अतिरिक्त मांगता है, तब उनके दिमाग में आता है कि कैसा जमाना आया है! वही व्यापारी जब अपनी दूकान पर बैठकर दूसरों को ठगता है तब यह भूल जाता है। जिस दिन उसका व्यापार ठीक ढंग से चलता है तब वह मन्दिर में जाकर भगवान् के पास अर्चना करता है—हे भगवान्! आज अच्छा व्यापार चला तो कल मैं आपको दो रुपए की मिठाई चढ़ाऊंगा। यह उपासना अप्रामाणिकता को बढ़ाने के लिए करता है। उपासना की यह कैसी विडम्बना है!



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अध्यात्म-प्रधान देश के नागरिकों का यह चिन्तन, यह भावना न जाने पतन के लिए किस कगार पर खड़ी है। अतीतकाल में बाजार, जो एक पवित्र, पुण्य स्थान माना जाता था, जहां पर समाज का कोई भी बूढ़ा-बच्चा ठगा नहीं जाता था, वहां पर आज चालाक व्यक्ति भी अपने आपको ठगा हुआ पाता है। क्या इस स्थिति से देश का कल्याण संभव है? जो स्थान समाज के हृदय की पुण्यभूमि बनी हुई थी, वही पुण्यभूमि आज लुटेरों का स्थान बना हुआ है। इन सारी स्थितियों में अणुव्रत एक विकल्प है। उसको प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार करे। समाज में एक आदर्श प्राणी बनने के लिए यह आवश्यक है।

हम उपासना परलोक की प्राप्ति के लिए करते हैं, न कि वर्तमान सुख के लिए। इस मनोवृत्ति में जब परिवर्तन आ जाएगा तब हिन्दुस्तान की पूंजी सुरक्षित रहेगी। हमारी नियोजित पूंजी का लाभांश नहीं मिल पाता। बहुत वर्ष पहले बीकानेर में जब अकाल पड़ा तब अकाल-पीड़ितों के लिए केन्द्रीय सरकार, राजस्थान सरकार तथा अन्यान्य क्षेत्रों से मदद मिली, किन्तु ज्ञात हुआ कि उस मदद का चौथाई भाग भी काम नहीं आया। शेष रुपया वहां बंट गया, जिनको आवश्यकता नहीं थी। जब तक हम समानता का, प्रेम और समता का पाठ नहीं पढ़ेंगे, तब तक समाजवाद का सपना सच होता नहीं दिखता।

एक सहारा है अणुव्रत

मानवता के निर्माण में अणुव्रत के संस्कार बहुत आवश्यक हैं तथा सामाजिक सभ्यता के लिए भी। हमारे सामने प्रश्न है रोटी और आस्था का। बिना रोटी के आस्था भी नहीं होती तथा बिना आस्था के रोटी भी नहीं मिलती अर्थात् किसी न किसी दशा में आस्था का होना अपेक्षित है। किसी के लिए किसी का आलम्बन होना जरूरी है।

आज सुबह मैं बाहर जा रहा था। मार्ग में तुरई की बेल को देखा। मैं लगातार देखता आ रहा हूँ कि तुरई की बेल बाड़ के ऊपर आ जाती है। किसान उस पर और बाड़ करता है, फिर भी वह ऊपर आ जाती है। यह क्रम पांच-छह बार चला। दोनों में प्रतिस्पर्धा चल रही है, आखिर विजय बेल की हुई। बेल को फैलने के लिए आलम्बन व सहारे की आवश्यकता है।

संस्कृत कवि ने कहा है—अनाश्रयाः न शोभन्ते, पंडिता वनिता लताः—पंडित, स्त्री और लता—ये आश्रय के बिना शोभित नहीं हो सकते। इसी प्रकार जीवनरूपी बेल को सहारा, आलम्बन की आवश्यकता है। आज के युग में 'अणुव्रत' सहारा है। हिन्दुस्तानवासी सफलता चाहते हैं, किन्तु उनके पास भित्ति नहीं है। मुख्य लक्ष्य होना चाहिए चरित्र का विकास। एक समय चरित्र साधन था, किन्तु आज उसे साध्य बनने की जरूरत है। अपेक्षा है अणुव्रत के महत्त्व को जीवन में आंके। मानव-जीवन की न्यूनतम मर्यादा के लिए यह आवश्यक है। भेदरेखा लक्ष्य को बांट देती है किन्तु अणुव्रत एक शाश्वत तत्त्व है जो भेदरेखाओं को परस्पर मिलाता है। आज अणुव्रत का मूल्य समाज की आचार-संहिता की दृष्टि से हुआ है, किन्तु जीवन-दर्शन की दृष्टि से पर्याप्त नहीं हुआ है।

अणुव्रत दर्शन विचार-क्रांति का दर्शन है। हम स्वयं का कल्याण करते हुए, दृढ़संकल्पी बनते हुए दूसरों के लिए रश्मि खींच सकें तो स्वयं का भला होगा और हर क्षेत्र में उन्नति होगी।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अहिंसा सार्वभौम और अणुव्रत

हिंसा और अहिंसा जीवन-कालचक्र के रात और दिन हैं। जीवन के लिए हिंसा अनिवार्य मानी जाती है। समाज-रचना के लिए अहिंसा अनिवार्य है। कोई भी व्यक्ति अकेला नहीं जी सकता। उसे समाज में ही जीना होता है। कोई भी जीवन केवल हिंसा से नहीं चलता और समाज की रचना हिंसा से हो ही नहीं सकती। हिंसक मनुष्य कभी अपना समाज नहीं बना सकता। समाज के मूल में अहिंसा की प्रेरणा रही है। एक साथ रहना, एक साथ जीना, अहिंसा की प्रेरणा के बिना संभव नहीं हो सकता।

अहिंसा का नया संदर्भ

आज अहिंसा का प्रश्न एक नये संदर्भ में उपस्थित हो रहा है। आज का नया संदर्भ है 'अणु-अस्त्र'। आज की आणविक अस्त्रों की विभीषिका ने अहिंसा को फिर से पुनर्जीवन प्रदान किया। धार्मिक दृष्टि से अहिंसा पर विचार प्राचीनकाल से चलता आ रहा है। एक समय था जब अहिंसा का मूल्य केवल धार्मिक था, किन्तु आज उसका सामाजिक मूल्य भी है और राष्ट्रीय एवं वैश्विक मूल्य भी है। जब संपूर्ण मानव-जाति की समाप्ति का चित्र प्रस्तुत होता है तब हर आदमी कांप उठता है। लगता है मानव-जाति का अस्तित्व ही समाप्त होने की स्थिति में है। इस स्थिति के संदर्भ में यह अत्यावश्यक हो गया है कि अहिंसा को नये संदर्भ में देखा जाए, समझा जाए और हिंसा की भयानकता को कम करने की दिशा में मनुष्य के चरण आगे बढ़ें।

अहिंसा के तीन आयाम हो जाते हैं—व्यक्ति की अहिंसा, समाज की अहिंसा और जागतिक अहिंसा। आज व्यक्ति की अहिंसा और समाज की अहिंसा का मूल्य कम हो गया है। जागतिक अहिंसा का नया मूल्य स्थापित होने जा रहा है। किन्तु कठिनाई यह है कि जगत् बहुत बड़ा है। जो जितना बड़ा होता है, उसका नियमन भी उतने ही बड़े शक्तिशाली शस्त्र से किया जा सकता है।

अहिंसा का प्रारम्भ बिन्दु

धर्म के क्षेत्र में अहिंसा की जो अवधारणा रही, वह वैयक्तिक अधिक थी। आज का आदमी सोचता है जागतिक भाषा में और यह एक विचार-भेद भी है। किन्तु प्रश्न वहीं का वहीं स्थिर हो गया। क्या व्यक्ति व्यक्ति में अहिंसा के विकास के बिना सार्वभौम या जागतिक अहिंसा का विकास संभव है?

प्रश्न होता है कि अहिंसा का प्रारम्भ कहां से होगा? किसी वलय का आदि-बिन्दु नहीं खोजा जा सकता। वह कहीं से प्रारम्भ नहीं हो सकता। वलय चक्राकार है, वर्तुल है। उसका आदि-बिन्दु नहीं मिलता। किन्तु अहिंसा वलय नहीं है। वह एक सीधी रेखा है। रेखा का प्रारम्भ-बिन्दु होता है। हर रेखा बिन्दुओं से निर्मित होती है। अहिंसा एक सीधी रेखा है। उसका आरम्भ बिन्दु हमें खोजना है। अहिंसा का आरम्भ बिन्दु है व्यक्ति। अहिंसा का आरम्भ व्यक्ति से होता है। व्यक्ति-व्यक्ति से, बिन्दु-बिन्दु से एक रेखा बनेगी और वह रेखा बढ़ते-बढ़ते महारेखा बन जाएगी। महारेखा सार्वभौम और जागतिक होगी। किन्तु क्या बिन्दु के बिना रेखा-निर्माण किया जाना संभव होगा? कभी संभव नहीं है। अणुव्रत आंदोलन का यह चिन्तन रहा है और इसी आधार पर अणुव्रत-अनुशास्ता ने एक सूत्र दिया—सुधरे व्यक्ति, समाज व्यक्ति से, राष्ट्र स्वयं सुधरेगा। व्यक्ति सुधरेगा तो समाज सुधरेगा, समाज सुधरेगा तो राष्ट्र सुधरेगा, राष्ट्र सुधरेगा तो जगत् सुधरेगा। हमें पहले बिन्दु को पकड़ना होगा। पहले बिन्दु को पकड़े बिना यदि अहिंसा सार्वभौम की बड़ी कल्पना को लेकर चलेंगे तो बहुत सार्थक बात नहीं होगी।

उर्वरा भूमि है व्यक्ति

व्यक्ति की अपनी समस्या है। उसमें आसक्ति है, आवेश और आग्रह है, भय और प्रतिक्रिया है, असहिष्णुता और असंतुलन है। हिंसा के जितने बीज हैं, वे सारे प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान हैं। हिंसा के पनपने के लिए प्रत्येक व्यक्ति उर्वरा भूमि है। कोई भी व्यक्ति बंजर भूमि नहीं है। उस भूमि में हिंसा के हर बीज को बोया जा सकता है, पल्लवित और पुष्पित किया जा सकता है। यदि हिंसा के लिए व्यक्ति बंजर भूमि होता तो हिंसा का खतरा कभी नहीं बढ़ता। आज हिंसा का खतरा इसीलिए बढ़ा है कि व्यक्ति की भूमि बहुत उर्वरा है। उसे उर्वरक देने की भी जरूरत नहीं होती। बिना उर्वरक के ही वहां बीज पल्लवित हो जाता है। बीज बोने के लिए समय ही नहीं लगता। यह यथार्थ स्थिति है। हिंसा के विकसित होने के सारे कारण विद्यमान हैं। ऐसी अवस्था में हम अहिंसा सार्वभौम की कल्पना कैसे करें? एक विरोधाभास और विसंगति-सी लगती है। किन्तु आदमी अपने प्रयत्न से हर असंभव बात को संभव बना सकता है, असफल को सफल बना सकता है।

कहां है अहिंसा में शक्ति?

एक व्यक्ति ने एक कन्या से पूछा—तुम किसकी लड़की हो? कन्या विदुषी थी। उसने कहा—मैं उसकी लड़की हूं, जिसने भयंकर नागों को विषहीन बना डाला, जिसने मदनोन्मत्त हाथियों को शान्त कर डाला और जिसने बड़े-बड़े शूरवीर योद्धाओं को वीर्यहीन कर डाला।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

कैसे संभव है कि सांप निर्विष हो जाए? कैसे संभव है कि हाथी शान्त और विनीत बन जाए? कैसे संभव है कि आक्रामक योद्धा शान्त और शक्तिहीन हो जाए? असंभव लगता है। किन्तु कन्या ने कहा—मैं उसकी पुत्री हूँ जिसने ये तीनों असंभव काम किए हैं। तात्पर्य समझने में कठिनाई नहीं हुई कि वह चित्रकार की पुत्री थी। चित्रकार ने विषधर का चित्र बनाया। कैसे होता उसमें विष? उसने मदोन्मत्त हाथी का चित्र बनाया, पर उसमें से मद कैसे झरता? उसने योद्धा का चित्र बनाया। वह शक्ति से पूर्ण तथा आक्रामक स्थिति में अवस्थित है, पर है शान्त।

केवल चित्र का ही ऐसा निर्माण नहीं होता, ऐसे व्यक्तित्व का भी निर्माण संभव है, असंभव नहीं। किन्तु वह हो नहीं रहा है। कारण क्या रहा? अहिंसा की चर्चा बहुत होती है, केवल चर्चाएं होती हैं। आज अहिंसा में शक्ति कहां है? आज युद्ध में जाने के लिए कहां हैं वे अहिंसक सैनिक? कहीं नहीं हैं। अहिंसा शक्तिहीन हो गई। चित्र में चित्रित-सी हो गई। अहिंसा देवी का सुन्दर चित्र आज उपलब्ध है। चित्र को देखने से लगता है कि अहिंसा देवी के अंग-प्रत्यंग से शक्ति का क्षरण हो रहा है, पर वह है चित्रगत। यह जीवित अहिंसा की बात नहीं हो सकती। आज जहां भी अहिंसा की चर्चाएं हो रही हैं, लगता है वे सारी चित्रकार की अहिंसा की चर्चाएं हैं, चित्रकला की निपुणता की चर्चाएं हैं, परमार्थ की चर्चाएं नहीं हैं।

आज की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि आज न तो अहिंसक बनने के बारे में प्रशिक्षण दिया जा रहा है और न अहिंसा के विषय में कोई प्रयोग चल रहा है, न कोई शोध हो रही है। कुछ भी नहीं हो रहा है। केवल अहिंसा की चर्चा और अहिंसा का उपदेश। मुझे नहीं पता कि अहिंसा का निरन्तर उपदेश देने वाले व्यक्तियों में अहिंसा के प्रति कितनी आस्था है। उनका उपदेश सुनी-सुनाई बातों पर ही तो आधृत नहीं है? अहिंसा की रट लगाने वालों में अहिंसा के प्रति कितनी श्रद्धा है, यह एक प्रश्नचिह्न है। आस्थाशून्य स्वर क्या अहिंसा को प्रतिष्ठित कर पाएंगे?

हिंसा के प्रति आस्था का कारण

आज हिंसा शक्तिशाली बन रही है, क्योंकि हिंसक में हिंसा के प्रति गहरी निष्ठा है, आस्था है। वह मानता है कि अहिंसा से कभी काम सफल नहीं हो सकता। हिंसा का यह चमत्कार है कि वह दो मिनट में कार्य संपादित करा सकती है। हिंसक के मन में यह संदेह नहीं होता कि कार्य होगा या नहीं! वह निश्चित जानता है कि हिंसा का प्रयोग होते ही कार्य हो जाएगा। मां बच्चे को समझाती है। वह नहीं मानता, तब मां उसे मारती है, पीटती है। बच्चा शान्त हो जाता है। मां का हिंसा में विश्वास है, वह और पक्का हो गया। मां का तर्क है, जब तक मारा-पीटा नहीं तब तक बच्चा रोता रहा। मार पड़ते ही शान्त हो गया। आदमी जीवन के हर क्षेत्र में अनुभव कर रहा है कि जो काम समझाने-बुझाने से नहीं होता, वह काम हिंसा के सहारे तत्काल हो जाता है। हिंसा के प्रति लोगों की गहरी आस्था जम गई। उनमें ईंट के प्रति पत्थर का प्रयोग करने की गहरी आस्था है। दो गाली देने के बदले पचास गाली देने में उनकी निष्ठा है।

दूसरी बात है कि हिंसा का प्रयोग करते ही कार्य संपन्न हो गया, यह बात हिंसा के लिए अवकाश उपस्थित करती है। हिंसक को न उपदेश देने की जरूरत होती है और न प्रचार करने की। उसे हिंसा का संस्थान भी नहीं बनाना पड़ता। फिर भी उसकी हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है, उसकी हिंसा सफल होती



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

है। आज पुलिस के जवानों और सैनिकों को व्यवस्थित प्रशिक्षण दिया जाता है कि प्रहार कैसे किया जाए? अपराधी को कैसे पकड़ा जाए? उसे यातनाएं कैसे दी जाएं? जुलूस को कैसे तितर-बितर किया जाए? इनका पूरा-पूरा प्रशिक्षण दिया जाता है। यह सारा हिंसा का ही प्रशिक्षण है।

हिंसा के साधनों को विकसित करने के लिए अपार धनराशि का व्यय हो रहा है। अरबों-खरबों रुपए के शस्त्रास्त्र बनाए जा रहे हैं। कितने बड़े-बड़े कारखाने चल रहे हैं हिंसा की सामग्री को तैयार करने के लिए। हिंसा का प्रयोग चल रहा है। हिंसा की शोध हो रही है। नये-नये मार्ग, नये-नये साधन खोजे जा रहे हैं। हिंसा की पूरी तैयारी है। इसकी तुलना में बेचारी अहिंसा को कहां खड़ी करें?

क्या निरर्थक है अहिंसा का स्वर?

एक ओर है हिंसा की शक्ति, दूसरी ओर है अहिंसा की शक्ति। अहिंसा की शक्ति के प्रति न आस्था है और न उसके प्रशिक्षण का व्यवस्थित क्रम है। न प्रयोग है, न अनुसंधान है और न पूरी सामग्री है। केवल अहिंसा के प्रतिष्ठान स्थापित हैं। इससे ज्यादा कुछ भी नहीं है। कभी-कभार अहिंसा के विषय में सेमिनार हो जाते हैं, कुछ गोष्ठियां और चर्चाएं हो जाती हैं, बात समाप्त। अहिंसा की इतनी कमजोर शक्ति और हिंसा की इतनी प्रचंड शक्ति। दोनों की तुलना करता हूं तो 'अहिंसा सार्वभौम' एक मजाक और मखौल-सा लगने लग जाता है।

इस संदर्भ में अहिंसा का जो स्वर उठ रहा है, उसे निरर्थक माना जाए? अस्वाभाविक माना जाए? नहीं, उसे अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता। आज अहिंसा को कोई जिलाए हुए है तो वह है हिंसा की विभीषिका। हिंसा की इतनी विभीषिका नहीं होती तो अहिंसा की चर्चा बन्द हो जाती। किन्तु हिंसा ने मनुष्य के सामने मृत्यु का तांडव नृत्य प्रस्तुत कर डाला है। इसलिए आदमी विकल्प खोज रहा है कि इस मृत्यु के मुख से कैसे बचा जाए। मुंडेर पर खड़ी मृत्यु से कैसे बचा जाए? जब विकल्प खोजने की बात सामने आती है तब अहिंसा के सिवाय दूसरा कोई विकल्प प्रस्तुत नहीं होता।

एक समय था अहिंसा के कंधे पर चढ़कर हिंसा जी रही थी और आज हिंसा के कंधे पर चढ़कर अहिंसा जीने का प्रयास कर रही है। सहारा हिंसा दे रही है। इस स्थिति में, अन्य विकल्प के अभाव में समूचे संसार में अहिंसा का स्वर मुखरित हो रहा है। हम भी अहिंसा के स्वर को धार्मिक और आध्यात्मिक संदर्भ में नहीं खोज रहे हैं किन्तु जागतिक हिंसा के संदर्भ में खोज रहे हैं। आज का जागतिक संदर्भ हिंसा का है। उसके लिए अहिंसा की चर्चा करें और वह भी व्यक्ति के बिन्दु को सामने रखकर, अणुव्रत के मंच से।

अहिंसा : वैज्ञानिक दृष्टि

हिंसा का सारा विकास व्यक्ति की आकांक्षा के कारण हुआ है। उसको कैसे मिटाया जाए? व्यक्ति को कैसे बदलें? व्यक्ति की आक्रामक मनोवृत्ति में कैसे परिवर्तन ला सकें? केवल उपदेशों के द्वारा यह बात संभव नहीं हो सकती। उपदेश भी होगा, चिंतन भी होगा, अहिंसा से व्यक्ति प्रभावित भी होगा, किन्तु वह प्रभाव अस्थायी न बने, क्षणिक न बने। उसका स्थायित्व हो। उस स्थायित्व के लिए क्या किया जाए, इस पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करना होगा।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

व्यक्ति का मस्तिष्क रसायनों का भंडार है। हमारी ग्रन्थियां और मस्तिष्क बहुत रसायन पैदा कर रहे हैं। मस्तिष्क को सुपर केमिकल कहा जाता है। रसायनों को पैदा करने वाला मस्तिष्क एक बड़ा कारखाना है। मस्तिष्क में 'टेरोपिन' और 'थेरोपिन' नामक रसायन उत्पन्न होते हैं। ये दोनों संतुलन बनाए रखते हैं कि व्यक्ति आक्रान्ता न बने। किन्तु जब इनका संतुलन बिगड़ जाता है तब व्यक्ति की आक्रामक वृत्तियां जाग जाती हैं। आज बड़े-बड़े राष्ट्राध्यक्षों और सैनिक मनोवृत्ति वाले राजनेताओं का संतुलन बिगड़ा हुआ है। उनकी आक्रामक वृत्ति प्रबल हो रही है। यह संतुलन बिगड़ता है 'हाइपोथेरेप' का संतुलन बिगड़ने के बाद। जब व्यक्ति में आसक्ति और आवेग का प्रबल वेग होता है तब संतुलन अस्त-व्यस्त हो जाता है। वह लड़खड़ा जाता है। ऐसे व्यक्तियों में यदि रासायनिक संतुलन स्थापित किया जा सके तो बहुत बड़ी बात होती है।

चुनना होगा व्यक्ति को

मैं देखता हूँ कि अनेक दिशाओं से प्रयत्न होना जरूरी है—धार्मिक और आध्यात्मिक मंच से, मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक मंच से, प्रायोगिक और राजनीतिक मंच से—इन सभी मंचों से मिला-जुला एक ऐसा प्रयत्न हो, जो हिंसा की भयानकता का निदान खोज सके, उसका कोई विकल्प खोज सके। ऐसा करने से सारी मनुष्य जाति का भला हो सकेगा। किन्तु चुनना होगा व्यक्ति को। व्यक्ति से प्रारम्भ करना होगा। एक व्यक्ति से क्या होगा? एक व्यक्ति से अनेक व्यक्ति होंगे। जब अनेक व्यक्ति शक्तिशाली बनते हैं तो सारे संसार को प्रभावित कर देते हैं। सबसे पहली बात है कि व्यक्ति-व्यक्ति में गहरी आस्था जगा दें। गांधी कोई जगत् नहीं था, मार्टिन लूथर कोई जगत् नहीं था। व्यक्ति जगत् नहीं होता, पर वह इतना शक्तिशाली होता है कि समूचे जगत् को प्रभावित कर देता है। महावीर और बुद्ध जगत् नहीं थे। किन्तु जिस व्यक्ति में जितनी गहरी आस्था होगी, उस व्यक्ति में उतनी ऊंचाई आ जाएगी, वह ऊंचाई सबके लिए दृश्य बन जाएगी।

प्रश्न है आस्था का

आज सबसे बड़ी कमी है आस्था की। मनुष्य ने आस्था खो दी। आदमी की सत्य के प्रति आस्था नहीं है, अहिंसा के प्रति आस्था नहीं है। मनुष्य के प्रति भी उसकी आस्था नहीं है, विश्वास नहीं है।

मिश्रा और वर्मा दोनों मित्र थे। एक बार वर्मा अपने मित्र मिश्रा के घर गया। घर का द्वार बंद था। नीचे से पुकारा। मिश्रा ने अपने नौकर से कहा—कह दो मिश्राजी अंदर नहीं हैं। नौकर ने ऊपर से कहा—'भाई साहब! मिश्राजी भीतर नहीं हैं। बाजार गए हैं।' वर्मा अपने घर लौट गया।

कुछ दिनों बाद कार्यवश मिश्रा वर्मा के घर गया। नीचे का द्वार बंद था। खटखटाया। ऊपर से वर्मा ने कहा—'वर्माजी अभी बाहर गए हुए हैं। घर में नहीं हैं।'

मिश्रा बोले—'अरे, तुम सामने खड़े हो और अपनी उपस्थिति को स्वयं नकार रहे हो? तुम तो बड़े विचित्र मित्र निकले!'

वर्माजी ने कहा—'वाह! मैंने तो तुम्हारे नौकर पर भी भरोसा कर लिया था और तुम मुझ पर भरोसा नहीं कर रहे हो! तुम बड़े विचित्र मित्र हो।'



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

आज आदमी किसी पर भरोसा नहीं करता। भरोसा स्वयं पर भी नहीं है और साथ रहने वालों पर भी नहीं। पति का भरोसा पत्नी पर नहीं है और पत्नी का भरोसा पति पर नहीं है। किसी का किसी पर भरोसा नहीं है। 'आस्था' नाम के तत्व का आज जितना हास हुआ है, अतीत में हुआ या नहीं, इसका अनुसंधान करना होगा। जब आस्था टूटती है तब आदमी के पैर लड़खड़ा जाते हैं। आज अहिंसा के प्रति आदमी के मन में कोई आस्था नहीं रही। यह कहने में कोई कठिनाई नहीं है।

अहिंसा के प्रति आस्था जागे

अहिंसा का अर्थ है—राग द्वेष-मुक्त जीवन जीना, स्वतंत्रता का जीवन जीना, निष्पक्षता का जीवन जीना। किन्तु आज प्रत्येक व्यक्ति आवेश का जीवन जी रहा है, राग-द्वेष का जीवन जी रहा है और पक्षपात का जीवन जी रहा है। राग-द्वेष मुक्त जीवन जीने के प्रति उसकी कोई आस्था नहीं है। इस विषम स्थिति में पहला काम यह होता है कि आदमी में अहिंसा के प्रति आस्था निर्मित की जाए। पांच-दस व्यक्ति भी यदि गहरे आस्थावान् बनाए जा सकें तो जागतिक काम हो सकेगा। पूरे जगत् पर कभी पानी नहीं छिड़का जा सकता, किन्तु पानी के अपने-अपने स्रोत हैं। अगर एक स्रोत कहीं शक्तिशाली होता है तो उसकी पहुंच सारे संसार तक हो सकती है। यदि अहिंसा का प्रयोग कहीं सफल होता है तो आदमी की उसके प्रति आस्था अवश्य जागती है। कठिनाई है प्रयोग और प्रशिक्षण की।

आज भी यह एक प्रश्न बना हुआ है कि अहिंसा में विश्वास करने वाले जितने संस्थान हैं, क्या उनमें कहीं वैज्ञानिक प्रणाली से अहिंसा का शोध हो रहा है? प्रयोग हो रहा है? क्या कहीं हृदय-परिवर्तन का प्रयोग किया जा रहा है? यह तो सुनने को मिलेगा कि साम्यवादी देशों में ब्रेन-वाशिंग का प्रयोग चल रहा है, प्रशिक्षण चल रहा है? किन्तु कहीं भी अहिंसा का प्रशिक्षण दिया जा रहा हो ऐसा सुनने में नहीं आता। एक ओर तो शक्तिशाली अस्त्रों का प्रयोग, दूसरी ओर केवल भाषण। दोनों में सामंजस्य कहां है? आज प्रत्येक अहिंसावादी के सामने यह चिन्तन का प्रश्न है। जब तक इस पर गंभीरता से चिन्तन नहीं किया जाएगा, अहिंसा की दुहाई देने वाला व्यक्ति स्वयं हास्यास्पद बनता चला जाएगा।

जरूरी है परिष्कार की प्रक्रिया

अणुव्रत आन्दोलन को चलते कितने वर्ष बीत गए। अहिंसा उसका पहला अणुव्रत है। 'संकल्पपूर्वक किसी जीव की हिंसा नहीं करूंगा'—यह उसका पहला संकल्प है। क्या इतना-सा संकल्प स्वीकारने से अणुव्रत आन्दोलन चरितार्थ हो जाएगा? उसकी उपयोगिता प्रमाणित हो जाएगी? यह एक प्रश्नचिह्न है। इसी प्रश्न को समाहित करने के लिए चिन्तन चला और चलता रहा है। अहिंसा के संकल्प को स्वीकारने से अहिंसा चरितार्थ नहीं होती। उस संकल्प में बाधा डालने वाले जितने तत्व व्यक्ति में हैं, उनकी सफाई की जाए, उनके परिष्कार की कोई प्रक्रिया प्रस्तुत की जाए। जब बदलाव की प्रक्रिया होगी, अभ्यास और प्रशिक्षण होगा तब व्यक्ति बदलेगा और एक नहीं, अनेक व्यक्ति बदलेंगे। जो भी इस प्रक्रिया से गुजरेगा, वह बदलेगा। बिना अभ्यास के व्यक्ति नहीं बदलता। हर व्यक्ति को अभ्यास करना होता है। अभ्यास जैसे-जैसे पकता है, व्यक्ति में बदलाव आता है और तब अभीप्सित कार्य संपन्न होता है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

पढ़ें अहिंसा की लिपि को

छोटा बच्चा जब पढ़ने जाता है तब सबसे पहले वह वर्णमाला का अभ्यास करता है। कोई भी अणुव्रती बनने वाला अहिंसा की लिपि को नहीं सीखता तो वह अणुव्रतों की भावना को कैसे जीवन में उतार सकता है? अणुव्रती ही नहीं, महाव्रती बनने वाला भी अहिंसा की वर्णमाला का अभ्यास नहीं करता।

मैंने आज केवल एक प्रश्न को उभारा है। यह इसलिए उभारा है कि ब्रेललिपि का प्रचलन चल रहा है। यह लिपि अंधे व्यक्तियों के लिए है। यह उभरी हुई लिपि है, अंधे पढ़ नहीं सकते, पर अंगुलियों के स्पर्श से उभरी हुई लिपि के आधार पर पढ़-लिख सकते हैं।

अहिंसा की लिपि को पढ़ने के लिए व्यक्ति को जितना चक्षुष्मान् होना चाहिए, उतना वह चक्षुष्मान् नहीं है। उस लिपि को पढ़ने के लिए आंख में जितनी ज्योति और शक्ति अपेक्षित है, वह नहीं है। इसलिए उस लिपि को एक बार उभार देना अपेक्षित लगता है। इसलिए मैंने यह प्रश्न उभारा है। इस विषय पर बहुत लम्बी चर्चाएं जरूरी हैं। चर्चा ही नहीं, मैं कल्पना करता हूं कि अणुव्रत के मंच से अहिंसा सार्वभौम का कार्यक्रम प्रारम्भ हो। उसका तीन सूत्री कार्यक्रम होगा—

1. अहिंसा के विषय में अनुसंधान
2. अहिंसा के प्रयोग
3. अहिंसा का प्रशिक्षण।

इसके क्रियान्वयन से यह आशा की जा सकती है कि आज अहिंसा को हिंसा से जो चुनौती मिल रही है तो एक समय ऐसा आ सकता है कि अहिंसा हिंसा के सामने चुनौती बनकर उपस्थित हो। इससे मानवजाति की जो विकट समस्या है, उस समस्या के समाधान का एक छोटा-सा बिन्दु, एक छोटी-सी प्रकाश-किरण मानव के भाग्याकाश में चमक सकती है और तब पूरी मानवजाति को सुख की सांस लेने का अवसर मिल सकता है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

राजनीति का धर्म और अणुव्रत

आचार्य भिक्षु ने दो सौ पचास वर्ष पूर्व कहा था—धर्म, समाज और राज्य की नीति का मिश्रण नहीं होना चाहिए। उस समय किसने सोचा था—धर्म और राजनीति को अलग करने के लिए संसद में सरकार द्वारा विधेयक लाया जाएगा। सरकार को धर्म के मामले में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, यह निर्विवाद सत्य है। धर्म को राज्य के मामले में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, इस सचाई को भी हमें स्वीकार करना चाहिए। जब से धर्म गौण हुआ है और सम्प्रदाय मुख्य बना है, उसी क्षण से धर्म राज्य के लिए एक समस्या बन गया। यदि धर्म प्रधान होता और सम्प्रदाय गौण होता तो धर्म और राजनीति को अलग करने वाला विधेयक संसद की दहलीज पर खड़ा नहीं होता।

क्या धर्म जरूरी नहीं है?

आज से साठ वर्ष पूर्व आचार्यश्री तुलसी ने एक गीत रचा था, उसकी एक पंक्ति है—

राजनीति से पृथक् सदा है, द्वेष राग से धर्म जुदा है।

एक जिज्ञासा का स्वर उभरा—क्या राजनीति के लिए धर्म जरूरी नहीं है? इस प्रश्न का विभाज्यवादी शैली से उत्तर दिया गया—राजनीति के लिए धर्म जरूरी भी है और नहीं भी है। यदि धर्म है तो वह राजनीति में आने वाली रागात्मक और द्वेषात्मक विकृतियों को दूर करने के लिए बहुत जरूरी है। यदि सम्प्रदाय है तो वह राजनीति के लिए जरूरी नहीं है। साम्प्रदायिक दृष्टिकोण ने कितने युद्ध लड़ाए और कितना नरसंहार किया, इसका साक्षी है दो-ढाई हजार वर्ष का इतिहास।

धर्म के दो रूप

बुद्धिवाद की ओर से धर्म पर आने वाला एक आरोप है—धर्म ने मनुष्य जाति को विभक्त किया है,

समरांगण में उतारा है और भूमि को रक्त-रंजित किया है। इस आरोप के यथार्थ को झुठलाया नहीं जा सकता तो इसे पूर्ण सत्य भी नहीं कहा जा सकता।

धर्म के दो रूप हैं—1. आध्यात्मिक अथवा चरित्र धर्म। 2. संस्थागत धर्म।

आध्यात्मिक धर्म उक्त आरोप से सर्वथा मुक्त है। उसने विश्वमैत्री का शंखनाद किया और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के घोष को विश्व-व्यापी बनाया। संस्थागत अथवा संगठनात्मक धर्म ने संघर्ष और युद्ध को समय-समय पर निमंत्रित किया। वह धर्म राज्यसत्ता पर अपना अधिकार जमाता रहा। उसने राज्यसत्ता को आत्मसात् कर लिया फलतः न धर्म विशुद्ध रहा और न राजनीति विशुद्ध रही। धर्म पर विचार करते समय उसके इन दोनों रूपों को सामने रखना अपेक्षित है। इसके बिना हम न धर्म के साथ न्याय कर सकते हैं और न राजनीति के साथ।

संबंध धर्म और राजनीति का

राष्ट्र संचालन के लिए राजनीति का बहुत मूल्य है, तो पवित्र राष्ट्रीय वातावरण के लिए धर्म बहुत मूल्यवान् है। संस्थागत धर्म ने इन दोनों मूल्यों की उपेक्षा की है। राज्य की सत्ता एक धर्मगुरु के हाथ में होती है तो अहिंसा के आसन पर हिंसा और सत्य के सिंहासन पर झूठ आसीन हुए बिना नहीं रहता। आध्यात्मिक सन्त राजनीति या राज्य के लिए पथ-दर्शक हो सकता है किन्तु उसे राज्य की व्यवस्था का कर्णधार नहीं होना चाहिए।

गांधी ने कहा—'जो मनुष्य यह कहता है—धर्म का राजनीति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, वह धर्म को नहीं जानता, ऐसा कहने में मुझे संकोच नहीं होता और न ऐसा कहने में मैं अविनय करता हूँ।' गांधी के इस सिद्धांत पर सापेक्ष-दृष्टि से विचार करना आवश्यक है। धर्म का राजनीति के साथ सम्बन्ध है, किन्तु दोनों एक नहीं हैं। राजनीति राष्ट्र की व्यवस्था करने के लिए है। धर्म का नैतिक पक्ष व्यवस्था के विशुद्धीकरण के लिए है। राजनीति को धर्म के नैतिक अथवा चरित्र पक्ष से प्रभावित होना चाहिए। यह राजनीति और धर्म के सम्बन्ध का अतर्कणीय पहलू है। राजनीति को धर्म के उपासना पक्ष अथवा साम्प्रदायिक पक्ष से अलग रहना चाहिए, वह किसी सम्प्रदाय से संचालित नहीं होनी चाहिए। यह राजनीति और धर्म के सम्बन्ध को नकारने वाला पहलू है।

धर्म का राजनीति के साथ सम्बन्ध है भी और नहीं भी, यह अनेकान्त दृष्टिकोण ही राजनीति और धर्म के सम्बन्ध की समस्या का समाधान हो सकता है।

राजनीति और धर्म को दो दिशा में ले जाने वाले भी न्याय नहीं कर रहे हैं, तो धर्म और राजनीति को एक सिंहासन पर बिठाने वाले भी न्याय नहीं कर रहे हैं। न्याय का कर्णधार वही बन सकता है, जो दोनों के सम्बन्ध और विसम्बन्ध की सीमा को जानता है।

क्या हो सकता है राजनीति का धर्म?

राजनीति के लिए कोई धर्म निर्धारित नहीं है इसलिए 'यह राजनीति का धर्म है', ऐसा अंगुलि-निर्देश नहीं किया जा सकता। महात्मा गांधी ने कहा—'अहिंसा और सत्य राजनीति का आधार होना चाहिए।'



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

उन्होंने लिखा—‘हमें सत्य और अहिंसा को केवल व्यक्तिगत आचरण का विषय नहीं बल्कि समूहों, समाजों और राष्ट्रों के व्यवहार की चीज भी बनाना होगा। कम से कम मेरा स्वप्न तो यही है।.....अहिंसा आत्मा का गुण है और जीवन की हरेक चीज में सभी को उसका पालन करना चाहिए।’

उन्होंने राजनीति के क्षेत्र में असहयोग, सविनय अवज्ञा आदि अनेक प्रयोग भी दिए किन्तु वर्तमान की अपेक्षा है—राजनीति के धर्म की एक आचार-संहिता निर्मित की जाए। इस अपेक्षा की पूर्ति अणुव्रत की आचार-संहिता से की जा सकती है। अणुव्रत धर्म है किन्तु किसी सम्प्रदाय से जुड़ा हुआ नहीं है। वह असाम्प्रदायिक धर्म है, इसलिए उसकी आचार-संहिता राजनीति के धर्म के रूप में स्वीकृत हो सकती है। एक कोण से देखें तो यह नैतिकता की आचार-संहिता है, दूसरे कोण से देखें तो राजनीति के धर्म की आचार-संहिता है।

अणुव्रत आचार-संहिता

1. मैं किसी भी निरपराध प्राणी का संकल्पपूर्वक वध नहीं करूंगा।
2. मैं आक्रमण नहीं करूंगा।
आक्रामक नीति का समर्थन नहीं करूंगा।
विश्व-शांति तथा निःशस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न करूंगा।
3. मैं हिंसात्मक एवं तोड़फोड़-मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा।
4. मैं मानवीय एकता में विश्वास करूंगा।
जाति, रंग आदि के आधार पर किसी को ऊंच-नीच नहीं मानूंगा।
अस्पृश्य नहीं मानूंगा।
5. मैं धार्मिक सहिष्णुता रखूंगा।
साम्प्रदायिक उत्तेजना नहीं फैलाऊंगा।
6. मैं व्यवसाय और व्यवहार में प्रामाणिक रहूंगा।
अपने लाभ के लिए दूसरे को हानि नहीं पहुंचाऊंगा।
छलनापूर्ण व्यवहार नहीं करूंगा।
मैं इन्द्रिय-संयम की साधना करूंगा।
7. मैं संग्रह अथवा व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा का निर्धारण करूंगा।
8. मैं चुनाव के सम्बन्ध में अनैतिक आचरण नहीं करूंगा।
मैं प्रलोभन और भय से मत प्राप्त नहीं करूंगा।
मैं प्रतिपक्षी प्रत्याशी का चरित्र-हनन नहीं करूंगा।
मैं मतदान और मतगणना के समय अवैध तरीकों को काम में नहीं लूंगा।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

9. मैं सामाजिक कुरूढ़ियों को प्रश्रय नहीं दूंगा।

10. मैं व्यसन-मुक्त जीवन जीऊंगा।

मादक तथा नशीले पदार्थों—शराब, गांजा, चरस, हेरोइन, भांग, तम्बाकू आदि का सेवन नहीं करूंगा।

11. मैं पर्यावरण की समस्या के प्रति जागरूक रहूंगा।

हरे-भरे वृक्ष नहीं काटूंगा।

पानी का अपव्यय नहीं करूंगा।

किसी सम्प्रदाय की अवधारणा से राष्ट्र को शासित करना जितना खतरनाक है, उतना ही खतरनाक है धर्मविहीन राजनीति से राष्ट्र को संचालित करना। इसलिए राजनीति के धर्म पर अवश्य चिन्तन होना चाहिए।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

धर्म-निरपेक्ष राज्य का धर्म और अणुव्रत

‘सहज सरल जीवन की पोथी, बड़ा जटिल अनुवाद हो गया’—कविता की ये पंक्तियां धर्म-निरपेक्ष राज्य के संदर्भ में यथार्थ को छूती हुई प्रतीत होती हैं। अंग्रेजी का एक शब्द है—सेक्युलर स्टेट (Secular State)। इस का अनुवाद हो गया—धर्म-निरपेक्ष राज्य अर्थात् धर्मविहीन राज्य। यह अनुवाद भ्रामक बन रहा है। कई बार सुझाया गया—इस शब्द का अनुवाद होना चाहिए, संप्रदाय या पंथ निरपेक्ष राज्य।

धर्म-निरपेक्ष राज्य की कल्पना

हम इस बात पर ध्यान दें—धर्म-निरपेक्ष राज्य की कल्पना क्या है? अणुव्रत का धर्म-निरपेक्ष राज्य के साथ गहरा आत्म-संबंध है। धर्म-निरपेक्ष राज्य के मूल सिद्धांत दो हैं, पहला है—धर्म आंतरिक विश्वास की वस्तु है। यह बाह्य-शक्ति या दण्ड-शक्ति का विषय नहीं है। यह प्रत्येक व्यक्ति की आंतरिक चेतना का विश्वास है। दूसरा है—धर्म और राजनीति की पृथक्ता में विश्वास।

ये दो सिद्धांत क्यों विकसित हुए, इसकी भी हम मीमांसा करें। इतिहास का संदर्भ लें। एक समय था, जब राज-धर्म चलता था। जो राजा का धर्म होता, वह सभी को पालना होता था। जहां राज्य-धर्म की स्वीकृति है, वहां धार्मिक स्वतंत्रता पर कुठाराघात अवश्यभावी है। उस समय कोई भी व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता से धर्म का पालन नहीं कर सकता था। इतिहास का एक पृष्ठ है—राजा ने यह घोषणा करवा दी—मेरे राज्य में दूसरे धर्म का कोई व्यक्ति नहीं रह सकता। यह जो बलात् धर्म-परिवर्तन की बात थी या राज्य के साथ धर्म को जोड़ने की प्रवृत्ति थी, उसमें राजनीति और धर्म—दो नहीं रह गए थे। धर्म व्यक्ति की स्वतंत्रता का विषय नहीं रहा, वह राज्य के अधीन हो गया। लम्बे समय तक यह स्थिति चली। धर्म के नाम पर न जाने कितने कितने अनर्थ हुए, हजारों लाखों आदमी धर्म-परिवर्तन के नाम पर कत्ल कर दिए गए। यह एक चक्र चलता रहा, जिसका औचित्य समझ से परे है।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता का प्रश्न

वस्तुतः धर्म राज्य से ऊपर की बात है, व्यक्तिगत स्वतंत्रता से जुड़ा प्रश्न है। उस धर्म को जब राज्य के साथ जोड़ने की स्थितियां बने तो अंधेरे के सिवाय और क्या हो सकता है? जहां धर्म और राजनीति—दोनों एकमेव हो जाते हैं, वहां उजला दिन आता ही नहीं है। धर्म-निरपेक्ष राज्य को ही दिन का उजला प्रकाश मिलता है।

यह कितना महत्वपूर्ण सूत्र है—धर्म और राजनीति की पृथक्ता में विश्वास। तेरापंथ ने इस बात को स्वीकार किया—धर्म और राजनीति का गठबंधन नहीं होना चाहिए। जहां भी धर्म के साथ राजनीति जुड़ती है, वहां मानवीय स्वतंत्रता का हनन हुए बिना नहीं रह सकता। वहां धार्मिक परतंत्रता की त्रासदी भोगनी होगी, धर्म-परिवर्तन का कुचक्र चलेगा और धर्म के नाम पर हिंसा का दौर भी चलेगा।

इस वैज्ञानिक युग में हम स्वतंत्रता की बात करते हैं। आज का समाज-विज्ञान प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता को स्वीकार कर रहा है। लोकतंत्र स्वतंत्रता का पक्षधर बना हुआ है। इस स्थिति में धर्म और राजनीति—दोनों को एक करने की बात समझ में नहीं आती। धर्म-निरपेक्ष राज्य शब्द भ्रामक अवश्य है, पर उसके जो सिद्धांत हैं, वे बहुत उपादेय हैं।

मूल हृदय

धर्म-निरपेक्ष राज्य का मूल हृदय है—राज्य धर्म के मामले में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगा। वह किसी धर्म को मान्यता नहीं देगा, सब धर्मों के साथ समान व्यवहार करेगा, किसी धर्म के साथ भेदभाव नहीं बरतेगा। वह राज्य के संचालन में सामाजिक विकास का ध्यान रखेगा। भौतिक संसाधनों का विकास कैसे हो सकता है? जनता की पीड़ा को कैसे कम किया जा सकता है? इन विषयों की चिंता करेगा, जब तक कि कोई धर्म समाज विकास में बाधा न पहुंचाए। प्रत्येक व्यक्ति को धर्म की पूरी स्वतंत्रता है। कोई भी व्यक्ति कहीं भी कैसी उपासना करे, सरकार की ओर से उस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। यह है धर्म-निरपेक्ष राज्य की परिकल्पना।

क्या है राज्य का धर्म?

प्रश्न उभरा—राज्य का कोई धर्म नहीं है। इस स्थिति में क्या धर्म के बिना राज्य ठीक चलेगा? क्या राज्य का कोई धर्म नहीं होना चाहिए? यह एक समस्या भी है। राज्य के जो मूल सिद्धांत हैं, उनमें शक्ति और धर्म भी आवश्यक माने गए हैं। धर्म के बिना राज्य का संचालन ठीक नहीं हो सकता। जहां धर्म नहीं है, वहां छीना-झपटी चलेगी, मत्स्य-न्याय चलेगा, बलवान कमजोर को सताएगा। धर्म-निरपेक्ष राज्य का मतलब यह नहीं है कि उसमें धर्म नहीं चलेगा अथवा वह धर्म को मान्यता नहीं देगा। उसका अर्थ यह है कि वह धर्म को मान्यता देगा किन्तु वह मान्यता नैतिक सिद्धांतों के आधार पर मिलेगी। वह मान्यता या मूल्य देगा नैतिकता को, मानवता को, चरित्र को। विशेषण वाला कोई भी धर्म वहां नहीं हो सकता। इसका तात्पर्य है—वैदिक, जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम आदि राज्य के धर्म नहीं हो सकते। राज्य का धर्म हो सकता है अणुव्रत, जो कि नैतिकता और चरित्र का धर्म है। प्रत्येक राष्ट्र के विकास के लिए जरूरी है कि नैतिकता



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

और चरित्र का धर्म हो। प्रत्येक राष्ट्र के विकास के लिए जरूरी है कि वह समाज में सचाई, ईमानदारी, श्रमनिष्ठा, नैतिकता, अहिंसा आदि गुणों का संवर्द्धन करे।

चरित्र-विकास के लिए

जो राष्ट्र भौतिक संसाधनों का विकास करता है पर मानवीय संसाधनों का विकास नहीं करता, वह पतन के गहरे गर्त में गिर जाता है। फिर उसका उत्थान संभव नहीं बनता। इतिहास साक्षी है—सम्राट् अशोक ने चरित्र-विकास के लिए एक स्वतंत्र मंत्रालय प्रस्थापित किया। आचार्यश्री तुलसी ने पण्डित नेहरू को यह सुझाव दिया था—आपके अनेक मंत्रालय काम कर रहे हैं। क्या राष्ट्र के चरित्र-निर्माण के लिए कोई मंत्रालय नहीं हो सकता? प्रधानमंत्री नेहरू को यह सुझाव अच्छा भी लगा किन्तु वे इसे क्रियान्वित नहीं कर पाए। नगरों की आवाज में तूती की आवाज सुनाई नहीं देती। भौतिक संसाधनों के विकास की अंधी दौड़ में चरित्र-विकास की बात सुनाई ही नहीं दे रही है, पर यह बहुत आवश्यक है। जैसे सरकार प्राथमिक आवश्यकताओं—रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा, चिकित्सा आदि की चिन्ता करती है, वैसे ही उसे इस बात की भी चिन्ता होनी चाहिए कि राष्ट्र के नागरिक का चरित्र कैसा हो? चारित्रिक मूल्यों को बढ़ावा कैसे मिले? यदि सरकार यह चिन्ता नहीं करती है तो मानना चाहिए—वह अपने दायित्व का सम्यक् निर्वहन नहीं कर पा रही है।

धर्म-निरपेक्ष राज्य का दायित्व

धर्म-निरपेक्ष राज्य का एक दायित्व है—धर्म की चिन्ता करना, मानवीय गुणों के विकास का जो धर्म है, उसकी चिन्ता करना। जिस धर्म का पक्ष केवल नैतिक और चारित्रिक है, वह धर्म धर्म-निरपेक्ष राज्य को मान्य हो सकता है, इसमें मुझे कोई कठिनाई दिखाई नहीं देती। आज अणुव्रत आंदोलन को राष्ट्रीय स्तर पर जो महत्त्व मिला है, उसका कारण यही है कि वह किसी संप्रदाय विशेष का नहीं, किन्तु चरित्र और नैतिकता के विकास का एक उपक्रम है। वस्तुतः धार्मिक जगत् को इस बात का गौरव होना चाहिए कि एक संप्रदाय विशेष के आचार्य होते हुए भी आचार्य तुलसी ने अपने सम्प्रदाय की सीमा और आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का अतिक्रमण किए बिना ऐसे धर्म का प्रवर्तन किया, जो धर्म-निरपेक्ष राज्य का धर्म बन सकता है। वह धर्म है अणुव्रत।

धर्म का नया रूप

जैन दर्शन का सिद्धांत है—जो कल था, वही आज है और भविष्य में भी वही रहेगा। विज्ञान का भी सिद्धांत यही है—जितने ऐलीमेंट्स—मूल तत्त्व हैं, उतने ही रहेंगे। नया ऐलीमेंट नहीं बनता, केवल रूपान्तरण होता है। व्यक्ति उसे नया रूप देता है। नया रूप देना ही कौशल है, विज्ञान है, प्रगति का चिह्न है। अणुव्रत के रूप में जो धर्म का प्रवर्तन हुआ है, वह धर्म का नया रूप है। एक ऐसी धर्मक्रांति है, जिसे कोई भी संप्रदाय स्वीकार कर सकता है। सब सम्प्रदायों के लोगों को इसमें अपना धर्म दिखाई दिया है।

दर्शन और आचार

प्राचीनकाल से कहा जाता रहा है—धर्म के मूल तत्त्व एक हैं, लेकिन यह कथन आचार-सापेक्ष है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

धर्म के दो पक्ष हैं—दर्शन पक्ष और आचार पक्ष। अहिंसा का तत्त्व सबमें समान मिलेगा, क्योंकि यह आचार पक्ष है किन्तु उसके पीछे जो दर्शन है, वह एक नहीं होगा। आचार मिल जाएगा, किन्तु विचार नहीं मिलेगा। विचार का संबंध दर्शन पक्ष से है। एक दर्शन अनेकांतवाद और परिणामी-नित्यवाद को स्वीकार करता है, दूसरा दर्शन क्षणिकवाद को स्वीकार करता है, कोई दर्शन कूटस्थ-नित्यवाद को स्वीकार करता है। दर्शन की भिन्नता होने पर भी जहां आचार का प्रश्न है, वहां सभी दर्शन कहेंगे—किसी को सताओ मत, मारो मत। अणुव्रत के पीछे किसी दर्शन को नहीं जोड़ा गया। उसके पीछे न नित्यानित्यवाद को जोड़ा गया, न क्षणिकवाद और कूटस्थ-नित्यवाद को जोड़ा गया, न ब्रह्मवाद और प्रकृतिवाद को जोड़ा गया, न ईश्वरवाद और निर्वाणवाद को जोड़ा गया। आचार के जो मूल बिन्दु हैं, जो मानव को मानव बनाए रखते हैं, मानवता के धरातल को अक्षुण्ण बनाए रखते हैं, मानव चरित्र को उन्नत बनाते हैं, उन संकल्पों की व्यवस्था या आचार-संहिता अणुव्रत है, इसीलिए यह एक व्यापक और सार्वभौम धर्म है।

आचार-शुद्धि का प्रकल्प

भगवान् महावीर ने कहा—ऐसा व्यक्ति, जिसने कभी धर्म को नहीं सुना है, वह भी धर्म का अधिकारी बन सकता है। जैन दर्शन में 'असोच्चा केवली' का निदर्शन मिलता है। जिस व्यक्ति ने कभी धर्म को नहीं सुना, वह अपनी आंतरिक विशुद्धि की प्रखरता से कैवल्य को उपलब्ध हो सकता है। अणुव्रत एक ऐसा धर्म है, जो आंतरिक विशुद्धि और आचार-शुद्धि का प्रकल्प है। यदि इसका ठीक मूल्यांकन किया जाए तो एक नई क्रांति हो सकती है। धर्म-निरपेक्ष राज्य का स्वरूप एवं अवधारणा अणुव्रत जैसे सार्वभौम धर्म के लिए उर्वरा भूमि है, इस सचाई की स्वीकृति धर्म-निरपेक्ष राज्य के संदर्भ में उभरने वाली समस्याओं का समाधान बन सकती है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

लोकतंत्र और अणुव्रत

यौगलिक युग से लेकर आज तक अनेक शासन की प्रणालियां सामने आईं। सबसे पहले कुल की व्यवस्था आई और कुल को शासित करने वाला एक कुलकर। कुलकर की व्यवस्था चली फिर राजतंत्र आया। राजतंत्र के भी अनेक रूप आए। सबसे अंत में शासन का निखरा हुआ रूप आया लोकतंत्र।

अपूर्ण और सापेक्ष

हमारी दुनिया में ऐसा तो कुछ भी नहीं होता, जिसमें कोई कमी न हो, अपूर्णता न हो। अगर कोई भी वस्तु परिपूर्ण हो जाए तो वह हमारी दुनिया की नहीं होगी, कोई दूसरी बात होगी। प्रत्येक वस्तु में अपूर्णता होती है और प्रत्येक वस्तु अपूर्ण होती है। इसीलिए सापेक्ष है। निरपेक्ष सत्य परिपूर्ण सत्य होता है इसलिए निरपेक्ष सत्य हमारा विषय नहीं बनता और पूर्ण वस्तु भी हमारा विषय नहीं बनती। अपूर्ण वस्तु हमारा विषय है और अपूर्णता की स्थिति में उसका सम्यक् उपयोग करना यह एक समझदार आदमी का काम होता है।

लोकतंत्र भी परिपूर्ण पद्धति है, यह नहीं कहा जा सकता। उसमें भी काफी खामियां हैं, कमियां हैं, सुधार के लिए काफी अवकाश है, फिर भी आज तक शासन की जितनी प्रणालियां आईं, उन सबमें यह श्रेष्ठ प्रणाली है—यह कहने में संकोच नहीं होता। इसका कारण है कि मनुष्य की मूलभूत आवश्यकता है स्वतंत्रता। यह दीर्घकालीन आकांक्षा रही है, आज भी है—हर व्यक्ति स्वतंत्र रहना चाहता है। मनुस्मृति में सुख दुःख की परिभाषा की गई—

सर्वं स्ववशं सुखम्, सर्वं परवशं दुःखम्।

आकांक्षा स्वतंत्रता की

आपने आपमें होना सुख है और पराधीन होना दुःख है। एक तोता सोने के पिंजड़े को पसन्द नहीं करता। वह पसन्द करता है मुक्त आकाश के विहार को। जब यह नीला-नीला मुक्त गगन उसे मिल जाता

है तो वह आकाश में पंख फड़फड़ाता हुआ उड़ जाता है, सोने के पिंजड़े में पड़े हुए मेवे को छोड़कर चला जाता है।

स्वतंत्र रहना व्यक्ति की एक सहज आकांक्षा है। किन्तु स्वतंत्रता उसके भाग्य में नहीं, नियति में नहीं इसलिए कि वह अपने आप पर नियंत्रण करना नहीं जानता। अगर हर व्यक्ति आत्मानुशासी होता, अपने आप पर नियंत्रण करना जानता तो कोई किसी को परतंत्र बनाता ही नहीं। किन्तु अपने आप पर नियंत्रण नहीं है तो दूसरा उसके अस्तित्व पर आता है, दूसरा उसको अधीन बनाता है। हम मान लें कि परतंत्रता मनुष्य की एक नियति है, उसका एक भाग्य है, उसे टाला नहीं जा सकता।

लोकतंत्र का मूल्य

आदमी को परतंत्र होना है, किसी दूसरे के द्वारा शासित होना है तो उसमें यह लोकतंत्र की प्रणाली अधिक मान्य हुई है। जहां वर्षों तक जिस रूप में एकाधिपत्य था, अधिनायकवाद था वहां भी लोकतंत्र की किरणें फूटी हैं। एक द्वन्द्व था कि पूंजीवाद या साम्यवाद? लोकतंत्र या अधिनायकवाद? कौन रहेगा? दोनों एक साथ नहीं रह सकते। लम्बे समय तक यह संघर्ष चला। यह सफल सिद्ध हो गया कि लोकतंत्र आखिर विजयी होता है और लोगों की आकांक्षा उसके साथ जुड़ी हुई है। आश्चर्य हुआ, जब यह पढ़ा कि रूसी नेता गोर्बाच्योव ने अपने तेरह वैज्ञानिकों और साहित्यकारों से क्षमायाचना की। पूर्वी जर्मनी की संसद ने यहूदियों से क्षमायाचना की। गोर्बाच्योव ने उन वैज्ञानिकों और साहित्यकारों से क्षमायाचना की जिन्हें प्रताड़ित किया गया था। बड़ी विचित्र बात है। अधिनायकवाद में ऐसा हुआ कि बड़े से बड़े वैज्ञानिक, बड़े-से-बड़े राजनेता, योग्यतम व्यक्तियों को निष्कासित कर दिया गया या मौत के घाट उतार दिया गया। जब चक्का घूमता है, लोकतंत्र का निर्मल वातावरण व पवित्र पवन चलता है तब कैसा अद्भुत दृश्य देखने को मिलता है! वहां का राष्ट्रपति निष्कासित किए गए या प्रताड़ित किए गए लोगों से क्षमायाचना करता है। इसकी शायद कोई कल्पना नहीं कर सकता पर ऐसा हुआ है इसलिए लोकतंत्र का मूल्य हर व्यक्ति आंक सकता है।

संबंध लोकतंत्र और अणुव्रत में

लोकतंत्र और अणुव्रत दोनों का सम्बन्ध क्या है? दोनों में मेल क्या है? एक है अध्यात्म का प्रकाश, दूसरा है शासन का एक तंत्र, दूसरों को शासित करने की एक विधि। अध्यात्म व्यक्तिवादी धारणा है और लोकतंत्र सामाजिक धारणा। दोनों के बीच में सम्बन्ध खोजना जरा कठिन सा लगता है। पर अनेकान्त का एक सूत्र है, सापेक्षवाद का एक दर्शन है कि दुनिया में ऐसा कुछ भी नहीं, जो सर्वथा भिन्न हो या सर्वथा अभिन्न। दूसरे के साथ कोई समानता न हो, सर्वथा असमानता ही हो या असमानता ही हो, समानता न हो—ऐसा कुछ भी नहीं है। जिसको हम अभिन्न कहते हैं वह भिन्न भी है, जिसको हम भिन्न कहते हैं वह अभिन्न भी है। जब सापेक्ष दृष्टि से मीमांसा करते हैं तब यह कहने में भी संकोच नहीं होना चाहिए कि लोकतंत्र और अणुव्रत में गहरा सम्बन्ध भी है।

लोकतंत्र की परिभाषा

लोकतंत्र की परिभाषा क्या है? अमेरिकी राष्ट्रपति ने लोकतंत्र की एक परिभाषा की थी—‘जनता



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

का शासन, जनता के लिए और जनता के द्वारा।' अणुव्रत की परिभाषा क्या है? अपना शासन, अपने लिए और अपने द्वारा—अपने से अपना अनुशासन अणुव्रत की परिभाषा। ऐसा लगता है कि जनता के स्थान पर अपना शब्द जोड़ दिया और अपना के स्थान पर जनता शब्द बिठा दिया। 'जनता' शब्द को बिठाओ तो लोकतंत्र की परिभाषा बन जाएगी और 'अपना' शब्द को बिठाओ तो अणुव्रत की परिभाषा बन जाएगी। दोनों की परिभाषा में कितना गहरा सम्बन्ध है। जहां आत्मानुशासन नहीं होता वहां अणुव्रत नहीं होता। जहां अपना शासन नहीं होता, वहां सफल लोकतंत्र नहीं होता। लोकतंत्र की सफलता का आधार है आत्मानुशासन। जिस राष्ट्र की प्रजा, जनता आत्मानुशासी होती है, अपने आप पर नियंत्रण रखना जानती है वहां सफल लोकतंत्र होता है और जहां ऐसा नहीं होता वहां लोकतंत्र दण्ड-तंत्र के रूप में बदल जाता है। लोकतंत्र में गोलियां चलें, पुलिस का शासन चले, अश्रु गैस छोड़ी जाए, जनता को दंडों से हांका जाए या कारावास में टूँसा जाए—बड़ी अजीब सी बात लगती है। यह कैसा लोकतंत्र? लोकतंत्र का नागरिक तो इतना अनुशासित और प्रशिक्षित होना चाहिए कि वह स्वयं अपने आप पर नियंत्रण करे। अगर लोकतंत्र में ऐसा नहीं हो तो उसे तानाशाही, अधिनायकवाद या पुलिस राज्य का दूसरा पर्याय मानना चाहिए। या यह मानना चाहिए—लोकतंत्र का नागरिक अपना अधिकार पाने में अपनी अर्हता को प्रकट नहीं कर रहा है, अपने आपको उपयुक्त प्रमाणित नहीं कर रहा है। कमी है कहीं न कहीं। लोकतंत्र में विरोध करना तो स्वाभाविक हो सकता है पर तोड़-फोड़ करना, हिंसा करना कहां तक सार्थक हो सकता है।

विरोध का स्वस्थ तरीका

अणुव्रत का एक नियम है कि मैं तोड़-फोड़ मूलक प्रवृत्ति में भाग नहीं लूंगा। यह नियम अणुव्रत का कहूं या लोकतंत्र का। अच्छा लोकतंत्र वह होता है, जहां तोड़-फोड़ मूलक प्रवृत्तियां नहीं होती। विरोध करना जरूरी है क्योंकि विरोध सामने नहीं आया तो सरकार को, शासन को सोचने का मौका नहीं मिलेगा। विरोध आवश्यक है, किन्तु विरोध का यह तरीका अच्छा नहीं है कि बसें जला दी, ऑफिसें जला दी, मकान जला दिए, बम विस्फोट किए, बहुत सारी राष्ट्रीय सम्पत्ति को नष्ट कर दिया। उधर डण्डे चलें, गोलियां चलें, आंसू गैस के गोले छोड़े जाएं। यह लोकतंत्र की विडम्बना जैसी होती है। जापान में कोई हड़ताल करता है, विरोध करता है तो हाथ पर काली पट्टी बांध लेता है पर राष्ट्र को हानि नहीं पहुंचाता, संपदा को नुकसान नहीं पहुंचाता।

मैंने एक घटना सुनी—एक कम्पनी के मजदूरों ने हड़ताल की, उत्पादन पूरा किया पर निर्यात नहीं किया। कम्पनी के मैनेजरों को पता चला, प्रश्न उठा—माल इतना इकट्ठा क्यों किया जा रहा है? बाहर क्यों नहीं जा रहा है? हाथ पर काली पट्टियां देखी तो ध्यान में आया कि यह तो हड़ताल हो रही है। पूछा—यह कैसे किया? उत्तर दिया—'कारण आपको पता है फिर भी हमने उत्पादन बराबर किया है।'

मैनेजर—'फिर निर्यात क्यों नहीं किया?'

कर्मचारी—'निर्यात नहीं हो सकता।'

मैनेजर—'निर्यात क्यों नहीं हो सकता?'



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

कर्मचारी—‘क्योंकि माल पूरा बना नहीं है।’

मैनेजर—‘माल अधूरा कैसे है?’

कर्मचारी—‘क्योंकि हमने केवल एक साइड के जूते बनाए हैं।’ इसलिए निर्यात कैसे हो सकता है?

वह जूता बनाने की फैक्ट्री थी। सामान्यतः दोनों पैरों के जूते एक साथ बनते और निर्यात हो जाता। हड़ताल के दिनों में उन्होंने केवल बाएं पैर के जूते बनाए, दाएं पैर के जूते नहीं बनाए।

मैनेजर—‘इससे तो क्षति हो सकती है।’

कर्मचारी—‘नहीं, राष्ट्र को बिल्कुल क्षति नहीं होगी।’

जैसे ही समझौता हुआ, दाएं पैर के जूते बनाए और निर्यात शुरू हो गया। माल के उत्पादन में कोई फर्क नहीं पड़ा। यह तरीका होता है लोकतंत्र का—हानि न पहुंचाए और विरोध भी प्रकट कर दे। अपना विरोध प्रकट करने का सही तरीका उत्पादन नष्ट करना, उत्पादित वस्तुएं नष्ट करना नहीं है। विनाश ही विनाश हो तो यह कोई स्वस्थ प्रणाली नहीं है। लोकतंत्र में अहिंसा के लिए सबसे अधिक अवकाश है। अहिंसा, सापेक्षता, समझौता—ये लोकतंत्र के मूल प्राण हैं। इनकी उपेक्षा होती है तो अच्छी कल्पना नहीं की जा सकती।

लोकतंत्र और व्रत

मुझे कहना चाहिए—लोकतंत्र और व्रतों में गहरा सम्बन्ध है। अणुव्रतों को छोड़कर हम लोकतंत्र की सुन्दर कल्पना नहीं कर सकते और लोकतंत्र के बिना अणुव्रत की कल्पना करना भी कठिन है। अणुव्रत की सफलता लोकतंत्र में अधिक संभावित है। ऐसा लगता है कि लोकतंत्र के साथ अणुव्रत तो आ गया पर उसके साथ व्रतों का जो प्रशिक्षण होना चाहिए, वह अभी नहीं हो सका है। मैं मानता हूँ कि लोकतंत्र के प्रशिक्षण का अर्थ है अणुव्रतों का प्रशिक्षण। अगर लोकतंत्र के साथ-साथ अणुव्रतों का प्रशिक्षण होता तो आज अधिक सफलता मिलती। ऐसा हुआ नहीं। अगर जीवन में व्रत आता है, संयम आता है तो सफलता अपने आप आती है। इस प्रसंग में मैं एक ऐतिहासिक घटना का उल्लेख करना चाहूंगा।

व्रत का प्रभाव

जैन परम्परा में एक संत हुए हैं—योगी आनंदघनजी। उनकी योग सिद्धियां बहुत विश्रुत थी। एक बार राजस्थान के मेड़ता नगर के आस-पास उनकी यात्रा चल रही थी। लोगों को पता चला—आनंदघनजी आए हुए हैं और उनके पास सोना बनाने की विद्या है। अध्यात्म की बात में किसी को रस हो या न हो पर यह पता चल जाए कि सोना बनाने की विद्या जानते हैं तो सबको रस आ जाता है, सोया आदमी जाग जाता है। हजारों आदमी इकट्ठे हो गए और प्रार्थना करने लगे—‘गुरुदेव! हमें आप स्वर्ण सिद्धि की विद्या सिखलाएं।’ आनंदघनजी ने सोचा—यह बड़ी मुसीबत है, मैं किस किसको सोना बनाना सिखाऊँ? गांव छोड़कर जंगल की ओर चले गए। जिनके पास ऐसी चामत्कारिक विद्या है, वे कहीं चले जाएं, जंगल में भी मंगल हो जाता है। लोगों की भीड़ लग जाती है। राजा को भी पता चला—आनंदघनजी अनेक अद्भुत विद्याएं जानते हैं। जंगल में पहुंच गया। एकान्त में निवेदन किया—‘महाराज! मेरे पास सब कुछ है पर पुत्र नहीं है। पुत्र के



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

बिना कौन अधिकारी बनेगा? राज्य किसका होगा? बड़ी चिन्ता है। आप कृपा करें और मुझे पुत्र का दान दें।' आनंदघनजी ने सोचा—यह विचित्र बात है। मैं संन्यासी हूं, जैन मुनि हूं मैं किसको पुत्र दूं और किसको सोने की विद्या सिखलाऊं।

प्रसिद्धि बड़ी काम की होती है, अच्छी होती है परन्तु कभी-कभी खतरनाक भी बन जाती है। आनंदघनजी ने इस बात को टालना चाहा, बहुत टाला पर राजा अड़कर बैठ गया, बोला—'महाराज! आपको देना ही है।' आखिर आनंदघनजी ने एक कागज मंगाया और उस पर कुछ लिख दिया। कागज को समेटकर राजा को दे दिया और कहा—'महारानी के हाथ पर बांध दो। तुम्हारी कामना पूरी हो जाएगी पर एक शर्त है कि तुम आज से झूठ नहीं बोल सकोगे, शाकाहारी रहोगे, शिकार नहीं करोगे, प्रजा का शोषण नहीं कर सकोगे, कर अधिक नहीं ले सकोगे।' ये पांच व्रत उसके साथ जोड़ दिए। यानी कामना के साथ जैसे अणुव्रत को जोड़ दिया।

राजा ने सब व्रत स्वीकार कर लिए। आनंदघनजी अपनी यात्रा में लग गए। ठीक समय हुआ, कोई योग-संयोग ऐसा बना कि राजा के पुत्र हो गया। राजा बड़ा प्रसन्न हुआ, सोचा—अब फिर आनंदघनजी के पास जाऊं, कृतज्ञता प्रकट करूं, प्रसन्नता प्रकट करूं और फिर आशीर्वाद प्राप्त करूं। राजा, रानी, पुत्र सब आनंदघन जी के पास आए, प्रणाम किया। राजा बोला—'महाराज! आपने बड़ी कृपा की, बड़ा अनुग्रह किया और मेरी कामना आपने पूरी कर दी, बड़ा अच्छा हुआ। लोग भी सुन रहे थे। आनन्दघनजी ने तत्काल कहा—'राजन्! वह कहां है जो मैंने लिख कर दिया था?'

'महाराज! वह कागज की चिट तो महारानी के हाथ पर बंधी हुई है।' आनंदघनजी ने वह कागज की चिट ली, खोली। उसमें लिखा था—राजा की रानी के पुत्र हो तो आनन्दघन को क्या? और राजा की रानी के पुत्र न हो तो आनन्दघन को क्या?

सब लोग सुनते रह गए। यह क्या? आनन्दघनजी बोले—'राजन्! मैंने तुझे और कुछ नहीं दिया, केवल व्रत दिये हैं। तूने व्रतों की ठीक पालना की, आराधना की इसलिए तेरी कामना पूरी हुई है। यह व्रतों का प्रासंगिक फल है। यह व्रत की महिमा है, मेरी कुछ भी नहीं है।'

सफलता की शर्त

यह एक ऐतिहासिक घटना है। इसके आधार पर आप ठीक मूल्यांकन करें कि जिस व्यक्ति के जीवन में संयम आता है, व्रत आते हैं तो साथ-साथ कामनाएं पूरी होने लगती हैं, सफलता मिलती है। बहुत लोग सफलता तो चाहते हैं, किन्तु जीवन में व्रतों को नहीं चाहते। वे इस सचाई को भूल जाते हैं कि संयम, व्रत, आत्मानुशासन के बिना जीवन में कभी सफलता मिलती नहीं है। किसी भी राष्ट्र को, किसी भी समाज को या किसी भी व्यक्ति को सफलता मिली है तो उसका रहस्य यही है कि उसने अपने आपको संवारा है, अपने आपको संयत किया है, अपने आपको व्रती बनाया है।

अणुव्रतों का मूल्य स्पष्ट है। यदि लोकतंत्र के नागरिक अणुव्रतों को स्वीकार करते हैं तो वे लोकतंत्र को सफल बनाते हैं। लोकतंत्र की सफलता की शर्त है—व्रतों का पालन, आत्मानुशासन का विकास।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

कैसे चुनेंगे आप ?

आप स्वयं सोचें इस संदर्भ में कि मैं लोकतंत्र और अणुव्रत दोनों के सम्बन्ध की व्याख्या करूं या न करूं। स्वाभाविक है कि यदि मुझे अणुव्रत की बात कहनी है तो लोकतंत्र की बात कहनी होगी और यदि लोकतंत्र की बात कहनी है तो अणुव्रत की बात कहनी होगी। दोनों में आपसी सम्बन्ध है और गहरा सम्बन्ध है। यद्यपि बहुत सारे लोग अणुव्रतों का मूल्य नहीं आंक रहे हैं इसीलिए भ्रष्टाचार पनप रहा है। प्रायः सब असंतुष्ट हैं और सबके मन में शिकायत है। शायद ही ऐसा व्यक्ति मिले, जिसके मन में शिकायत न हो। जनता की शिकायत है सरकार के प्रति और सरकार की शिकायत है जनता के प्रति। बाजार की शिकायत है ऑफिसर के प्रति, ऑफिसर की शिकायत है बाजार के प्रति। एक-दूसरे के प्रति शिकायत है पर अपने प्रति अपनी शिकायत किसी को नहीं। जब तक यह नहीं होगी तब तक न भ्रष्टाचार मिटेगा, न रिश्वत मिटेगी और न मिलावट मिटेगी। यह सारा चक्का ऐसे ही तेजी के साथ घूमता रहेगा। जहां एक ओर शिकायत है, वहां दूसरी ओर अणुव्रत का अस्वीकार है। अगर आप अणुव्रत को नहीं चाहते हैं तो फिर भ्रष्टाचार को क्यों न पसन्द करें? आपको क्या कठिनाई है? आप यह मान लें कि यह तो हमारी स्वाभाविक प्रक्रिया है। यह चला है, चलता आया है और चलता रहेगा। कभी इसे रोका नहीं जा सकेगा। यदि आपको भ्रष्टाचार पसन्द नहीं है तो अणुव्रत का रास्ता अपनाना पड़ेगा, नैतिकता का रास्ता अपनाना पड़ेगा, सदाचार का रास्ता अपनाना पड़ेगा। दोनों में से आप एक चुन सकते हैं, दोनों को आप एक साथ नहीं अपना सकते। यह निर्णय करें तो मैं मानता हूं कि लोकतंत्र और अणुव्रत का सह-अस्तित्व है। अच्छा लोकतंत्र, इसका मतलब अणुव्रत की अनिवार्यता। जहां अणुव्रत की अनिवार्यता है वहां अच्छा लोकतंत्र अपने आप होगा।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत



अणुव्रत और विश्व-शांति

विश्व में अशांति है, उसका मूल कारण है—केवल पदार्थ का स्वीकार और आत्मा का अस्वीकार। विश्व में अशांति है, उसका मूल कारण है—राग-द्वेष और पक्षपात का स्वीकार, वीतरागता का अस्वीकार। यदि हम विश्व-शांति चाहते हैं तो सबसे पहले आत्मा को प्रणाम करें, वीतराग को प्रणाम करें।

आज गांधी विद्या मन्दिर के प्रांगण में अणुव्रत और विश्व-शांति का सम्मेलन हो रहा है। आज तक जितनी विश्व-शांति पर कॉन्फ्रेंस हुई हैं, उनसे यह अलग प्रकार का है। अलग प्रकार का इसलिए है जिन लोगों के हाथ में अर्थ की शक्ति है, राज्य की शक्ति है, उनसे हटकर केवल संयम, शांति और नैतिकता की शक्ति पर विश्वास करने वाले लोग मिल रहे हैं, विश्व-शांति के लिए एक नए विकल्प की खोज कर रहे हैं। आज शांति की चर्चा और शांति का विकल्प उन लोगों को खोज में लगाए हुए है, जिनके पास अणु-अस्त्र हैं। वे यदि शांति की बात करते हैं तो लोगों को बात समझ में आती है, किन्तु जिनके पास न अणु-अस्त्रों का भंडार है, न अर्थ का भंडार है, वे व्यक्ति विश्व-शांति की चर्चा करें तो उसका कितना महत्त्व होगा। यह एक प्रश्न उपस्थित हो रहा है। हमने इस सचाई को बदलने का प्रयत्न किया है। जिनके पास अणु-अस्त्रों का भंडार है और जो स्वयं निरन्तर डरे हुए हैं, दूसरों को डरा रहे हैं, वे लोग चाहे हजार कॉन्फ्रेंस और सेमिनार कर लें, विश्व-शांति की बात को आगे नहीं बढ़ा सकते।

आचार्य तुलसी ने अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया, वह नैतिकता का आंदोलन है, नैतिक मूल्यों के विकास का आंदोलन है। यह अवधारणा सबकी रही है, किन्तु उस ओर ध्यान देना है, जिस ओर अब तक नहीं दिया गया। वह यह है—अणुव्रत आंदोलन विश्व-शांति का एक नया विकल्प है। उसका मूल सूत्र है—संयम: खलु जीवनम्—संयम ही जीवन है। हमारा दृढ़ विश्वास है—‘संयम ही जीवन है’—इस सिद्धांत को स्वीकार किए बिना विश्व-शांति पर जितनी कॉन्फ्रेंस होती हैं, चर्चाएं और वार्ताएं होती हैं, वे सार्थक नहीं होती। इस तथ्य को आप गहराई से मान कर चलें।

आज का दृष्टिकोण केवल युद्ध, समरांगण और राष्ट्र पर टिका हुआ है। जहां भी शांति-अशांति का प्रश्न आता है, वहां हम इन पर अटक जाते हैं। वास्तव में ये सब परिणाम हैं। हम परिणाम को पकड़ना चाहते हैं, परिणाम को मिटाना चाहते हैं। मूल कारण पर हमारा ध्यान नहीं जाता। जब तक मूल कारण को नहीं पकड़ेंगे, तब तक परिणाम को मिटाने की बात कभी संभव नहीं होगी। परिणाम को कभी मिटाया नहीं जा सकता, परिणाम के कारण को मिटाया जा सकता है। परिणाम का कारण मिटेगा, परिणाम स्वतः मिट जाएगा।

त्रुटिपूर्ण शिक्षा-प्रणाली

विश्व की अशांति का सबसे पहला और प्रमुख कारण है—हमारी शिक्षा प्रणाली सदोष है, त्रुटिपूर्ण है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में मनुष्य को अपने भावों पर, संवेगों पर नियंत्रण की बात नहीं सिखलाई जाती। जिस शिक्षा प्रणाली में अपने भावों, संवेगों और आवेगों पर नियंत्रण करने की बात नहीं सिखाई जाती, वह शिक्षा प्रणाली हमेशा युद्ध और अशांति का खतरा बनाए रखती है। मनुष्य न कभी स्वयं शांति से जीता है, न दूसरों को शांति से जीने देता है, इसलिए हम विश्व-शांति की चर्चा करें, उससे पहले हमें पूरे शिक्षा तंत्र पर विचार करना चाहिए।

विकास की अवधारणा

विश्व-शांति के लिए दूसरा बड़ा खतरा है—विकास की अवधारणा। विकास की कोई सीमा निश्चित नहीं होती। हर राष्ट्र, संस्था और कंपनी विकास को असीम किए चल रही है। कहीं कोई सीमा नहीं है, संतुलन नहीं है, प्रतिबंध नहीं है। यह असीम विकास की अवधारणा अनेक समस्याओं को जन्म दे रही है और विश्व-शांति के लिए खतरे की घंटी बजा रही है।

पर्यावरण का प्रदूषण

विश्व की अशांति का तीसरा कारण है—पर्यावरण का प्रदूषण। पदार्थ कम और उपभोक्ता अधिक—यह पर्यावरण का सिद्धान्त है। पर्यावरण का पहला सूत्र है—पदार्थ कम है, इसलिए उसका उपभोग कम करो। आज उपभोक्तावाद बढ़ रहा है, पर्यावरण का प्रदूषण हो रहा है। पर्यावरण प्रदूषण के भयावह परिणाम आ रहे हैं। पूरे संसार में रासायनिक धूलि का विकिरण हो रहा है। वह मनुष्य की वृत्तियों को उभार रहा है, मनुष्य को आक्रामक बना रहा है। पर्यावरण का प्रदूषण चलता रहे, उपभोक्तावाद बढ़ता रहे और विश्व-शांति की चर्चा करते रहें, यह एक विरोधाभासी दृष्टिकोण है। हम नहीं समझ पा रहे हैं कि इसका परिणाम क्या होगा ?



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

मैं एक छोटी सी कहानी सुनाऊं। कार आ रही थी। चौराहे पर पुलिस का सिपाही खड़ा था। उसने कार को रोकने का संकेत किया।

ड्राइवर ने पूछा—क्यों? सिपाही बोला—इसके लाइट नहीं हैं।

ड्राइवर ने कहा—इसके ब्रेक भी नहीं हैं। तुम दूर हट जाओ, अन्यथा मारे जाओगे।

जिस कार के ब्रेक भी नहीं हैं, लाइट भी नहीं हैं, वह कार कितनी खतरनाक होती है। आज लगता है कि हमारी त्रुटिपूर्ण शिक्षा प्रणाली के कारण ऐसा हो गया है। न तो हमारी अंतर्दृष्टि का विकास है, प्रकाश

(लाईट) है और न अपने आवेगों-संवेगों पर नियंत्रण करने का ब्रेक है। इस स्थिति में आज का आदमी कितना खतरनाक हो सकता है। फिर हम विश्व-शांति की चर्चा करें, क्या वह उचित है?

नया विकल्प

अणुव्रत और विश्व-शांति—यह अंतरराष्ट्रीय जगत् के लिए एक नया विकल्प हो सकता है। अणुबम और विश्व-शांति की चर्चा तो होती रहती है, किन्तु अणुव्रत और विश्व-शांति की चर्चा का एक नया प्रकल्प विश्व के सामने है।

आप निश्चित मानें—अणुव्रत ने संयम का जो सूत्र दिया है, उस सूत्र पर ध्यान दिए बिना विश्व-शांति नहीं होगी। हम लोग मुख पर वस्त्र बांधे हुए हैं। देखने वालों को यह देखकर आश्चर्य होता है। कुछ लोग यह मानते हैं—मुंह का ऑपरेशन कराया होगा, इसलिए मुख पर वस्त्र बांधा हुआ होगा। यह मुखवस्त्रिका संयम का प्रतीक है। मैं यह कहना चाहता हूँ—जो लोग विश्व-शांति की बात करें, वे कम-से-कम एक घंटा इस प्रतीक का उपयोग करें। मुखवस्त्रिका बांधें, यह संदेश दें—हम संयम के द्वारा विश्व में शांति स्थापित करना चाहते हैं। असंयम के द्वारा यह कभी संभव नहीं है। आप चाहे विश्व-शांति के लिए कॉन्फ्रेंस करें, रैली निकालें, यात्रा करें, चर्चा-वार्तालाप करें, कम से कम उस समय मुख-वस्त्रिका अवश्य बांध लें, तब यह सबको ज्ञात होगा—हम संयम के द्वारा विश्व-शांति की स्थापना करना चाहते हैं। केवल चर्चा, भाषण, विचार और चिन्तन से विश्व में शांति का सपना साकार नहीं होगा। जब तक आम जनता में, विश्व के नागरिकों में यह संयम की आस्था पैदा नहीं होगी, तब तक विश्व-शांति के लिए होने वाली चर्चाएं और प्रयत्न व्यर्थ होंगे। मैं पूछना चाहता हूँ—यदि वाणी का संयम नहीं है तो क्या उस अवस्था में विश्व-शांति की चर्चा की जा सकती है?

संयम का प्रतीक

अशांति का सबसे बड़ा कारण बनता है—वाणी का असंयम। आदमी इस प्रकार बोल देता है, ऐसी बात कह देता है कि दूसरों को उत्तेजित कर देता है। यदि आपका वाणी पर संयम नहीं है, मन पर संयम नहीं है और असीम महत्वाकांक्षा है तो क्या आप विश्व-शांति पर चर्चा करने का अधिकार पा सकते हैं? आपका पदार्थ के प्रति संयम का दृष्टिकोण नहीं है। आप बाजार पर प्रभुत्व स्थापित करते जाएं और विश्व-शांति की चर्चा भी करते जाएं—क्या यह संभव होगा? इन सारे दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर यह मानता हूँ—अहिंसा की दृष्टि से बांधा हुआ यह मुखवस्त्र संयम का प्रतीक है। यह संयम का प्रतीक विश्व-शांति का प्रतीक बनेगा। इसका प्रयोग विश्व-शांति में आस्था रखने वाले व्यक्ति को विश्व-शांति एवं संयम के प्रतीक के रूप में करना चाहिए। जब भी विश्व-शांति से जुड़ा आयोजन हो, इस प्रतीक का प्रयोग करें। इससे आश्चर्य होगा, कुतूहल होगा, नया लगेगा, किन्तु आपकी भावना को बढ़ाने में उपयोगी भी होगा।

किसकी शरण में जाएं

विश्व-शांति के लिए एक नए प्रश्न पर हमें विचार करना होगा। क्या हम विज्ञान की शरण में जाएं अथवा अध्यात्म की शरण में जाएं? विज्ञान के द्वारा आपको कुछ मिल रहा है। विज्ञान इतना हावी हो गया है कि वर्तमान युग को विज्ञान का युग कहा जा रहा है। क्या हम उसकी शरण में जाएं? क्या हम उस अध्यात्म



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

की शरण में जाएं, जिसके पास न शस्त्र है, न अस्त्र है, न तलवार है, न अणुबम है, केवल है आत्मौपम्य की भावना। हर प्राणी को अपने समान समझना, एकता की अनुभूति, समता की अनुभूति, यह है अध्यात्म। आज का प्रबुद्ध विचारक व्यक्ति विज्ञान का उपयोग करेगा किन्तु विज्ञान की शरण में नहीं जाएगा। यदि वास्तव में हमारी विश्व-शांति की इच्छा है तो हमें अध्यात्म की शरण में जाना होगा। वह हमारी उपयोगिता नहीं है, वास्तविकता है। इसलिए हम यह निर्णय करें—हमें किसका उपयोग करना है और किसकी शरण में जाना है?

समवाय का निर्माण हो

विश्व-शांति से जुड़े हुए जो प्रश्न हैं, उन प्रश्नों पर कुछ लोग मिल-बैठकर चर्चा करेंगे, उसका कितना लाभ होगा, कितना परिणाम होगा? यह भी मेरे सामने प्रश्न है। इस सचाई को मैं जानता हूँ इसलिए इस विषय में मैं एक दूसरा दृष्टिकोण प्रस्तुत करना चाहता हूँ। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की कल्पना आई। संयुक्त राष्ट्र संघ बना। वहां विरोधी विचार वाले राष्ट्र भी एक साथ बैठते हैं, चिन्तन करते हैं, विचार-विमर्श करते हैं और विश्व की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। जब हिंसा और शस्त्र की शक्ति में विश्वास रखने वाले राष्ट्र एक साथ बैठ कर चिन्तन करते हैं तब क्या यह आवश्यक नहीं है कि नैतिकता, संयम, अहिंसा और विश्व-शांति में विश्वास करने वाले जितने व्यक्ति और संस्थाएं हैं, वे इसी भूमिका पर एक बड़े समवाय का, संगठन का निर्माण करें, उनके सारे प्रतिनिधि एक साथ बैठकर हिंसा, अनैतिकता और अशांति की समस्या पर विचार करें, खोज करें, नया रास्ता निकालें और उनका स्वर ऐसा शक्तिशाली बने कि हिंसा पर विश्वास रखने वालों को भी सोचना पड़े।

इस विषय को मैं और स्पष्ट करना चाहता हूँ—यह समवाय किसी धर्म का नहीं होगा, किसी संप्रदाय का नहीं होगा, उसमें किसी धर्म और संप्रदाय की चर्चा नहीं होगी। उसमें अहिंसा, विश्व-शांति, विश्व में नैतिक मूल्यों की अवधारणा—इन विषयों पर चर्चा करें और एक तीसरी शक्ति का निर्माण करें। आज अर्थ की शक्ति है, राज्य की शक्ति है, वैसे ही तीसरी शक्ति—नैतिकता की शक्ति अथवा अहिंसा की शक्ति का निर्माण करें। उस शक्ति के बिना ये दोनों शक्तियां उच्छृंखल हो रही हैं। इन पर कोई अंकुश और नियंत्रण नहीं है। जो राष्ट्र के प्रमुख हैं अथवा सत्ता से जुड़े सौ-पचास व्यक्ति हैं, वे मिल-बैठकर निर्णय कर लेते हैं। उनका मानवता के साथ कोई संबंध नहीं है। इसलिए आज बहुत अपेक्षा है कि तीसरी शक्ति का विकास करें। उसके बिना विश्व-शांति की कामना यथार्थ में नहीं बदलेगी।

व्यक्ति से चर्चा शुरू करें

शांति की चर्चा करते समय हमें युद्ध और शस्त्र की बात को एक बार छोड़ देना चाहिए। सबसे पहले चर्चा शुरू करनी चाहिए व्यक्ति से। व्यक्ति में शांति है या नहीं? परिवार में शांति है या नहीं? समाज और संगठन में शांति है या नहीं? राष्ट्र में शांति है या नहीं? सबसे पहले व्यक्ति, फिर परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व का प्रश्न आता है। हम सीधे विश्व-शांति के प्रश्न को छूते हैं, और सब बातों को छोड़ देते हैं। इसे मूर्खता की बात न कहें, किन्तु समझदारी की बात तो नहीं है और उसका परिणाम यह होगा कि विश्व-शांति शायद कभी संभव नहीं बनेगी।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुब्रत

इस सम्मेलन में जितने विदेशी बंधु आए हैं, भारत के शांतिकामी प्रतिनिधि आए हैं, उन्हें यह कहना चाहूंगा—आप एक बार विश्व-शांति की बात को भूल जाएं, अपनी शांति से बात शुरू करें। अणुव्रत सीधा विश्व-शांति की बात नहीं करता। वह एक संकल्प-शक्ति का प्रयोग है, संकल्प का जागरण करता है। हम संकल्प-शक्ति के विकास की बात शुरू करें। आप अपने देश में जाएंगे, आपको बताना होगा—हमने विश्व-शांति की चर्चा नहीं की, विश्व-शांति की पहली ईंट की चर्चा की है। हमने बड़े मकान की चर्चा नहीं की, नींव की पहली ईंट की चर्चा की है। आज तो नींव के बिना मकान खड़ा किया जा सकता है, किन्तु वह मकान बहुत खतरनाक होता है। हम मूल आधार की बात करें, अपनी शांति से बात करें। उसके लिए यह आवश्यक है कि आप अणुव्रत की मूल भावना को पकड़ने का प्रयत्न करें। विश्व-शांति के लिए सबसे पहले अपनी संकल्प-शक्ति का विकास शुरू करें।

हम सन् 1997 में बीकानेर जिले में थे। वहां कुछ नार्वे के भाई आए। उन्होंने अणुव्रत की बात को सुना, समझा, उनके मन में एक भावना पैदा हुई। इस आधार पर हमें एक विश्व-शांति की कॉन्फ्रेंस करनी चाहिए। उनका संकल्प हुआ, नार्वेवासियों ने बहुत प्रयत्न किया, अपनी ओर से यह सम्मेलन आयोजित किया। इस कार्य में डॉ. मोतीलाल शर्मा जुड़े रहे। जैन विश्व भारती संस्थान, आचार्य तुलसी शांति प्रतिष्ठान, चातुर्मास प्रवास व्यवस्था समिति—ये सब मिले, सबने प्रयत्न किया। इस सम्मेलन का यह एक सन्देश है—आप विश्व-शांति की बात को व्यक्ति की शांति से शुरू करें। क्रमशः आगे बढ़ें तो उसका निश्चित परिणाम आएगा। अन्यथा परिणाम में संदेह बना रहेगा।

विश्व-शांति : आधारभूत सूत्र

अणुव्रत ने विश्व-शांति के लिए कुछ आधारभूत सूत्र प्रस्तुत किए हैं—

मैं किसी निरपराध प्राणी को नहीं मारूंगा।

अनावश्यक हिंसा नहीं करूंगा।

मैं आक्रमण नहीं करूंगा।

मैं आक्रामक मनोवृत्ति का समर्थन नहीं करूंगा।

अहिंसा के अणुव्रत का दूसरा संकल्प, जो विश्व-शांति का मूल आधार बनता है—

मैं किसी मनुष्य और प्राणी के साथ क्रूर व्यवहार नहीं करूंगा।

मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि वर्तमान विश्व का आदमी प्राणियों के प्रति जितना क्रूर है, उतना अतीत में शायद कभी भी नहीं रहा होगा। विज्ञान की खोजों के लिए कितने मेढक, कितने चूहे और कितने पशु मारे जा रहे हैं। मनुष्य की स्वास्थ्य रक्षा के लिए न जाने करोड़ों-करोड़ों मूक प्राणियों को मारा जाता है। केवल मनुष्य को बचाने के लिए कितना क्रूर कर्म किया जा रहा है! क्या इससे मनुष्य बच पाएगा? इससे मनुष्य बचेगा नहीं, अमर नहीं बनेगा, किन्तु मनुष्य में क्रूरता बढ़ेगी और आदमी आदमी को मारने लग जाएगा। क्रूर व्यवहार से विरति विश्व-शांति का आधार-सूत्र है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अणुव्रत के संदर्भ में विश्व-शांति का एक आधार है—
मैं व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा करूंगा।
मैं वस्तुओं के उपभोग की सीमा करूंगा।

सबसे बड़ी शांति

मैं आज केवल एक प्रश्न प्रस्तुत कर देता हूँ। मैं चाहूंगा कि कॉन्फ्रेंस की संपूर्ति के दिन जितने बंधु आए हैं, वे तैयारी करें—अणुव्रत के इन संकल्पों को स्वीकार करना है। क्या आपकी तैयारी हो सकती है? नावें बहुत धनी राष्ट्र हैं। वहां व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा करना और उपभोग की वस्तुओं की सीमा करना संभव हो सकेगा? यदि आप यह संकल्प स्वीकार कर नावें तथा अन्य देशों की धरती पर पैर रखेंगे तो यह बताएंगे—हम भारत से कोई वस्तु लेकर नहीं आए हैं, किन्तु त्याग की शक्ति, नैतिकता की शक्ति और संकल्प की शक्ति लेकर आए हैं और इस शक्ति के द्वारा हम विश्व-शांति की बात को आगे बढ़ाना चाहते हैं।

बंधुओ! यहां आपको दो दिन ठहरना है, दिन-रात एकांत का समय है, यहां उद्योग का प्रदूषण नहीं है। इस वातावरण में आप ठंडे दिमाग से निर्णय लेंगे कि हमें इन संकल्पों को स्वीकार कर नए प्रकाश का अवतरण विश्व में करना है। नावें के राजदूत उपस्थित हैं। ये सभी इस बात को राजदूतावास के साथ जोड़ेंगे, आगे बढ़ा पाएंगे।

बंधुओ! हमारे पास आपको देने के लिए धन नहीं है। हम स्वयं भी धन नहीं रखते। एक पैसा भी हमारे पास नहीं है। हम आपको विदा के क्षणों में त्याग, व्रत और नैतिकता की महान् शक्ति देना चाहेंगे और वह शक्ति आपकी सबसे बड़ी शक्ति बनेगी।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

नए मनुष्य का जन्म और अणुव्रत

विकास की प्रक्रिया निरंतर गतिमान है। केवल विकास की ही नहीं, ह्रास की प्रक्रिया भी चलती रही है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी का कालचक्र चलता रहता है। हर युग में मनुष्य ने कल्पना की-विकास हो, आदमी अधिक अच्छा बने, समाज और राष्ट्र अच्छा बने। विकास की कामना की है और उसके लिए प्रयत्न भी किया है। इतिहास को देखें-ढाई हजार वर्ष, तीन हजार वर्ष, पांच हजार वर्ष अतीत में जाएं तो पता चलेगा-वर्तमान को और भी अच्छा बनाने का प्रयत्न कृष्ण ने किया, महावीर ने किया, बुद्ध ने किया, अनेक मनीषी विद्वानों और आचार्यों ने किया। सब चाहते हैं कि आदमी और अच्छा बने। वर्तमान दशकों में वैज्ञानिक जगत् में भी विकास की प्रक्रिया का चिन्तन चला है। उसी का प्रतीक साहित्य है डाफ्लर का 'थर्ड वेव', काप्लर का 'ताओ फिजिक्स'। ये पुस्तकें इस ओर इंगित करती हैं कि कुछ नया होना चाहिए।

ज्ञाता-प्रधान मनुष्य की कल्पना

आइंस्टीन जैसे वैज्ञानिक ने मानव के संदर्भ में एक कल्पना की-आदमी ज्ञाता-प्रधान बने। वह अब तक ज्ञेय-प्रधान रहा है, अब ज्ञाता-प्रधान को प्रमुखता मिलनी चाहिए और आदमी को ज्ञाताप्रधान होना चाहिए। आइंस्टीन से पूछा-'आगे आप क्या होना चाहते हैं?' उन्होंने उत्तर दिया-'इस जन्म में मैंने ज्ञेय (ऑब्जेक्ट) पर ज्यादा काम किया है, अब मैं चाहता हूँ कि अगले जन्म में ज्ञाता (सब्जेक्ट) पर ज्यादा काम करूँ और उस ज्ञाता को जानने का प्रयत्न करूँ, जो जानने वाला है। अब तक तो जाना जाता है, उस पर काम किया है। अब उस पर काम करना चाहता हूँ, जो जानने वाला है।'

नए मानव का सपना

एक नया प्रकल्प, नया कान्सेप्ट सामने आता रहा है। महात्मा गांधी ने भी मनुष्य को अच्छा बनाने का मॉडल पेश किया। महर्षि अरविन्द ने मानव से संतोष नहीं माना, उन्होंने अतिमानव की कल्पना की।

सब चाहते हैं कि विकास हो और कुछ नया हो। अणुव्रत अनुशास्ता ने भी कल्पना की—नए मानव का जन्म हो। बड़ी मोहक है नए मानव के जन्म की बात। नए मानव के जन्म का तात्पर्य है—नए मस्तिष्क की संरचना।

मस्तिष्क विज्ञानियों ने मस्तिष्क की तीन परतें बतलाई हैं—

लिंबिक सिस्टम रेप्टेलियन नियोकार्टेक्स

प्रश्न यह है—वर्तमान समाज किस परत से ज्यादा प्रभावित है? व्यक्ति सोचता है—इतना पढ़ा-लिखा आदमी है, उसने रिश्वत कैसे ली? उस बुद्धिमान आदमी ने आत्महत्या कैसे की? इतने समझदार आदमी ने बैंक डकैती कैसे की? ये प्रश्न उठते हैं, मानव-मन को झकझोरते हैं। इस प्रश्न का उत्तर प्राचीनकाल में अपने ढंग से दिया गया था। जैन आचार्यों ने कर्मवाद की भाषा में इसका उत्तर दिया—मोहकर्म के प्रभाव से ऐसा होता है। गीता में श्रीकृष्ण से पूछा गया—‘न चाहता हुआ भी आदमी पाप करता है, इसका कारण क्या है? कृष्ण ने उत्तर दिया—‘काम और क्रोध, ये अपराध करा रहे हैं।’ आज का वैज्ञानिक न मोह को जानता है, न काम और क्रोध को महत्व देता है। उसका निर्णय दूसरा है और वह यह है—जब-जब आदमी मस्तिष्क की रेप्टेलियन परत के प्रभाव में होता है, तब-तब अन्याय और अत्याचार करता है, अतिक्रमण करता है, आतंक फैलाता है। सारे अपराध इस रेप्टेलियन मस्तिष्क के प्रभाव-काल में होते हैं।

मस्तिष्क-विद्या का मत

मस्तिष्क-विद्या के अनुसार माना गया—यह परत लाखों वर्ष पुरानी है, सरीसृप जाति में इसका विकास हुआ था। वही परत आज तक मनुष्य के मस्तिष्क में है। आज के वैज्ञानिक यह नहीं मानते—साम्प्रदायिक उन्माद मुल्ला-पंडितों के कारण होता है। ये तो निमित्त बन जाते हैं पर यह जो साम्प्रदायिक अभिनिवेश होता है, कलह और झगड़े होते हैं, ये सारे उस रेप्टेलियन परत के कारण होते हैं। इतना अवश्य होता है कि हमारे जो बड़े-बड़े धर्मगुरु हैं, वे उसको उभार देते हैं, व्यक्ति को उसके प्रभाव में ले जाते हैं। अगर मस्तिष्क में यह परत न हो तो हजार प्रयत्न करने पर भी कुछ नहीं होगा। जितना जातीय उन्माद और साम्प्रदायिक अभिनिवेश है, वह इस परत के कारण होता है।

कब होगा नए मनुष्य का जन्म?

नए मनुष्य की परिकल्पना का तात्पर्य है—मस्तिष्क की नई संरचना हो और मस्तिष्क का प्रभाव-क्षेत्र हम दूसरी दिशा में ले जाएं। जो पाशविक मस्तिष्क (एनीमल ब्रेन) है, उसके प्रभाव को सीमित कर नियोकार्टेक्स, जो हमारे मस्तिष्क की सबसे अंतिम परत है, के प्रभाव में ले जाएं। इससे हमारी दिशा बदल जाएगी। वास्तव में नए मनुष्य का जन्म होगा, जिसमें जातीय उन्माद और साम्प्रदायिक अभिनिवेश नहीं होगा, जो अनावश्यक हिंसा नहीं करेगा।

अणुव्रत ने इन तीन तत्त्वों और सिद्धान्तों को सामने रखा—

अनावश्यक हिंसा मत करो।

जातीय उन्माद मत फैलाओ, छुआछूत मत करो।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

साम्प्रदायिक अभिनिवेश मत करो। धर्म के नाम पर भूमि को रक्तरंजित मत करो।

ये तीन बातें होंगी तो सचमुच नए मनुष्य का जन्म होगा। वह ऐसा मनुष्य होगा, जो धरती पर रहने लायक होगा और धरती को रहने लायक बनाएगा। आकाश में नगर बसाने के सपने ले रहा है आज का आदमी। कहा जा रहा है—पाताल में भी नगर बसाए जाएंगे। पर क्या बसने वाला आदमी आकाश में से टपकेगा? बसने वाला यही आदमी तो होगा। फिर वहां भी अशान्ति कैसे नहीं होगी? सबसे पहले वह धरती पर रहने लायक तो बने। वह तभी ऐसा बन पाएगा, जब उसकी यह अहं वृत्ति छूट जाएगी।

पौराणिक कहानी है। एक स्त्री और पुरुष—दोनों के मन में साधना की भावना जागी। दोनों एक-साथ निकले, किन्तु अलग-अलग दिशाओं में। वर्षों तक उन दोनों ने सफल साधना की। इस काल में उन्हें कुछ सिद्धियां भी प्राप्त हुईं। साधना संपन्न कर दोनों वापस आए। मार्ग में फिर मिले। एक दूसरे को प्रणाम किया। पुरुष के मन में अहं काम कर रहा था। स्त्री ने बात करने की चेष्टा की तो पुरुष ने कहा—यहां क्या बात करें? चलो, उधर जलाशय के पानी पर चलते हुए बात करें। स्त्री समझ गई कि यह अहंकार बोल रहा है। वह बोली—वहां क्या बात होगी, चलो आकाश में उड़ते हुए बातें करें। पुरुष का अहं शान्त हो गया। वह उड़ने की विद्या से अनभिज्ञ था। स्त्री ने मुसकराते हुए कहा—किस बात का अहंकार! आखिर छोटी-सी मछली भी पानी पर चल सकती है और नाचीज मक्खी भी आकाश में उड़ सकती है। क्यों नहीं हम साधना के द्वारा ऐसी स्थिति का निर्माण करें, जिससे हम धरती पर चल सकें, धरती को रहने लायक बना सकें।

जंगल-राज की स्थिति

आज ऐसा लगता है कि यह धरती रहने के लायक नहीं है। इस पर रहना पड़ता है, किन्तु रहने लायक है नहीं। यहां इतनी कठिनाइयां पैदा हो गई हैं कि जीना दूभर हो गया है। ऐसे महानगरों की स्थिति कितनी बदतर है, जहां पचास लाख, अस्सी लाख और एक करोड़ तक लोग रहते हैं। इस बात को हर कोई जानता है। दिन दहाड़े लूट लेने वाले गिरोह, फुटपाथ पर बैठने का भी चंदा वसूल लेने वाले दादा और गुण्डे, अपहरण कर फिरौती वसूल करने वाले गैंग, आंखों में धूल झोंक कर जेब काटने वाले ठग, इन सबसे भरे पड़े हैं हमारे महानगर। ऐसा लगता है न्याय और व्यवस्था नाम की कोई चीज नहीं है, जंगल-राज की स्थिति है। ऐसी स्थिति में धरती सचमुच रहने लायक नहीं है।

नए मनुष्य की रचना के लिए मस्तिष्क पर ध्यान देना होगा। बहुत-सारे लोग समाज की व्यवस्था में परिवर्तन लाने हेतु प्रयत्नशील हैं। अर्थ-व्यवस्था को बदलने के लिए भी बहुत-सारे लोग लगे हुए हैं। इस शताब्दी में समाज-व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था को बदलने के लिए अनेक प्रयत्न हुए हैं और हो रहे हैं। वे प्रयत्न कितने सफल हुए हैं, यह एक प्रश्न है। उन प्रयत्नों के बावजूद न तो अभी तक समाज की व्यवस्था बदली है और न अर्थ-व्यवस्था बदली है। गरीबी, भुखमरी और महंगाई पर नियंत्रण की घोषणाएं चुनाव घोषणापत्रों में बन्द पड़ी रह गई हैं। इतना काम अवश्य हुआ है कि गरीब और ज्यादा गरीब हुआ है, अमीर और ज्यादा अमीर हुआ है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

परिवर्तन के दो उपाय

आज अध्यात्म और विज्ञान—दोनों के संदर्भ में चिन्तन करें तो इस असफलता के कारण को खोजा जा सकता है। आध्यात्मिक कारण यह है—काम, क्रोध, कषाय, अहंकार, लोभ इन्हें उपशान्त करने की प्रक्रिया समाज नहीं अपना रहा है बल्कि उन्हें और अधिक उद्दीप्त कर रहा है। अगर कषाय को शान्त करने की शिक्षा और प्रक्रिया चले तो समाज-व्यवस्था भी बदल सकती है, अर्थ-व्यवस्था भी बदल सकती है। विज्ञान के संदर्भ में इसका कारण है मस्तिष्क के बायें पटल का अत्यधिक सक्रिय होना। मस्तिष्क के दायें पटल को जाग्रत करने का प्रयत्न नहीं हो रहा है। मेरी दृष्टि में व्यवस्था को बदलने के ये दो उपाय सबसे अच्छे हैं। किन्तु आज स्थिति यह है—मोटर को तो बदला जा रहा है, ठीक किया जा रहा है, किन्तु चलाने वाले के प्रति हम उदासीन हैं। वायुयान बहुत अच्छा बना लें, मोटर कार बहुत अच्छी और तीव्रगामी बना लें, जलपोत अत्यन्त उन्नत किस्म का बना लें, किन्तु यदि पायलट, ड्राइवर और कप्तान को कुशल नहीं बनाया गया तो ये तीनों विनाश के साधन सिद्ध होंगे। समस्या यही है—जिस पर ध्यान देना चाहिए, उस पर हमारा ध्यान नहीं जा रहा है और जिस पर हमें ध्यान देना तो चाहिए, किन्तु एक सीमा तक ध्यान देना चाहिए, उस पर समग्र ध्यान केन्द्रित किया जा रहा है।

बदलाव के कारक तत्त्व

अणुव्रत कहता है—जब तक व्यक्ति अच्छा नहीं बनेगा, व्यवस्था बन जाने पर भी वह अच्छी नहीं रह पाएगी, टिक नहीं पाएगी। क्या संविधान राष्ट्र का अच्छा नहीं है? क्या कानून की न्याय-संहिता अच्छी नहीं है? ये बहुत अच्छे हैं किन्तु महत्व इस बात का है—संविधान की क्रियान्विति करने वाले, न्याय देने वाले कैसे हैं? मूल प्रश्न है—इस स्थिति का सम्यक्करण कैसे किया जाए? इसका समाधान सूत्र है—रेप्टेलियन मस्तिष्क की परत को सक्रिय बनाएं। इस स्थिति को न राजनीतिक दल बदल सकते हैं, न बड़े-बड़े इंस्टीट्यूट और संस्थान बदल सकते हैं।

इस स्थिति में बदलाव के कारक तत्त्व तीन हैं— प्राथमिक शिक्षा संचार माध्यम धर्मगुरु।

शिक्षा

नए मस्तिष्क की संरचना में प्राथमिक शिक्षा का बहुत महत्व है। शिक्षा के द्वारा बच्चे के मस्तिष्क का विकास होता है। उस विकास में किस परत को ज्यादा प्रभावी बनाया जा सके, इसकी सारी व्यवस्था पांच-दस वर्ष की अवस्था के बीच में होती है। अगर हमारी प्राथमिक शिक्षा सम्यक् रूप से हो जाए तो फिर महाविद्यालयी और विश्वविद्यालयी शिक्षा के लिए चिन्ता करने की जरूरत नहीं है। सारी प्रक्रिया ठीक चलेगी। सबसे महत्वपूर्ण समय है प्राथमिक शिक्षा का। हायर सेकेण्डरी तक बच्चे को ठीक बनाया जाए, उसके मस्तिष्क पर ध्यान दिया जाए तो समाज-व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था को बदला जा सकता है, शोषण को मिटाया जा सकता है, भ्रष्टाचार और अपराध पर काबू पाया जा सकता है।

संचार माध्यम

दूसरा घटक है संचार माध्यम। संचार माध्यम यह संकल्प लें—ऐसी घटना, ऐसा संवाद प्रेषित नहीं



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

करेंगे, जिससे पाशविक मस्तिष्क को उत्तेजना मिले, उद्दीपन मिले। ऐसा हो जाए तो स्थिति में काफी सुधार की गुंजाइश बन सकती है।

धर्मगुरु का दायित्व

धर्मगुरु का काम इसमें सबसे महत्वपूर्ण हो सकता है। धर्मगुरु अपने-अपने अनुयायियों को एक संकल्प दिलाएं—बच्चों में अच्छे संस्कारों का निर्माण करना है और उनके पाशविक मस्तिष्क को निष्प्रभावी बनाना है तो स्थिति को बदला जा सकता है।

कठिनाई यह है—शिक्षा स्वयं समस्या बनी हुई है। शिक्षा को जो देना चाहिए, वह तो नहीं दे रही है और जो नहीं देना चाहिए, वह ज्यादा दिया जा रहा है। हमने शिक्षा के बारे में एक सूत्र को बार-बार दोहराया है और वह यह है—जितना पढ़ाया जा रहा है, चिन्तन करें कि उसे कैसे कम किया जा सकता है और जो नहीं पढ़ाया जा रहा है, चिन्तन करें कि उसे कैसे जोड़ा जा सकता है। कैसे कितना छोड़ा जा सकता है और कैसे कितना जोड़ा जा सकता है? इस फार्मूले पर जब तक हमारे शिक्षा-शास्त्री, शिक्षाधिकारी चिन्तन नहीं करेंगे, कोई परिवर्तन संभव नहीं लगता। हमारे संगठन हजार प्रयत्न करें समाज-व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था को बदलने का, शायद संभव नहीं होगा।

संचार माध्यम भी इस दिशा में प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। आज के अखबारों में, रेडियो की न्यूज में और टेलीविजन के पर्दे पर जो सामने आता है, वह ऐसा नहीं है कि व्यक्तित्व का निर्माण कर सके या पाशविक मस्तिष्क को परिष्कृत कर सके।

धर्मगुरु भी इस दिशा में सचेष्ट नहीं हैं। वे इस बात में सचेष्ट हैं कि मेरा भक्त भक्त बना रहे, गद्दी कायम रहे। इस चिन्ता में ज्यादा लगे हुए हैं, सुधार की बात कुछ कम चल रही है। तीन ही क्षेत्र हैं बदलने वाले और तीनों ही इस दिशा में निष्क्रिय प्रतीत हो रहे हैं।

सूक्ष्म की ओर जाएं

जब तक स्थूल जगत् से सूक्ष्म जगत् में प्रवेश नहीं करेंगे, समस्या का समाधान कठिन है। विज्ञान ने सूक्ष्म जगत् में प्रवेश किया। परिणामस्वरूप आज बहुत सारी सचाइयां उजागर हुई हैं, बहुत महत्वपूर्ण आविष्कार हो गए हैं और बहुत बड़ा निर्माण हो गया है। यदि विज्ञान स्थूल में अटका रहता तो यह संभव नहीं होता। कभी धर्म ने भी सूक्ष्म जगत् में प्रवेश किया था। धर्म का लक्ष्य और उद्देश्य ही था स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना। पर वह भी भटक गया, स्थूल में ही उलझ कर रह गया। जो आंखों के सामने है, जो तृप्ति दे रहा है, जो अच्छा लग रहा है, उसमें उलझ गए। भीतर में हमारा प्रवेश ही नहीं हो रहा है।

उपनिषद् का प्रसंग है। ऋषि उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा—तुम जाओ और सामने जो वटवृक्ष दिखाई दे रहा है, उसका एक फल तोड़कर लाओ। श्वेतकेतु गया और फल तोड़कर ले आया। ऋषि बोले—अब इसे तोड़ो। श्वेतकेतु ने तोड़ा। उद्दालक ने पूछा—इसमें क्या देख रहे हो? श्वेतकेतु ने कहा—इसमें बीज देख रहा हूं। आदेश दिया—बीज को तोड़ो। बीज को तोड़ा। पूछा—इसमें क्या देख रहे हो? श्वेतकेतु



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

बोला—इसमें तो कुछ भी नहीं है। उद्दालक ने कहा—जो कुछ है, इसी में है। तुम स्थूल में गए हो, सूक्ष्म में जाओ, तुम पाओगे—इसमें एक वटवृक्ष है।

हम उस सूक्ष्म में नहीं जा रहे हैं, जहां बदलने की क्षमता है। जहां जाने पर बदला जा सकता है, परिवर्तन किया जा सकता है, वहां हम नहीं जा रहे हैं और जहां बदला नहीं जा सकता, उस स्थूल की परिक्रमा चल रही है।

कानून की प्रकृति : व्रत की प्रकृति

अणुव्रत दर्शन में इस सूक्ष्म की ओर ध्यान केन्द्रित किया गया है। व्रत का तात्पर्य ही है आत्मा का संकल्प। यह कोई कानून नहीं है। कानून की प्रकृति अलग होती है और व्रत की प्रकृति अलग होती है। कानून वह होता है, जहां आदमी देखे, वहां कानून का पालन और जहां न देखे, वहां उसका उल्लंघन। रिश्वत लेनी है तो लोगों के बीच में नहीं ली जाती। घर में अकेले पहुंच जाने पर स्वीकार कर ली जाती है। उसमें कानून कोई बाधा नहीं बनता। कानून तब बाधा बनता है, जब दूसरा कोई देख रहा हो। व्रत वह होता है, जहां कोई देखता है तो व्यक्ति जागरूक रहता है और नहीं देखता है तो ज्यादा जागरूक बनता है। वह उस समय सोचता है—दूसरा कोई नहीं देख रहा है, लेकिन आत्मा तो देख रही है, परमात्मा तो देख रहा है। उस समय जागरूकता ज्यादा बढ़ जाती है। राशनिंग प्रणाली लागू होते ही एक ही रात में सारा खाद्यान्न न जाने कहां गायब हो जाता है? इस संदर्भ में सरदारशहर के एक व्यक्ति का उल्लेख करना चाहूंगा। चीनी का कण्ट्रोल हुआ। सेठ सुमेरमलजी दूगड़ के यहां चीनी की बोरियां भरी पड़ी थीं। उन्होंने पूरे परिवार के साथ चाय बिना चीनी के ली, किन्तु एक किलो भी चीनी उन बोरियों से नहीं निकाली। कौन देखने वाला था? कौन पकड़ने वाला था? चीनी के बोरे घर में पड़े थे। यह है व्रतनिष्ठा का निदर्शन।

विकास की अवधारणा

यह कानून नहीं, व्रत है। व्रत हमारी सूक्ष्म चेतना का स्पर्श करता है। जो सूक्ष्म चेतना का स्पर्श करता है, वह व्रत है और जो स्थूल चेतना का स्पर्श करता है, वह कानून है। हमने शायद कानून पर ज्यादा भरोसा कर रखा है, व्रत पर हमारी श्रद्धा कम है। अगर कानून के साथ व्रत भी चले, दोनों एक साथ चलें, तो स्थिति को बदला जा सकता है। इसके लिए सबसे पहले हमें अपनी अवधारणा बदलनी होगी। नए मनुष्य की कल्पना करेंगे तो विकास की अवधारणा भी बदलनी पड़ेगी। आज विकास भी स्थूल भाषा में चल रहा है। विकसित राष्ट्र या समाज वह है, जिसके नागरिकों के पास खाने-पीने की प्रचुर सामग्री है, अच्छे मकान, कार, रेडियो और टी.वी. हैं, सुख-सुविधा के प्रभूत साधन हैं। इस आधार पर हमने विकास की अवधारणा को परिभाषित कर दिया, किन्तु इसके साथ यह नहीं जोड़ा—जिसका मस्तिष्क विकसित है, वह विकसित है। साधन-संपन्नता और आर्थिक संपन्नता होने पर भी भ्रष्टाचार चलता है। आप सब जानते हैं कि कब किस राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री को भ्रष्टाचार के आरोप का सामना करना पड़ा है। कुछ राष्ट्रों के प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति तो जेल में भी गए हैं।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

एकमात्र विकल्प

प्रश्न है—इतना बौद्धिक विकास होने के उपरान्त भी ऐसा क्यों हो रहा है? इसलिए हो रहा है कि आज तक हमने वांछनीय मस्तिष्क की परत को जगाने का प्रयत्न कम किया है और अवांछनीय मस्तिष्क की परत को उत्तेजना देने का प्रयत्न ज्यादा किया है। अणुव्रत का यह जो संकल्प है स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने का, कानून से व्रत की चेतना को जगाने का और मस्तिष्क की पाशविक परत को निष्प्रभावी बनाकर मानवीय परत को विकसित करने का, बस यही नए मनुष्य का जन्म है। इस जन्म के आधार पर हम कल्पना कर सकते हैं कि नए युग का प्रारम्भ, नए समाज का प्रारम्भ होगा। काम बहुत कठिन है, सरल नहीं है, किन्तु मुझे लगता है कि इसका एकमात्र विकल्प है तो यही है। कषाय का उपशमन, पाशविक ब्रेन को निष्क्रिय करने की दिशा में प्रस्थान, शिक्षण और प्रशिक्षण—अगर इन बातों पर हमारा ध्यान केन्द्रित हो तो अणुव्रत अनुशास्ता का स्वप्न साकार हो सकता है, नए मनुष्य का जन्म संभव बन सकता है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

पूँजीवाद और अणुव्रत

पूँजी के साथ जब से वाद जुड़ा है तब से विकृतियां आई हैं। वैसे पूँजी दुनिया की सबसे बड़ी शक्तियों में से एक है। जीवन-व्यवहार में कुछ ऐसी शक्तियां होती हैं, जिनके आधार पर व्यक्ति जीता है। जीवन में उन शक्तियों की नितान्त आवश्यकता होती है। शक्तिहीन को दुनिया में कोई भी नहीं चाहता, उसे आदर नहीं मिलता। आग जलती है तो उस पर सबका ध्यान रहता है लेकिन बुझी आग पर छोटा बालक भी पैर रखकर निकल जाता है। जलती आग में तेज है इसलिए उसके प्रति आदर है किन्तु राख के प्रति नहीं। इसलिए महाभारत में विपुला ने अपने पुत्र से कहा—‘पुत्र! तुम प्रज्वलित अग्नि की तरह तेज बनकर भले एक मुहूर्त के लिए जीओ, यह अच्छा है किन्तु धुआं बनकर चिरकाल तक जीना अच्छा नहीं।’

आकर्षण पर टिका है संसार

जहां शक्ति है वहां आकर्षण है, वहीं झुकाव होता है। यह सारा संसार आकर्षण के कारण ही टिका हुआ है अन्यथा उथल-पुथल और प्रलय मच जाता। धन दुनिया की बड़ी शक्ति है, इससे जीवन की व्यवस्था बनती है, अन्यथा गड़बड़ा जाती है। भूख लगने पर रोटी चाहिए, दूध-फल आदि की आवश्यकता है। वस्त्र, मकान आदि की जरूरत है और इन सबका क्रय-विक्रय पैसे के आधार पर होता है। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं कि पूँजी और धन इन सब वस्तुओं की प्राप्ति के लिए आवश्यक होता है। इसीलिए संस्कृत कवियों ने ‘सर्वे गुणा कांचनमाश्रयन्ति’ तक कह दिया। जिसने पूँजी को ठुकराया और त्यागा, वह भी पैसों के आकर्षण में आ जाता है। पूँजी और अर्थ का महत्त्व मानना ही होगा।

आज पूँजीवाद शब्द विकृत हो गया है। पूँजीवाद से बोध होने लगा पिछड़ेपन का। पूँजीवाद खून चूसने और शोषण करने का प्रतीक बन गया। पूँजी बुरी नहीं, वाद बुरा है। इसी वाद से बुराई होती है। पूँजीवाद भी शब्दों के जाल की तरह विकृत बना है।

बीत गया निधान का युग

अणुव्रत अर्थात् संयमन। सब चीजों के साथ साथ पूंजी और पैसों का भी संयमन करें। प्रश्न होगा कि यदि पैसा शक्ति है तो फिर संयमन क्यों? एक व्यापारी पूंजी के संयम की कभी नहीं सोचता। दिल्ली में एक उद्योगपति से मैंने पूछा—चालीसों फैक्टरियां होते हुए भी नए-नए कारखाने क्यों खोल रहे हो? उन्होंने कहा—एक फैक्टरी के लिए दूसरी पूरक फैक्टरी खोलनी ही पड़ती है। आज अर्थ को गाड़कर रखने का युग नहीं है, निधान का युग बीत गया। पैसों को घूमते रहना चाहिए। दिल्ली में पूज्य गुरुदेव के दर्शनार्थ आए एक जर्मन अर्थशास्त्री ने कहा—अर्थ को घुमाते रहना चाहिए। उसे निकम्मा नहीं रखना चाहिए।

अर्थशास्त्र की नीति

आज के अर्थशास्त्र की नीति है—परिवर्तन और पूंजी का संक्रमण। इससे पूंजी का विकास होगा। संग्रह के विकास पर भी नया शास्त्र आ गया है। मार्क्स ने समाजवाद पर बल देते हुए जब कहा कि पूंजी का एकत्रीकरण नहीं करना चाहिए, तब वह नया लगा लेकिन दार्शनिक दृष्टि से यह पुराना विचार है। यह दुनिया किसी एक व्यक्ति की दुनिया नहीं, इस दुनिया में किसी एक को ही जीने और सुख से रहने का अधिकार नहीं है। आज कर्म के बारे में पुरानी विचारधाराओं को नहीं माना जा सकता। केवल भाग्य से ही दुःख और सुख की बात प्रमाणित नहीं हो सकेगी। जिन्होंने पुरुषार्थ और कर्तृत्व पर भरोसा किया, उन्होंने अपने भाग्य को बदल डाला।

बदला है युग

एक युग था जब राजाओं को ईश्वर का अवतार माना जाता था। ईश्वर के अवतार की बात पुरानी पड़ गई। अब यहां कोई राजा ईश्वर का अवतार नहीं। कोई भी साधारण व्यक्ति जन्म लेता है और अपने पुरुषार्थ से, अपने कर्तृत्व से राजा से भी बड़ा आज के युग का राष्ट्रपति बन जाता है। पुराने राजा से आधुनिक राष्ट्रपति अथवा प्रधानमंत्री का अधिकार बहुत अधिक है।

आज स्थिति में अन्तर आ गया है। कर्मवाद के सिद्धान्त में अन्तर नहीं आया है, बल्कि त्रुटिपूर्ण धारणाओं में सुधार करने का मौका मिला है। पुराने जमाने में स्त्रियों को शिक्षण नहीं देने की बात कही जाती थी। लेकिन आधुनिक युग में वह स्थिति बदल गई है।

बुराई की जड़ है परिग्रह

पूंजी सामाजिक तत्त्व है। अमुक-अमुक व्यक्ति का उस पर अधिकार नहीं है। चिन्तन की यह देन भगवान् महावीर की है। संत विनोबा ने भी कहा है—बुराइयों के दो कारण हैं—आरम्भ और परिग्रह। आरम्भ और परिग्रह से बुराइयां पनपती हैं। धार्मिक माने जाने वाले के क्रूर कार्यों को देखकर उन्हें धार्मिक कहना जंचता नहीं। मनुष्य अज्ञानी नहीं है। वह भेड़िया और जंगली पशु भी नहीं है, जो भूखा होकर किसी पर झपट पड़े। फिर वह ऐसा क्यों करता है? वह परिग्रह के कारण झपटता है। जिसके हाथ में परिग्रह है, वह सब कुछ कर सकता है—यह विचार बढ़ा कि उसने मनुष्य में मतिभ्रम पैदा कर दिया है। उनकी सारी आस्था इस विचार के कारण हट जाती है। इसलिए क्राइस्ट ने कहा—‘ऊंट का सूई की नोक से निकलना सम्भव है किन्तु धनी व्यक्ति का स्वर्ग में प्रवेश असम्भव है।’



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

व्रत का चिन्तन

महावीर, कृष्ण, बुद्ध, ईसा किसी का भी हो, यह विचार सही था कि परिग्रह के प्रति आसक्ति नहीं हो। यह था व्रत का चिन्तन। परिग्रह रखने का अधिकार किसी को नहीं है, यह आज के अधिकार की भाषा है। जहां राजनीति है वहां अधिकार की भाषा होगी। अपरिग्रह की बात पाप और धर्म की भाषा में कही गई थी। यदि वह पुरानी बन गई तो उसे युगानुकूल रखना होगा। अध्यात्म ने कहा कि परिग्रह और संग्रह नहीं करें। उसने जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं पर रोक नहीं लगाई। यदि जीवन की आवश्यकताओं पर रोक लगाई जाती तो हिन्दुस्तान भिखारियों का देश होता, यद्यपि कुछ लोगों ने धर्म के नाम पर भिखारीपन को बढ़ावा दिया है, भिखारी बढ़ाए हैं।

जिसके पास दो हाथ और दस अंगुलियां हैं, उसे किसी अन्य से कुछ नहीं चाहिए। सब रचनाएं इन दस अंगुलियों से ही टपकती हैं। चित्र, काव्य, निर्माण और बीज सब इन दो हाथों की दस अंगुलियों की ही संरचनाएं हैं। यह पुरुषार्थ का सिद्धान्त था, जिसके आधार पर यह सिद्धान्त आया—जो पुरुषार्थ करो उसमें दूसरों का हिस्सा मत लो। यह अचौर्य की परिभाषा है। दूसरों की चीज उठाना ही चोरी नहीं है बल्कि भागवत में कहा है—‘जितने से व्यक्ति का पेट भरता है उतना ही उसका स्वत्व है। उतने का ही वह अधिकारी है। अधिक संग्रह करने वाला चोर है और वह दण्ड का भागी है।’ शायद इतना कठोर आदेश मार्क्स और लेनिन ने भी नहीं दिया।

प्राकृतिक चिकित्सा है अणुव्रत

दूसरों को प्राप्त होने वाले तत्व को रोक देने की प्रवृत्ति ठीक नहीं। तुंगभद्रा को बांधना ठीक हो सकता है लेकिन यदि नहीं निकाली जाएं तो वह प्रलय मचा सकता है। धन की प्रक्रिया क्या इससे भिन्न हो सकती है? विसर्जन की प्रणाली से रहित संग्रह क्या खतरनाक नहीं होता? पूंजीवाद के संशोधन के प्रयास हो रहे हैं लेकिन गुल्थी सुलझी नहीं है। आर्थिक कठिनाइयों से मनुष्य यन्त्र बन गया। होना यह चाहिए कि संग्रह भी न हो और मनुष्य का स्वतंत्र अस्तित्व भी रहे, उसकी इकाई बनी रहे। इस बिन्दु पर अणुव्रत की उपयोगिता सामने आती है। हृदय-परिवर्तन के द्वारा जो संग्रह की समस्या सुलझेगी वह दोष से मुक्त होगी। यह अणुव्रत एलोपैथिक चिकित्सा नहीं है, जो रोग को दबा दे। अणुव्रत प्राकृतिक चिकित्सा है, जहां दोष दबाए नहीं जाते, नष्ट किए जाते हैं।

हृदय-शुद्धि की प्रक्रिया

व्रत व्यक्ति के हृदय-शुद्धि की प्रक्रिया है। समाजवाद में व्यवस्था है किन्तु अध्यात्म और हृदय-परिवर्तन नहीं रहने के कारण वहां अधिनायकवाद पनपता है। व्रत के साथ हृदय-परिवर्तन है किन्तु वहां व्यवस्था की ओर ध्यान न दिए जाने के कारण जीवन पद्धति और व्रत में तालमेल नहीं बैठता। व्रत और व्यवस्था दोनों का सामंजस्य होगा तभी नया परिणाम आएगा। व्यवस्था का सुधार हो और व्रत का जीवन में प्रयोग। व्रत की भावना विकसित हो। सरकार व्यवस्था में परिवर्तन करे। रूपक की भाषा में कहना चाहूंगा कि जिस दिन ऋषि और राजनीतिज्ञ का समन्वय होगा तभी यह समस्या सुलझेगी। अध्यात्म और राजनीति दोनों विपरीत दिशाओं में न चलकर समानान्तर रेखा पर चलेंगे, तब समाधान के निकट जाएंगे। अध्यात्म और व्यवस्था का योग होने से पूंजीवाद के दोष समाप्त होंगे, पूंजीवाद की शुद्ध शक्ति सामने आएगी और विकृति मिट जाएगी। तब फिर वर्गों का तनाव, संघर्ष और परस्पर काटने की बात नहीं होगी। भय नहीं होगा, तनाव नहीं होगा क्योंकि वहां संविभागी व्यवस्था होगी।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अणुव्रत का आर्थिक दर्शन

गुरु ने शिष्य को आत्मज्ञान दिया। शिष्य आत्मज्ञानी बन गया। विद्या-सत्र संपन्न हुआ। शिष्य बोला—‘गुरुदेव! मैं आपको गुरु-दक्षिणा देना चाहता हूँ।’

गुरु बोले—‘मुझे आवश्यकता नहीं है।’

शिष्य ने प्रार्थना की—‘मैं अवश्य देना चाहता हूँ।’

गुरु—‘तुम्हारी इतनी ही इच्छा है तो दे दो पर वह वस्तु लाओ, जो उपयोगी न हो, दूसरे के काम की न हो।’

शिष्य ने एक एक वस्तु पर ध्यान देना शुरू किया तो धूल, मिट्टी तक पहुंच गया। उसने सोचा—पैसा उपयोगी, मकान उपयोगी, कपड़ा उपयोगी पर मिट्टी तो अनुपयोगी है। ध्यान दिया तो पता चला कि मिट्टी भी बहुत उपयोगी है। इसके बिना तो बीज अंकुरित ही नहीं होता। बीमारी मिटाने के लिए मिट्टी की पट्टी की बड़ी उपयोगिता है। उसे कोई वस्तु अनुपयोगी मिली नहीं। वह अंतर्मुखी हुआ, ध्यान दिया तो पता चला—सारी वस्तुएं उपयोगी हैं। एक अहं है, जिसका कोई उपयोग नहीं है। वह गुरु के पास गया, बोला—‘गुरुदेव! आपने कहा कि गुरु-दक्षिणा में वह वस्तु दो जो उपयोगी न हो। मुझे वह वस्तु बाह्य दुनिया में मिली नहीं। केवल एक ही वस्तु मिली, वह भी भीतरी दुनिया में और वह है—मेरा ‘अहं’, जो आपके चरणों में समर्पित करता हूँ। गुरु-दक्षिणा हो गई।’

क्या है अर्थ अथवा संपत्ति?

प्रस्तुत संदर्भ में संपत्ति-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से विचार करें। संपत्ति क्या है? अर्थ क्या है? जो जीवन के लिए आवश्यक है, वह अर्थ है। वह हर वस्तु, जिसका जीवन में आवश्यकतानुरूप उपयोग होता है उसका नाम है—संपत्ति। आलमारियों में जो सोना पड़ा है और लॉकर में जो गहना पड़ा है वह भी

अर्थ है। बाहर जंगल में टीलों पर रेत पड़ी है वह भी उपयोगी है। इस बालू का अर्थ नहीं है ऐसा हम नहीं मान सकते। आज तो बालू की ईंटें भी बनने लग गई हैं। सब पदार्थ—जितनी हमारी दृश्य वस्तुएं हैं, जो दीखती हैं वे सब अर्थ हैं।

प्रश्न अर्थ की व्यवस्था का

अब प्रश्न रहा अर्थ की व्यवस्था का। संपत्ति सबके काम की है। एक समस्या है—संपत्ति कम और उपभोक्ता ज्यादा। संपत्ति सबको सुलभ नहीं है, अर्थ सबको सुलभ नहीं है। इस स्थिति में व्यवस्था की बात आती है। व्यवस्था होनी चाहिए, जिससे कि सबकी आवश्यकता की पूर्ति हो सके। कोई कष्ट में न रहे और कोई बेघर-बार न रहे। कोई वस्त्र के बिना न रहे। जितनी जीवन की प्राथमिक अनिवार्य आवश्यकताएं हैं उनसे वंचित न रहे।

इस शताब्दी में समाजवादी या साम्यवादी अर्थव्यवस्था और उसके विकल्प में या प्रतिपक्ष में गांधी की अर्थव्यवस्था। ये दोनों अर्थव्यवस्थाएं हमारे सामने पक्ष और प्रतिपक्ष के रूप में हैं। समाजवादी अर्थव्यवस्था का लक्ष्य रहा आर्थिक समानता, वर्गभेद रहित समाज की रचना। समाज की रचना वर्गभेद रहित हो, जिसमें कोई वर्ग न हो और उसका साधन होगा—आर्थिक समानता। उसकी पूर्ति के लिए न साधनशुद्धि पर विचार करना जरूरी और न हिंसा-अहिंसा पर विचार करना जरूरी। ऐसा तो नहीं माना कि हिंसा लक्ष्य है किन्तु अगर आवश्यक हो तो हिंसा का भी प्रयोग किया जा सकता है। आवश्यक हो तो साधन-शुद्धि के विचार को भी छोड़ा जा सकता है। यह संकल्प नहीं रहा कि साधन-शुद्धि ही रखनी है अथवा अहिंसा के द्वारा ही यह लक्ष्य प्राप्त हो।

महात्मा गांधी की भविष्यवाणी

इस विचारधारा के आधार पर एक सुनहला सपना देखा। यह इतना मीठा सपना था कि ऐसा लगा—दुनिया की सारी समस्याओं का समाधान हो जाएगा। उस समय भी महात्मा गांधी ने एक भविष्यवाणी की थी और वह भविष्यवाणी आज बहुत चरितार्थ हो रही है। गांधीजी की भविष्यवाणी उन्हीं के शब्दों में—‘हिंसा और असत्य पर होने वाली समाज व्यवस्था कभी टिकाऊ नहीं होती। टिक नहीं पाएगी। एक दिन वह धराशायी हो जाएगी।’ आज कोई भविष्यवाणी करे तो वह भविष्यवाणी नहीं, अतीत का दर्शन होगा। क्योंकि ऐसा हो गया पर जिस समय साम्यवादी क्रांति थी और जिसके आधार पर दुनिया रंगीन दृश्य देख रही थी उस समय यह भविष्यवाणी की थी—वही व्यवस्था टिकाऊ हो सकती है जिसके आधार में अहिंसा और सत्य है। हिंसा और असत्य पर आधारित होने वाली व्यवस्था एक बार भले ही अच्छी लगे पर चिरस्थायी और दीर्घायु नहीं हो सकती। हमने उस वाणी को चरितार्थ होते देखा है। गांधीजी तो नहीं देख सके पर हमने देख लिया कि आज जैसे वह सारी व्यवस्था धराशायी हो गई और अब मोहभंग भी हो गया है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

बहुत ऊंचा था विचार

मैं मानता हूँ कि लक्ष्य बहुत अच्छा था। लक्ष्य गलत नहीं था—कोई भी व्यक्ति अभाव से ग्रस्त न रहे, समानता हो। साम्यवाद के लक्ष्य को कभी गलत नहीं कहा जा सकता। विचार बहुत ऊंचा था। इसलिए

बहुत बड़े-बड़े विचारकों ने मार्क्स को ऋषि कहा। मार्क्स के मन में करुणा थी, करुणा प्रेरित सारा कार्य था किन्तु एक भूल हो गई। भूल यह हुई कि अध्यात्म को साथ में नहीं जोड़ा। मनुष्य की मूल प्रकृति है अध्यात्म, उसका सहारा नहीं लिया। अंतिम समय में जब मार्क्स को अध्यात्म की पूरी जानकारी मिली तो उन्होंने लिखा—‘यह जानकारी अब मिली है। अब हम वृद्ध हो गए हैं, कुछ करने की स्थिति में नहीं हैं। अगर पहले अध्यात्म का यह दर्शन मिलता तो हमारी आर्थिक संरचना का ढांचा शायद दूसरा ही होता।’ एक तो यह कमी रही। दूसरी यह कमी रही कि साधन-शुद्धि पर बल नहीं दिया। तीसरी कमी यह रही कि अहिंसा को प्रधानता नहीं दी। इन तीन भूलों के कारण वह अर्थव्यवस्था लड़खड़ा गई और परिणाम यह हुआ कि उस अर्थव्यवस्था को चलाने वाले घोर पूंजीवादी हो गए, ऐयाशी में चले गए। आश्चर्य है—संचालन तो कर रहे हैं साम्यवादी अर्थव्यवस्था का और संचालक घोरतम भोगविलासी, ऐयाश। संग्रह और उपभोग में पूंजीवादी लोगों को भी पीछे छोड़ दिया। कारण कि व्यक्ति परिवर्तन की बात नहीं रही, हृदय-परिवर्तन की बात नहीं रही। व्यवस्था को कोरा यांत्रिक बना दिया। अगर उस व्यवस्था के साथ व्यक्तित्व निर्माण का कार्य होता तो वह क्रांति विफल नहीं होती। साम्यवादी व्यवस्था के अनुरूप जब तक व्यक्तित्वों का निर्माण नहीं होगा व्यवस्था चाहे कितनी ही अच्छी हो, चल नहीं पाएगी।

जरूरी है दोनों का योग

मैं बहुत बार कहता हूँ—कार बहुत अच्छी है पर ड्राइवर अच्छा नहीं है। वायुयान बहुत अच्छा है पर पायलट अच्छा नहीं है तो खतरा ही खतरा है। दोनों की आवश्यकता है कि कार बढ़िया है तो ड्राइवर भी उतना ही कुशल होना चाहिए। वायुयान बहुत अच्छा है तो पायलट भी उतना ही प्रशिक्षित और कुशल होना चाहिए। दोनों का जब तक योग नहीं होता तब तक व्यवस्था अच्छी हो नहीं सकती। यही हुआ कि व्यक्तित्व का निर्माण नहीं हुआ, प्रारम्भ से ही एक संघर्ष शुरू हो गया। संकल्प तो था कि वर्गसंघर्ष को समाप्त करना है और सत्ता का संघर्ष नींव में ही शुरू हो गया। लेनिन में क्या बीती? क्या अनुभव किया? सब जानते हैं। हम अगर अर्थ की संरचना पर विचार करें तो व्यवस्था और व्यवस्था के संचालक दोनों पर विचार करना जरूरी है।

जीवन-दर्शन

वह दर्शन, जिसमें समाज रचना, समाज दर्शन, राजनीति दर्शन, आर्थिक दर्शन, शिक्षा दर्शन इन मूलभूत वस्तुओं पर विचार नहीं होता, जीवन का दर्शन नहीं बन सकता। वह कोरी आकाशी कल्पना या उड़ान बन जाती है। मैं देखता हूँ कि मध्यकाल में दर्शनशास्त्र पर सैकड़ों सैकड़ों ग्रन्थ लिखे गए। किन्तु उनमें से सार निकालना चाहें तो क्या निष्कर्ष आएगा? सार तो है डिबिया में समाए जितना और कलेवर है पूरे हिन्दुस्तान में फैल जाए जितना। क्या मतलब है? कोरा आकाशी-दर्शन हो गया, जीवन का दर्शन नहीं रहा। इसीलिए आज न्यायशास्त्र, तर्कशास्त्र बौद्धिक विलास और अखाड़ा जैसा लग रहा है, सार बहुत कम निकल रहा है। जीवन दर्शन से जुड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न है अर्थ-व्यवस्था का। गांधी ने उस पर विचार किया। उन्होंने उद्देश्य आर्थिक समानता का नहीं रखा। गांधी ने कहा—आर्थिक समानता का लक्ष्य अप्राप्य लक्ष्य है, प्राप्य नहीं। इसमें वैयक्तिक क्षमताओं को रौंदा गया है। सब व्यक्तियों की क्षमता अलग-अलग होती है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

हम उनको यांत्रिक नहीं बना सकते। व्यक्तियों को ईंट-भाटा नहीं बनाया जा सकता। यह नहीं हो सकता कि एक सांचे में सबको ढाल दो, यांत्रिक बना दो। क्षमता का अलग-अलग उपयोग होना चाहिए। उन्होंने स्पष्ट दृष्टि दी—मेरी कल्पना का समाज अहिंसा और सत्य के आधार पर खड़ा हुआ समाज होगा और उसकी आर्थिक संरचना भी सत्य और अहिंसा के आधार पर होगी।

हृदय-परिवर्तन का सिद्धांत

महात्मा गांधी ने साधनों पर विचार किया। उस समाज रचना का साधन रहा—हृदय-परिवर्तन। उस अर्थव्यवस्था ने एक प्रकल्प दिया—ट्रस्टीशिप का। गांधीवाद का एक विचार रहा—संपत्ति किसी व्यक्ति की नहीं। गांधी की भाषा में वह ईश्वर की है या यह कह दें कि समाज की है। उस पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार नहीं है। जिस व्यक्ति में बौद्धिक और व्यावसायिक कौशल है वह संपत्ति का अर्जन करता है, संपत्ति पर अधिकार करता है। किन्तु जितनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपेक्षित हो उतनी तो अपने काम में लेनी चाहिए और शेष संपत्ति को ट्रस्टीशिप में डाल देना चाहिए। वह उस संपत्ति का ट्रस्टी बना रहे। उसका उपभोग न करे। उसका साधन हृदय-परिवर्तन स्वीकार किया।

एक बहुत सुन्दर विचार और चिरकाल तक टिकने वाला विचार। अहिंसा, हृदय-परिवर्तन और साधन-शुद्धि—दोनों पर गांधी ने बल दिया। किन्तु लगता है कि ट्रस्टीशिप का विचार मान्य नहीं हुआ और इसलिए नहीं हुआ कि ट्रस्टीशिप की बात में जो व्यक्ति ट्रस्टी रहे, उसके हृदय-परिवर्तन की बात नहीं है।

ट्रस्टीशिप का विचार कब सार्थक हो सकता है? जिसके हाथ में संपत्ति है, वह संपत्ति रखने वाला व्यक्ति इतना प्रशिक्षित हो जाए, इतना रूपान्तरित हो जाए, उसका लोभ इतना उपशांत हो जाए कि वह ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को क्रियान्वित कर सके। ऐसा हुआ नहीं। लोभ छूटा नहीं। अब भले ही औपचारिक रूप में कह दें कि मैं तो बस ट्रस्टी हूँ पर क्रिया में नहीं आया। एक दो व्यक्ति की बात छोड़ दें। किन्तु वह क्रियान्वित नहीं हो सका। जब तक व्यावहारिक बात न बने तब तक बहुत अर्थ नहीं होता। व्यावहारिक कब बनता है? जब इतना हृदय-परिवर्तन हो जाए कि लोभ सीमित हो जाए, लोभ की चेतना बदल जाए। मानना चाहिए कि लोभ की चेतना को बदलने का प्रयोग साथ में नहीं चला। सिद्धान्त चला पर उसका प्रयोग नहीं चला। इसलिए जो होना चाहिए था, वह नहीं हुआ। यदि यह सिद्धान्त क्रियान्वित हो जाए, ट्रस्टीशिप की बात वास्तव में आ जाए तो अर्थव्यवस्था का एक सुंदर विकल्प समाज के सामने आ जाएगा।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अर्थशास्त्र और अणुव्रत

अणुव्रत की दृष्टि से विचार करें। उत्पादन, विनिमय, वितरण और उपभोग—ये अर्थशास्त्र के जो मूलभूत प्रश्न हैं इन सबका आधार नैतिकता होनी चाहिए। अहिंसा की बात को हम अगले चरण में लें। अहिंसा का पहला चरण है नैतिकता। अहिंसा में आस्था उपजे या न उपजे किन्तु नैतिकता—यह अहिंसा का भी चरण है और समाज व्यवस्था का भी अनिवार्य चरण है। वह समाज कभी अच्छा नहीं हो सकता जिसमें नैतिकता नहीं है। धर्म को माने या न माने, अध्यात्म को माने या न माने, मोक्ष को माने या न माने, परमार्थ को माने या न माने फिर भी नैतिकता अनिवार्य है। जहां दो व्यक्ति मिलते हैं जहां द्वन्द्व होता है, समाज

बनता है—वहीं से नैतिकता का बिन्दु प्रारम्भ हो जाता है। अणुव्रत के संदर्भ में समाज की आर्थिक संरचना का आधार होगा नैतिकता।

अहिंसक समाज—बहुत अच्छा शब्द है पर उसमें भी हम थोड़ा सुधार करना चाहेंगे। अहिंसक समाज की अपेक्षा अहिंसा-लक्षी समाज। अहिंसक होना तो बहुत आगे की बात है। इसमें बड़ी समस्याएं, बड़े प्रश्न हैं किन्तु अहिंसा-लक्षी समाज की रचना संभव है। अणुव्रत के आधार पर समाज रचना की बात सोचें तो वह स्वस्थ समाज है, जिसका लक्ष्य अहिंसा तक पहुंचना है। समाज रुग्ण नहीं, बीमार नहीं, अहिंसा-लक्षी है। स्वस्थ वह होगा जिसका लक्ष्य है—अहिंसा। मुझे अहिंसा तक पहुंचना है, अहिंसा की भूमिका पर अपने पैर टिकाने हैं। पर इस अर्थ-व्यवस्था का साधन क्या हो?

व्यक्तिगत स्वामित्व का सीमाकरण

आर्थिक दृष्टि से अणुव्रत का एक सूत्र है—व्यक्तिगत स्वामित्व का सीमाकरण। न आर्थिक समानता, न ट्रस्टीशिप किन्तु व्यक्तिगत स्वामित्व का सीमाकरण। यह पहले व्यक्ति को बदलने का प्रयोग है, अर्थ-व्यवस्था को बदलने का नहीं। व्यक्ति में यह संकल्प जागे कि वह व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा करेगा।

भगवान् महावीर ने एक वर्ग तैयार किया था, एक ऐसा समुदाय तैयार किया था, जिसमें लाखों पुरुष व स्त्रियां सम्मिलित थी। व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा उनका संकल्प था, सबने व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमाएं की।

अर्जन के साथ विसर्जन

अणुव्रत का दूसरा सिद्धान्त है—अर्जन के साथ विसर्जन। सीमा में हो सकता है कि किसी व्यक्ति ने सीमा लंबी चौड़ी रख ली, किसी न छोटी रख ली। किन्तु उसका पूरक सिद्धान्त होगा—अर्जन के साथ विसर्जन। इतना अर्जन करूंगा तो उसके साथ आय के निश्चित भाग का अवश्य विसर्जन करूंगा।

गुरुदेव तुलसी ने केरल की यात्रा में विसर्जन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। मुझे कहना चाहिए कि आसपास के लोग उसे समझ नहीं पाए। बहुत छोटी दृष्टि से देखा और उलझ गए कि यह विसर्जन का सिद्धान्त तो जैन विश्व भारती को चंदा दिलाने का प्रयास है। अपनी-अपनी बुद्धि होती है—गगरी में सागर को भरने का प्रयत्न करें तो गगरी भी फूट जाती है कभी-कभी। समुद्र तो समाता ही नहीं है। कुछ ऐसा ही हुआ। मैं मानता हूं कि सुन्दर विकल्प है विसर्जन का। जब विसर्जन का सिद्धान्त जुड़ेगा, तब अर्जन के साथ साधन-शुद्धि का सिद्धान्त भी जुड़ेगा। पहले साधन-शुद्धि—अर्जन में साधन-शुद्धि और अर्जन के साथ विसर्जन—यह एक पूरा अर्थव्यवस्था का क्रम बनता है।

हृदय-परिवर्तन और व्यवस्था

उसके बाद प्रश्न आता है प्रक्रिया का। कैसे हो यह? उसके लिए हृदय-परिवर्तन अनिवार्य है। किन्तु केवल सामाजिक स्तर पर, अणुव्रत की भूमिका पर हृदय-परिवर्तन की बात करें तो अधूरी बात लगती है। केवल हृदय-परिवर्तन से काम नहीं हो सकता। यहां भी वैयक्तिक क्षमता का प्रश्न है, वैयक्तिक भिन्नता का प्रश्न है। सब लोगों का हृदय-परिवर्तन हो जाए—यह बड़ा कठिन काम है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

एक बात हम और जोड़ना चाहते हैं कि हृदय-परिवर्तन और हृदय-परिवर्तन को समर्थन देने वाली समाज की व्यवस्था और राज्य की व्यवस्था-दोनों का योग।

सन् 1982 में राजीव गांधी गंगाशहर में आए थे। एकान्त में हमारी चर्चा हो रही थी। पूज्य गुरुदेव ने कहा—समाज की व्यवस्था केवल डंडे के बल पर कभी अच्छी नहीं चलेगी। हृदय-परिवर्तन बहुत जरूरी है पर हम केवल हृदय-परिवर्तन को ही पर्याप्त न मानें। हृदय-परिवर्तन और हृदय-परिवर्तन को समर्थन देने वाली राज्य की व्यवस्था-दोनों का योग होगा तो पूरी बात बनेगी। अनेकान्त की दृष्टि से एकांगी बात को हम मान्य नहीं कर सकते। अणुव्रत की भूमिका में विचार करें तो हृदय-परिवर्तन तक सीमित न रहें। किन्तु हृदय-परिवर्तन के साथ जो हृदय-परिवर्तन को प्रोत्साहन दे, समर्थन दे—वैसी व्यवस्था का भी योग होना जरूरी है।

मैंने मूल सूत्रों की संक्षिप्त चर्चा की है। इन सूत्रों के आधार पर अर्थ-व्यवस्था को आगे बढ़ाया जाए, चिंतन किया जाए तो अणुव्रत का एक आर्थिक दर्शन प्रस्तुत किया जा सकता है।

स्वास्थ्य और दीर्घायु का लक्षण

प्रश्न है—पूंजीवाद का और सीमाकरण की अर्थ-व्यवस्था का। मैं इस बात को संपन्न करूं एक बात के साथ।

एक वैज्ञानिक ने चूहों पर प्रयोग किया। चूहों की दो श्रेणियां बनाई। एक श्रेणी के चूहों को खूब खिलाया गया और एक श्रेणी के चूहों को सीमित भोजन दिया गया। जिनको बहुत खिलाया गया, वे खूब मोटे ताजे हो गए और खूब धूमधाम मचाने लगे। शरीर उनका बढ़ गया, स्फूर्ति भी बढ़ गई। जिनको सीमित भोजन दिया गया, वे दुबले-पतले हो गए। किन्तु प्रयोग का परिणाम क्या आया? जिनको बहुत खिलाया गया वे जल्दी मर गए और जिनको कम खाना दिया गया, वे चूहे अधिक स्वस्थ रहे, दीर्घायु हो गए।

पूंजीवादी व्यवस्था भी, जिसके आधार पर आदमी बहुत मोटा ताजा हो रहा है और समझता है कि बहुत धन कमा लिया। यह दीर्घायु का लक्षण नहीं है, अल्पायु का लक्षण है। यह स्वास्थ्य का लक्षण नहीं है, अस्वास्थ्य का लक्षण है। दीर्घायु और स्वस्थ वह होगा जो सीमित साधनों से अपना काम चलाएगा। न उद्योगीकरण की अति और न उद्योगीकरण के द्वारा बहुत धन इकट्ठा किया जाए और न पर्यावरण को बिगाड़ा जाए—इस अवस्था में समाज दीर्घायु हो सकेगा और स्वस्थ रह सकेगा। इसीलिए इन मूलभूत आधारों के परिप्रेक्ष्य में ऐसी आर्थिक संरचना पर विचार करें, जो समाज को स्वस्थ बनाए रख सके, दीर्घायु बनाए रख सके और आने वाली विकृतियों का निराकरण किया जा सके।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अणुव्रत का समाज दर्शन

व्यक्ति और समाज दो भी हैं और दो नहीं भी हैं। व्यक्ति से भिन्न कोई समाज नहीं है, बिन्दु से भिन्न कोई सिन्धु नहीं है। एक एक बूंद से सिंधु का विराट् रूप बनता है। व्यक्ति व्यक्ति से समाज बनता है। व्यक्तियों को हटा दें तो समाज शून्य होगा, कुछ नहीं बचेगा। व्यक्ति और समाज इन दोनों के संबंधों पर विचार करना समाज दर्शन का एक प्रमुख कार्य है।

व्यक्तित्व की व्याख्या का सूत्र

सूत्रकृतांग सूत्र में व्यक्तित्व की व्याख्या का एक सुन्दर सूत्र है—पत्तेयं वेयणा पत्तेयं सन्ना—प्रत्येक व्यक्ति का अपना अपना ज्ञान होता है, अपनी-अपनी वेदना होती है। संज्ञान भी अपना-अपना होता है, संवेदन भी अपना-अपना होता है। किसी के पैर में कांटा चुभा, पीड़ा उसको होगी। समाज बना, सहानुभूति हो गई। सहानुभूति समाज का सूत्र है और पीड़ा व्यक्ति का सूत्र। ज्ञान व्यक्ति का सूत्र है और उपयोग समाज का सूत्र। जो व्यक्ति में होता है उसका प्रतिबिम्ब समाज पर पड़ता है। हम निर्णय कर सकते हैं कि समाज एक रचना है, हमारी उपयोगिता है। व्यक्ति कोई रचना नहीं है। व्यक्ति वास्तविकता है, एक सचाई है। समाज उपयोगिता के आधार पर बनता है, उसकी रचना होती है, निर्माण होता है।

समाज का मूल आधार

व्यक्ति तो जन्म लेता है और समाज की उत्पत्ति होती है, रचना व निर्माण किया जाता है। व्यक्ति अकेला होता तो समाज की जरूरत नहीं होती। नानात्व है। वेदान्त में एक प्रश्न हुआ—ब्रह्म एक और प्राणियों में नानात्व। फिर कैसे होगा? एक सूत्र दिया—व्यवस्था की दृष्टि से नानात्व है। जहां नानात्व है वहां व्यवस्था के साथ जुड़े हुए हैं। जहां अनेक हो गए वहां व्यवस्था के बिना काम नहीं चलेगा। यह व्यवस्था करना ही समाज का मूल आधार बनता है। व्यवस्था की दृष्टि से नाना हैं और जहां नानात्व है

वहां व्यवस्था अनिवार्य है। समाज का अर्थ है व्यवस्थाकरण। व्यवस्था हुई, समाज बन गया। व्यवस्था नहीं हुई तो समाज नहीं बना। एक यौगलिक युग रहा। व्यवस्था नहीं थी, समाज नहीं बना। जब व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ, समाज की पहली ईंट रखी गई, समाज का प्रासाद खड़ा हो गया।

प्रश्न है—व्यवस्था के सूत्र क्या हो सकते हैं? इन पर अणुव्रत की दृष्टि से विचार करें।

आश्वासन

समाज व्यवस्था का पहला सूत्र बनता है—आश्वासन। हर व्यक्ति को यह आश्वासन है कि इसके साथ मैं जुड़ूंगा तो समस्या पैदा नहीं होगी। यदि होगी तो उसका समाधान मिल जाएगा। जैसे माता-पिता सोचते हैं कि पुत्र हो गया तो बुढ़ापे में सेवा का आश्वासन। सेवा मिलेगी, कोई भय नहीं रहेगा। पैसा एक आश्वासन माना जाता है। पास में पैसा है तो बुढ़ापे में कोई कठिनाई नहीं होगी। यह एक आश्वासन है।

विश्वास

समाज व्यवस्था का दूसरा सूत्र बनता है—विश्वास। विश्वास है, कहीं धोखा नहीं होगा, कोई समस्या पैदा नहीं होगी। कोई किसी को लूटेगा नहीं, कोई छीना-झपटी नहीं होगी। सब अपनी प्रामाणिकता के साथ काम करेंगे।

आश्वासन मिला अहिंसा के आधार पर और विश्वास मिला सत्य के आधार पर।

स्वत्वाधिकार

समाज व्यवस्था का तीसरा सूत्र बनता है—स्वत्वाधिकार। जो तुम्हारा 'स्व' है उस पर दूसरे का अधिकार नहीं है। जो तुम्हारा स्व नहीं है, पर स्व है, उस पर तुम्हारा अधिकार नहीं है। यह व्यवस्था का तीसरा सूत्र बनता है और उसका आधार सूत्र है—अचौर्य व्रत। कोई किसी के स्वत्व पर अधिकार नहीं जमाएगा, छीना-झपटी नहीं करेगा, दूसरे के स्वत्व का अपहरण नहीं करेगा।

संयम

समाज व्यवस्था का चौथा सूत्र बनता है—संयम। इन्द्रियों का संयम। अगर इन्द्रियों का संयम नहीं है तो व्यवस्था ठीक नहीं चलेगी। ब्रह्मचर्य है इन्द्रियों का संयम। यह इन्द्रिय संयम कब होगा? जब आत्मा में रमण होगा तब इन्द्रिय का संयम ठीक सधेगा।

सीमाकरण

समाज व्यवस्था का पांचवां सूत्र बनता है—सीमाकरण। तुम अकेले नहीं हो। दुनिया में कोई अकेला नहीं है। जब समाज बना तब इस आधार पर बना कि अकेला कोई नहीं है और संपत्ति पर किसी एक का अधिकार नहीं होगा। संपत्ति सामाजिक होगी किन्तु एक सीमाकरण होगा कि अमुक-अमुक सीमा में उसका सब उपभोग करेंगे। यह व्यवस्था का पांचवां सूत्र है और उसका आधार बना—इच्छा-परिमाण व्रत, परिग्रह का सीमाकरण, इच्छा का सीमाकरण।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अणुव्रत है समाज का दर्शन

अब आप स्वयं चिन्तन करें कि अणुव्रत का समाज दर्शन क्या है? हम मान लें कि अणुव्रत स्वयं समाज का दर्शन है। अणुव्रत के बिना समाज का निर्माण भी नहीं होता और समाज अच्छी तरह से चल भी नहीं सकता। जब समाज बना, एक समझौता हुआ कि कोई अनावश्यक हिंसा नहीं करेगा, बिना मतलब कोई किसी को नहीं मारेगा, नहीं सताएगा। यह समझौते का पहला सूत्र है, जो अणुव्रत का है। अनावश्यक हिंसा नहीं करना—पहला आधार बना समाज की रचना का।

विभक्त है व्यक्तित्व

समाज की रचना हुई है, उसमें विरोधी प्रवृत्तियां सामने आई हैं। कोई भी व्यक्ति ऊपर से हमें एक दीखता है पर वह भीतर में एक नहीं है। यदि कोई कर्मशास्त्र को जानता है और जिसने जैन कर्म शास्त्र का अध्ययन किया है, वह किसी व्यक्ति को देखेगा तो उसे एक व्यक्ति में दो व्यक्ति दिखाई देंगे। एक औदयिक प्रणाली वाला व्यक्ति और दूसरा क्षायोपशमिक प्रणाली वाला व्यक्ति। औदयिक प्रणाली वाला व्यक्ति है, वहां दिखेगा—काम है, क्रोध है, अहंकार है, लोभ है, छीना-झपटी है, अपराध है, चोरी है। ये सारी वृत्तियां उस व्यक्तित्व में दिखेंगी। व्यक्तित्व का आधा हिस्सा औदयिक भाव का हिस्सा है, उसमें ये सारी बातें समा जाती हैं। दूसरा दिखेगा क्षायोपशमिक भाव का व्यक्ति। उस व्यक्ति को हम देखेंगे—उसमें क्षमा है, विनम्रता है, ऋजुता है, संतोष है, अभय है, घृणा नहीं है, वासना पर नियंत्रण है। उस व्यक्ति का यह दूसरा चेहरा हमारे सामने आएगा।

जैसे मस्तिष्क वैज्ञानिकों ने मस्तिष्क को दो भागों में बांटा—मस्तिष्क का बायां पटल और दायां पटल। वैसे ही एक कर्मशास्त्री देखेगा तो स्पष्ट दिखाई देगा कि कोई भी व्यक्ति अकेला नहीं है। एक व्यक्ति अकेला खड़ा है पर अकेला नहीं है। कम से कम दो तो वह है ही। मनोविज्ञान ने भी इस बात को अपनी भाषा में प्रस्तुत किया है—विभक्त व्यक्तित्व। एक ही व्यक्ति के मन में कभी आता है कि हिंसा कर दूं, चोरी कर लूं और वही व्यक्ति कभी संत बन जाता है, साधु बन जाता है। ये दोनों विचार क्यों आते हैं? इसलिए कि उसका व्यक्तित्व खंडित है, विभक्त है। उसकी परसनेलिटी अखंड नहीं है। जब कभी औदयिक व्यक्तित्व जाग्रत होता है तब सारे निषेधात्मक भाव आते हैं। जब क्षायोपशमिक व्यक्तित्व जाग्रत होता है तब सारे विधायक भाव आते हैं। यह व्यक्तित्व का द्वैध मिलता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने और आगे बढ़कर कहा—एक आदमी के भीतर तीन आदमी काम करते हैं। एक उसका अपना संस्कार काम करता है, एक सामाजिक वातावरण काम करता है और एक जागतिक नियम, वर्जनाएं काम करती हैं।

स्वार्थ की भूमिका

समाज की रचना हुई, उसमें व्यक्ति का स्वार्थ भी काम कर रहा है। स्वार्थ कह रहा—मैं अकेला सुख-सुविधा पूर्वक जीवन-यापन नहीं कर सकूंगा। अगर हम दस मिल जाएं तो बहुत सुविधा हो जाएगी। अपने हित का चिंतन, अपना स्वार्थ। जहां स्वार्थ की वृत्ति है, वहां उसमें सामुदायिकता की वृत्ति भी है, सामाजिकता की वृत्ति भी है, सापेक्षता की वृत्ति भी है—दूसरे की मुझे अपेक्षा है। दोनों विरोधी प्रवृत्तियां



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

व्यक्ति में मिल रही हैं। समाज की रचना में यह द्वन्द्व बराबर काम करता रहा है, दोनों विरोधी वृत्तियां काम करती रही हैं।

यदि हम अणुव्रत की दृष्टि से विचार करें तो स्वार्थ को मैं बुरा नहीं मानता। हर व्यक्ति का अपना स्वार्थ होता है। हम स्वार्थ को बुरा न मानें पर स्वार्थ पर नियंत्रण, स्वार्थ का सीमाकरण—इसका मतलब है अणुव्रत। स्वार्थ की एक सीमा होनी चाहिए, उस पर नियंत्रण होना चाहिए। वहां नैतिकता आएगी। जहां सीमा है नैतिकता है, वहां आपको अणुव्रत का दर्शन होगा, अणुव्रत दिखाई देगा। अगर स्वार्थ असीम हो जाए वहां काम ठीक नहीं हो सकता और जहां स्वार्थ की सीमा हो गई वहां ठीक काम चलेगा।

विरोधी हितों का सामंजस्य

समाज में सारा संघर्ष किस बात का है? स्वार्थों की टकराहट है, स्वार्थों का विरोध है। एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के स्वार्थ भिन्न हैं।

प्रसिद्ध कहानी है। एक कुम्हार के दो लड़कियां थी। एक लड़की कुम्हार के घर ब्याही थी और दूसरी लड़की किसान के घर। किसान खेती करता था और कुम्हार मिट्टी के बर्तन पकाता था। दोनों का ससुराल एक ही गांव में था। एक दिन पिता लड़कियों से मिलने आया। जेठ आसाढ़ का महीना। कुम्हार के घर ब्याही पुत्री से बातचीत की, पूछा—‘कैसे चल रहा है?’

बोली—‘पिताजी! और तो सब ठीक चल रहा है पर एक समस्या है—आवा पक रहा है और ये बादल मंडरा रहे हैं, बार-बार आ रहे हैं। कहीं बरसात हो गई तो आवा खराब हो जाएगा। बड़ी चिन्ता है।’

पिता दूसरी लड़की के घर पहुंचा, पूछा—‘बेटी कैसी हो?’

बेटी ने कहा—‘और तो सब ठीक है पर एक समस्या है कि खेती करने का समय आ गया, बीजों की बुवाई करनी है। अब यदि बादल नहीं बरसेंगे तो फिर बाजरी की बुवाई तो होगी नहीं। बादल आते हैं, मंडराते हैं पर बरसते नहीं हैं। आप मेरे लिए भगवान से प्रार्थना करो कि मेह बरस जाए।’

कुम्हार ने सोचा—क्या करूं? बरसने की प्रार्थना करूं या न बरसने की प्रार्थना करूं। दोनों लड़कियां और दोनों के विरोधी हित। अब क्या करूं? थोड़ा दिमाग लगाया, दोनों बेटियों को बुलाया और बोला—‘देखो बेटी! तुम कहती हो कि मेह न बरसे और यह कहती है कि मेह बरसे। मैं किसके साथ रहूं? मैं एक काम कर सकता हूं, तुम्हारी विरोधी बातों में एक सामंजस्य बिठाता हूं—मेह बरस जाए तो जितनी खेती होगी उसका आधा हिस्सा इसको देना होगा और यदि मेह न बरसे तो जो बर्तन पक कर बिकेगा, जितना धन बिक्री से आएगा, उसका आधा हिस्सा उसे देना होगा।’ दोनों ने मंजूर कर लिया। विरोधी हितों में सामंजस्य हो गया और दोनों प्रसन्न हो गईं।

मूलतः समाज की रचना में विरोधी हित काम करते हैं। जहां स्वार्थ की भावना है वहां आदमी में संवेदनशीलता भी है। व्यक्ति स्वार्थी भी है और साथ में संवेदनशील भी है। दूसरे का हित भी चाहता है और दूसरे की पीड़ा में हाथ बंटाना भी चाहता है। ये दोनों विरोधी बातें समाज की रचना में जुड़ी हुई हैं।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

स्वतंत्रता और नियंत्रण

व्यक्ति में खुला रहने की भावना, स्वतंत्र रहने की भावना है और आगे कहें तो व्यक्ति में उच्छृंखल रहने की भावना भी है तो साथ-साथ नियंत्रण की भावना भी है। व्यक्ति नियंत्रण की बात को भी अच्छा मानता है। जहां विचारों की स्वतंत्रता है, वैयक्तिक स्वतंत्रता है वहां नियंत्रण भी मान्य है, कोरी स्वतंत्रता नहीं। नियंत्रण के बिना कोई समाज बन नहीं सकता। नैतिकता के आधार पर कोई समाज बनेगा, उसमें नियंत्रण आवश्यक है और नियंत्रण का मतलब है अणुव्रत। अपनी वृत्तियों पर नियंत्रण करो। नियंत्रण बाहर से न आए, अपना नियंत्रण अपने आप पर करो।

लोकतंत्र के बारे में कहा जाता है—जनता के द्वारा जनता का अनुशासन। अपनी वृत्तियों पर अपना नियंत्रण—यह समाज के लिए बहुत आवश्यक है। यह नहीं होता है तो फिर सामाजिक नियंत्रण आता है। किन्तु नियंत्रण अवश्य रहेगा। ऐसा कोई भी समाज—जिस समाज में काम, क्रोध, लोभ, भय है और उनसे होने वाले अपराध हैं वह नियंत्रणहीन समाज हो नहीं सकता। जिस समाज में क्रोध उपशांत, मोह उपशांत, माया उपशांत, लोभ उपशांत—वह समाज नियंत्रण-मुक्त हो सकता है पर काम क्रोध से युक्त समाज कभी नियंत्रण से मुक्त नहीं हो सकता। एक ओर स्वतंत्रता, दूसरी ओर नियंत्रण—दोनों विरोधी वृत्तियां समाज की रचना में निहित हैं।

अणुव्रत का पक्ष

हम यह भी मान लें कि नैतिकता और अनैतिकता समाज में निहित हैं। नियंत्रण नहीं, नियमन नहीं, अनैतिकता पनप रही है। नियंत्रण है तो नैतिकता का विचार भी आवश्यक लग रहा है। हम यह मान लें कि समाज की रचना द्वन्द्व-आत्मक है, द्वन्द्व के आधार पर समाज की रचना हुई है। किसी एक तत्त्व के आधार पर समाज नहीं बना है। दो विरोधी युगल, युगल भी कोई समान नहीं। विरोधी युगल के आधार पर समाज बना है इसलिए दोनों दृष्टियों से विचार करना जरूरी है। उसमें एक पक्ष पूरा अणुव्रत का है। नियंत्रण का पक्ष अणुव्रत का पक्ष है। संवेदनशीलता का पक्ष अणुव्रत का पक्ष है। संयम का पक्ष अणुव्रत का पक्ष है। यह नियंत्रण किसी के द्वारा आरोपित नहीं है।

समाज रचना के मूल आधार

हम समाज रचना के मूल आधार पर विचार करें तो ये दोनों प्रकार की वृत्तियां हमारे सामने आती हैं। एक आदमी शोषण करता है, धन का अर्जन करता है और वह धर्म के नाम पर दान-पुण्य भी करना चाहता है। एकदम विरोधी वृत्ति—पहले तो कपड़े को कीचड़ में डालकर खूब गंदा बना लो और फिर उसे धोने का प्रयत्न करो। यहां प्रश्न होता है कि क्या कपड़े को गंदा करना उचित है? एक बात है कि गंदा किया ही न जाए। दूसरी बात है कि गंदा किया जाए और फिर उसे धोने का प्रयत्न किया जाए। दोनों में कौन-सी अच्छी बात होगी? कपड़े को गंदा न किया जाए—यह अच्छी बात होगी। अब भला गंदा कर लिया तो फिर धुलाई भी कैसे! भिक्षु स्वामी ने लिखा—लोही स्यूं धुपायो—जिस पीताम्बर को रक्त से सना लिया फिर उसे साफ भी रक्त से ही करना।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

हमें इन विरोधी वृत्तियों पर विचार करना है। जब विरोधी वृत्तियों पर विचार करते हैं तब अणुव्रत का दर्शन हमारे सामने जीवन्त होता है। अणुव्रत के बिना समाज नहीं चल सकता। समाज की रचना का मूल आधार भी अणुव्रत रहा है। नाम अणुव्रत हो या नहीं, नाम कोई भी रख दो, किन्तु जो तत्त्व हैं अणुव्रत के—संयम, नियंत्रण, नैतिकता, प्रामाणिकता, ईमानदारी—ये समाज की रचना के मूल आधार हैं। इनके बिना समाज की रचना हो नहीं सकती।

प्रश्न संपत्ति पर अधिकार का

समाज दर्शन के साथ अनेक प्रश्न जुड़े हुए हैं। पहला प्रश्न है संपत्ति का। संपत्ति पर किसका अधिकार हो? व्यक्ति का कितना अधिकार हो? संपत्ति व्यक्तिगत रहे या सामाजिक? इन प्रश्नों पर अनेक चिंतकों ने विचार किया। इसलिए कि समाज में ज्यादा छीना-झपटी या अप्रामाणिकता संपत्ति को लेकर होती है। हर मनुष्य में एक सुविधावादी मनोवृत्ति है। वह सुविधा से रहना चाहता है, सब कुछ भोगना चाहता है, आराम से रहना चाहता है। जहां समाज बना वहां मूल्य और मानदंड भी बन गए। व्यक्ति प्रतिष्ठा को पाना चाहता है। जहां एक व्यक्ति के पास कुछ है और दूसरे के पास कुछ नहीं है वहां फिर छीना-झपटी की बात शुरू होती है।

कौआ उड़ रहा था। कहीं रोटी मिल गई। रोटी का टुकड़ा चोंच में ले लिया। दूसरे कौओं को पता चला। दस बीस कौए इकट्ठे हो गए। सब आकर छीना-झपटी करने लगे। उसने सोचा—यहां रहना ठीक नहीं है। वह वहां से उड़ा तो दूसरे कौए भी पीछे उड़े। वह उड़ते उड़ते थक गया, फिर सोचा—ऐसे तो काम नहीं चलेगा। वह विभाग करना जानता नहीं था। उसने रोटी का पूरा टुकड़ा नीचे डाल दिया और पेड़ पर बैठ गया। सारे कौए उड़ गए। अब कोई छीना-झपटी की बात नहीं रही। जहां अकेला व्यक्ति समाज की संपत्ति पर अधिकार करने का प्रयत्न करता है, वहां चोरी, डकैती, अपहरण, लूट-खसोट, हत्या आदि सारे अपराध पनपते हैं।

बहुत बड़ा प्रश्न है कि संपत्ति पर अधिकार कितना हो? व्यक्तिगत स्वामित्व कितना हो? पूज्य गुरुदेव बम्बई में विराज रहे थे। वहां विशिष्ट अणुव्रती के नियमों की चर्चा हो रही थी। अणुव्रत समिति ने श्री जयप्रकाश नारायण को आमंत्रित किया। वे आए और तीन दिन उनके साथ गहरा चिन्तन मंथन होता रहा। विशिष्ट अणुव्रती के लिए संपत्ति के सीमाकरण का प्रश्न आया, निर्णय हुआ—विशिष्ट अणुव्रती एक लाख से अधिक धनराशि अपने पास नहीं रख सकेगा। निर्णय पर पहुंच गए। निर्णय करते करते यह प्रश्न भी उभरा—इस बात को स्वीकार करने वाला कोई मिलेगा क्या? यह उस जमाने की बात है, आज से लगभग साठ वर्ष पहले की बात। आज तो एक लाख नहीं, एक करोड़ से भी अधिक की बात आएगी। उस समय एक लाख की बात थी। उसमें भी यह चिन्तन आया कि इस बात को स्वीकार करने वाला कोई नहीं होगा और कोई विशिष्ट अणुव्रती बनना नहीं चाहेगा। आखिर बात वहां की वहां रह गई।

प्रश्न बहुत बड़ा है और इसकी बहुत बार हम चर्चा करते हैं कि व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा हुए बिना अपराधों का निर्मूलन नहीं हो सकता। किन्तु व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा कोई करना नहीं चाहता। व्यक्ति असीम संपत्ति का अर्जन तो चाहता है, जितना हो सके ज्यादा से ज्यादा अर्जन हो और विश्व के



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

धनिकों की सूची में पहला नाम आए। आज एक होड़ है। इसलिए बड़ी कठिनाई है। किन्तु अगर समाज की व्यवस्था पर ध्यान दें तो निष्कर्ष निकलेगा—समाज संपत्ति के अधिकार की सीमा पर ही बना है। अगर असीम संपत्ति हो तो समाज नहीं बन सकता। फिर तो कोई दूसरी कल्पना हो सकती है, जंगली राज्य और जंगली कानून हो सकता है।

सीमाकरण, संयम और नियंत्रण

इधर व्यक्ति की स्वाधीनता का प्रश्न और उधर संपत्ति की सीमा का प्रश्न—दोनों विरोधी बातें हैं। आखिर अपना अनुशासन काम में लेना होगा। इधर राजनीतिक स्वतंत्रता का प्रश्न और उधर व्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रश्न। व्यक्ति पर राज्य का अनुशासन कितना हो, नियंत्रण कितना हो। समाज की व्यवस्था पर चिंतन करें तो ये बहुत सारे प्रश्न सामने आते हैं। इन सब प्रश्नों पर एक साथ चिंतन करना कठिन है पर अणुव्रत की दृष्टि से समाज की व्यवस्था, समाज रचना और समाज के दर्शन पर विचार करें तो एक सूत्र फलित होगा—सीमाकरण, संयम, नियंत्रण। हम चाहे उसे अहिंसा कहें, नैतिकता कहें और चाहे उसे धर्म कहें, अध्यात्म कहें। यानी नैतिकता, अध्यात्म, धर्म—इनको महत्व दिए बिना समाज का आधार नहीं बनता। अगर हिंसा को आधार मानें तो समाज बनता ही नहीं और बनता है तो वह टिकता ही नहीं। जहां अहिंसा, करुणा और संवेदनशीलता है, जहां आपसी हितों का समझौता है, सीमाकरण है, वहां समाज बना है और समाज ने विकास किया है।

स्वस्थ समाज और अध्यात्म

अणुव्रत की दृष्टि से यदि हम वर्तमान समाज को स्वस्थ समाज देखना चाहते हैं तो उसका आधार बन सकता है आध्यात्मिक दर्शन। जब अध्यात्म का विकास होगा तब स्वस्थ समाज की रचना होगी। अध्यात्म का मतलब क्या है? अध्यात्म है हर व्यक्ति में अपने जैसी आत्मा का अनुभव। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति में अपने जैसी आत्मा का अनुभव करे तो बहुत सारी समस्याओं का समाधान होता है। मैं उस धर्म को धर्म कहने में संकोच करता हूं जिसमें अध्यात्म का दृष्टिकोण विकसित नहीं है, अध्यात्म की चेतना जाग्रत नहीं है।

एक सेठ अन्न-सत्र चलाता था। गरीबों को, भिखारियों को मुफ्त में रोटी बनाकर देता था। उसके पुत्र की शादी हो गई। पुत्रवधू ने अन्न-सत्र का यशोगान सुना। पुत्रवधू बहुत समझदार थी, विवेकशील थी, धार्मिक थी और सही अर्थ में आध्यात्मिक थी। उसने देखा—मेरे श्वसुर अन्न-सत्र चला रहे हैं। अनाज का व्यापार है। जितना सड़ा-गला अन्न होता है वह सब अन्न-सत्र में चला जाता है। जितना अच्छा होता है वह ग्राहकों के पास चला जाता है। उसने सोचा—बड़ा अन्याय है। नाम तो अन्न-सत्र का है और बेचारे गरीबों को खराब अन्न खिलाकर बीमार बना रहे हैं। उसने एक उपाय किया। अन्न-सत्र में जो अनाज दिया जाता था, वही अनाज अपने घर मंगा लिया। उसकी रोटी बनाई। सेठ भोजन करने आए, पुत्रवधू ने रोटी परोसी। सेठ ने देखा—रोटी काली काली सी लग रही है। सेठ ने सोचा—नई बहू आई है, कोई नई चीज बनाई होगी। सेठ ने रुचि से खाना शुरू किया। एक कौर मुंह में लिया तो बड़ा बे-स्वाद लगा। सेठ बिगड़ा, बोला—‘यह क्या बनाया है?’



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

बहू बोली—‘यह रोटी मैंने बनाई है।’

सेठ—‘किसकी बनाई है?’

बहू—‘जो अन्न-सत्र में अन्न दिया जाता है, उसकी बनाई है।’

सेठ—‘क्या कोई कमी आ गई है घर में? भंडार में अनाज की बोरियां भरी हैं। ऐसी क्यों बनाई?’

बहू—‘श्वसुरजी! आप क्षमा करें। मैंने सुना है—व्यक्ति जैसा देता है अगले जन्म में वैसा ही मिलता है। यह अन्न हम भिखारियों को खिला रहे हैं, अगले जन्म में हमें वैसा ही मिलेगा। मैंने सोचा कि आगे खाना मुश्किल होगा इसलिए श्वसुरजी को अभी से अभ्यास करा दूं तो अच्छा रहे।’

सेठ ने उसी दिन से सड़ा-गला अन्न बन्द कर दिया। जो अच्छा अन्न था, वह सबको मिलने लग गया।

जिसमें आध्यात्मिक चेतना होती है, जो अपने समान दूसरों को समझता है वह अनुभव करता है कि जैसा सुख-दुःख का अनुभव मुझे होता है वैसा ही दूसरे को होता है। जब यह चेतना जाग जाती है तब समाज का आधार स्वस्थ बन जाता है।

अणुव्रत का समाज दर्शन अध्यात्म की भूमिका पर टिका हुआ समाज दर्शन है। अध्यात्म की भूमिका पर पारस्परिक व्यवहार में फलित होने वाला नैतिकता का समाज दर्शन है, प्रामाणिकता का समाज दर्शन है, संवेदनशीलता का समाज दर्शन है। इसको हम ठीक से समझ सकें, समझा सकें तो हमारा विश्वास है कि हम एक नए समाज की कल्पना कर सकते हैं।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अणुव्रत का राजनीतिक दर्शन

तीन नीतियों की चर्चा बहुत पुराने जमाने से चल रही हैं। समाजनीति, राजनीति और धर्मनीति—ये तीन नीतियां हैं और इनके द्वारा जीवन का संचालन होता है। व्यक्ति समाज से जुड़ा हुआ है इसलिए समाज-नीति भी उसके लिए एक आवश्यक तत्व है। व्यक्ति राजनीति से भी जुड़ा है, इसलिए राजनीति भी उसके लिए आवश्यक है। क्योंकि जीवन के बहुत बड़े भाग का संचालन राज्य के द्वारा होता है, इसलिए राज्य और व्यक्ति के संबंधों की मीमांसा में राजनीति स्वयं फलित होती है। व्यक्ति के साथ राज्य का क्या संबंध हो या राज्य के साथ व्यक्ति का क्या संबंध हो—ये दोनों बातें महत्वपूर्ण हैं। हम व्यक्ति को छोड़ कर राज्य या राजनीति की संरचना की चर्चा करें, तो यह अधूरी बात होगी, एकांगी बात होगी।

मनुष्य एक और जीवन के पक्ष अनेक। वह व्यक्ति भी है, सामाजिक भी है, राजनीति के चक्र में रहने वाला भी है, धर्म की साधना करने वाला भी है, और भी बहुत कुछ करने वाला है। उसके जीवन का एक महत्वपूर्ण पक्ष है राजनीति। राजनीति और राज्य के बिना जीवन की व्यवस्था नहीं हो सकती। एक सामुदायिक व्यवस्था के लिए राज्य की कल्पना की गई और राज्य के संचालन के लिए राजनीति को प्रस्तुत किया गया। राजनीति का काम है राज्य का संचालन। राज्य की अर्थव्यवस्था, राज्य की सुरक्षा, अंतरराष्ट्रीय सम्बन्ध, सीमा की सुरक्षा, सन्धि, विग्रह आदि-आदि राजनीति के अनेक पक्ष हैं। सत्ता को संभालना, राष्ट्र के जो नागरिक हैं उनके हितों की सुरक्षा करना या आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रबंध करना—यह राजनीति का काम हो गया। किन्तु मनुष्य को मनुष्य बनाए रखना या मनुष्य को मनुष्य बनाना, मनुष्य का निर्माण करना—यह राजनीति से बिल्कुल अलग पड़ गया।

मूल घटक है व्यक्ति

व्यक्ति प्रधान है। हमें यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि राज्य या समुदाय का मूल घटक व्यक्ति होता है। राज्य या राजनीति तो निर्मित है, निर्माता व्यक्ति होता है, वही वास्तविक

होता है। ये सब व्यक्ति की वास्तविकता से अनुप्राणित होते हैं। राजनीति का एक स्वरूप यह है कि वह व्यक्ति और राज्य के बीच में सम्यक् संबंधों का सम्यक् संचालन और प्रतिपादन करे। व्यक्ति का अर्थ है स्वतंत्रता। स्वतंत्रता और व्यक्ति को पृथक् नहीं किया जा सकता। वह राजनीति और वह राज्य जिसमें वैयक्तिक स्वतंत्रता का अपहरण नहीं होता, अच्छी राजनीति और अच्छा राज्य होता है। जहां राज्य और राजनीति के आधार पर सत्ता इतनी केन्द्रित हो जाती है और व्यक्तिगत स्वतंत्रता को अपहृत कर लिया जाता है, वह राजनीति काम्य नहीं होती। पहला लक्षण अच्छी राजनीति का है कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता को वह सुरक्षित रखे।

मुख्य कार्य है व्यक्तित्व का निर्माण

राज्य का दूसरा काम है व्यक्तित्व-निर्माण की दिशा में वह प्रयत्नशील हो। केवल सुरक्षा, आर्थिक व्यवस्था, अपराधों की रोकथाम ही उसके काम नहीं हैं। यह तो उसके बाद के काम हैं। नम्बर एक का काम है राज्य के नागरिकों के सही व्यक्तित्व का निर्माण। राजनीति की सारी संरचना व्यक्ति को केन्द्र में रख कर और राज्य-संचालन की दिशा में हो। सत्ता का केन्द्रीकरण इसलिए हुआ है कि वहां व्यक्ति बिल्कुल नहीं है। समाजवादी अवधारणा ने कुछ ऐसा भ्रम पैदा कर दिया कि व्यक्ति को समाज का मात्र एक पुर्जा मान लिया गया। माना गया कि उसके लिए किसी स्वतंत्र चिन्तन की जरूरत नहीं है। जो कुछ है, सब राज्य ही है। इस तरह की धारणा से व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हरण हुआ है और केन्द्रीकरण की दिशा में कदम आगे बढ़े हैं। क्योंकि व्यक्ति को छोड़कर केवल राज्य की ही चिंता होगी तो वहां सत्ता का केन्द्रीकरण अनिवार्य होगा, फिर चाहे फासिज्म आए या नाजिज्म आए। सत्ता को केन्द्रित किए बिना कभी व्यक्तिगत स्वतंत्रता को कुंठित नहीं किया जा सकता।

हमारे सामने राज्य, व्यक्ति और एक बड़ा समुदाय है। राज्य और व्यक्ति के बीच संबंधों का निर्धारण करना भी राजनीति का मुख्य कार्य है। इसलिए राजनीति की संरचना कुछ इस तरह की हो कि नैतिकता से वह भावित और प्रभावित हो। वह राजनीति अपने स्वार्थ और हितों की सिद्धि के लिए ही न हो। उस राजनीति में दमन के द्वारा, नियंत्रण के द्वारा दूसरों को अपने अधीन रखने की प्रवृत्ति नहीं होगी।

वर्तमान में राजनीति विज्ञान अपने आपमें इतना जटिल बन गया है कि शायद व्यवस्थाएं उसमें गौण बन गई हैं। यदि हम अहिंसा को सामने रख कर व्यवस्था पर विचार करें तो सबसे पहला तत्व हमारे सामने आएगा कि बहुमत वाली बात अहिंसक समाज के सर्वथा प्रतिकूल है। अल्पमत और बहुमत को निर्णय का आधार मान लिया गया, यह अहिंसा की दृष्टि से उचित नहीं। यद्यपि आज यह लोकतंत्र का प्राणतत्व बन चुका है और सारे निर्णय उसी के आधार पर होते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—अज्ञानी कहते हैं जैसे सारे लोग कर रहे हैं, मैं वैसे क्यों न करूं? सारी जनता भ्रष्टाचार में, बुराई में लिप्त है, मैं अकेला बच ही गया तो क्या होगा। इसलिए जो सब कर रहे हैं, वही मुझे भी करना है। इस बहुमत की धारणा ने राजनीति और व्यवस्था तंत्र को बहुत भ्रष्ट किया है।

वास्तव में हम देखें तो व्यवस्था का निर्धारण कुछेक व्यक्तियों द्वारा होता है। लोकतंत्र तो हमारी प्रणाली है। अधिनायकवाद में तो सब कुछ एक व्यक्ति के आसपास केन्द्रित रहता है, किन्तु लोकतंत्र में



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

पांच-सात व्यक्ति, जो शीर्षस्थ बन जाते हैं, वे जो चाहते हैं, वही होता है, शेष तो बस टप्पे के रूप में होते हैं। संसद में पांच सौ से अधिक सदस्य हैं। वहां किसी मुद्दे पर किसी दल की राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने जो निर्णय कर लिया, वही उस दल और उसके समर्थकों की राय मानी जाती है। शीर्ष नेतृत्व समर्थन या विरोध करता है, शेष तो सब केवल हाथ उठाते हैं। इस दृष्टि से देखें तो वास्तव में निर्णय बहुमत का होता ही नहीं है।

राजनीति का उद्देश्य

बहुत सारे राजनीतिशास्त्रियों ने उद्देश्य बता दिया कि राजनीति जनता के सुख के लिए है। इस सुखवाद ने बहुत सारी भ्रांतियां पैदा कर दीं। जहां सुख देना है वहां उपयोगिता है। उससे ज्यादा उसका अर्थ नहीं रहता, परमार्थ की बात समाप्त हो गई, निर्माण की बात समाप्त हो गई। दो बातों पर निर्भरता आ गई—दंडनीति और पदार्थों का संकलन, व्यवस्थाकलन और वितरण—इतने में राजनीति सिमट गई। मानवीय पक्ष बिल्कुल ओझल सा हो गया। इसमें कोई संदेह नहीं है कि दंड के बिना प्रजा को शासित नहीं किया जा सकता। आदिम युग से लेकर आज तक यह धारणा अक्षुण्ण है कि दंडेण शासिता प्रजा—प्रजा का शासन दंड से होता है। इस तथ्य को कोई अस्वीकार भी नहीं कर सकता। किन्तु जैसे-जैसे दण्ड के द्वारा आदमी शासित होगा, जैसे-जैसे पशु की तरह आदमी हांका जाएगा उसमें मानवीय गुणों का विकास कम होगा और पाशविक शक्तियों का विकास अधिक होता जाएगा, जबकि दोनों का संतुलन चाहिए। दंडनीति को अस्वीकार तो नहीं किया जा सकता किन्तु दण्ड-नीति के साथ हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया, चेतना के विकास की प्रक्रिया, मनुष्य को मनुष्य बनाने की प्रक्रिया चलानी चाहिए थी, वह पक्ष बिल्कुल अस्वीकार कर दिया गया। सब कुछ निर्भरता दण्ड पर हो गई। आदमी अपराध करता रहे, गलतियां करता रहे और राज्य सत्ता का काम है कि उन सबको कारावास में डालती रहे, कारावास को विस्तार देती रहे। वह कोई अच्छा राज्य नहीं होता और वह राजनीति भी, राज्य के संचालन की प्रणाली भी अच्छी नहीं हो सकती।

चिन्तनीय प्रश्न

राज्य की बहुत प्रणालियां आईं। लोकतंत्र की प्रणाली को जनता ने बहुत महत्व दिया और माना गया—यह सबसे अच्छी प्रणाली है। किन्तु लोकतंत्र की प्रणाली ने भी जनता का बहुत कल्याण किया हो, ऐसा लगता नहीं। यह ठीक है कि बाप का बेटा अधिकारी नहीं बनेगा। जो भी अधिकारी होगा वह सत्ता पर चुनकर आएगा। इसमें तो सबको अवकाश है, कोई वर्जना नहीं है। हर कोई आ सकता है। आने वालों के पास दण्ड की शक्ति है, आते हैं लोकतंत्र के लिए और आते हैं डण्डे के बल पर, डरा धमकाकर, और भी न जाने क्या-क्या होता है। इसका कारण क्या है? लोकतंत्र जैसा पवित्र सिद्धांत, वास्तव में बहुत सुन्दर प्रणाली है, इससे बढ़िया प्रणाली अभी तक तो सामने नहीं है, किन्तु उस प्रणाली के लिए जिस प्रकार जनता के मानस का निर्माण करना चाहिए था बिल्कुल नहीं हो सका और निर्माण की प्रक्रिया भी चालू नहीं हुई। अगर प्रक्रिया चले तो सोचा जा सकता है कि आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों एक अच्छी स्थिति बन जाएगी पर मनुष्य को मनुष्य बनाने की प्रक्रिया, मानवीय गुणों के विकास की प्रक्रिया बिल्कुल चालू नहीं है। आज राजनीति और राज्य ने सबके भाग्य की डोर अपने हाथ में ले ली और इतना परतंत्र



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

बना दिया कि शायद कोई आदमी स्वतंत्र जैसा नहीं है। इतना अधिकार उसे मिल गया फिर भी मनुष्य को बदलने की प्रक्रिया बिल्कुल नहीं चल रही है। यह चिन्तनीय बात है।

कोरा चेहरा न बदले

एक पुरानी कहावत या कहानी जैसी बात है पर बहुत सटीक बैठती है। एक कुम्हार का गधा खो गया, वह गधे को खोजता-खोजता आया, तहसील के पास खड़ा हो गया। लोगों ने कहा—‘यहां क्यों खड़ा है?’

‘मेरा गधा खो गया, खोजने आया हूं।’

इस दुनिया में मजाक करने वालों की कमी नहीं है। किसी ने मजाक कर दी—‘अरे! तुम्हारा गधा तो भीतर कुर्सी पर बैठा है।’ कुम्हार भोला आदमी था, भीतर चला गया, भीतर जाकर खड़ा हो गया।

तहसीलदार बोला—‘क्यों आए हो?’

‘मेरा गधा खो गया, खोजने आया हूं।’

‘मूर्ख!’ तहसीलदार ने यह कहते हुए उसके लात मारी।

कुम्हार बोला—‘तू बदल तो गया पर लात मारने की आदत नहीं छूटी तुम्हारी। काम तो वही कर रहा है।’

कोरा चेहरा बदल जाए, कुर्सी पर आ जाए, और कुछ भी हो जाए पर आदमी का स्वभाव न बदले, मानवीय गुणों का विकास न हो तब तक किसी भी प्रणाली को अच्छी प्रणाली तो नहीं कहा जा सकता।

मानवीय एकता में विश्वास

अणुव्रत का एक सिद्धान्त है—मानवीय एकता में विश्वास। मनुष्य जाति एक है। क्या इस सिद्धान्त को मानते हुए राजनीति की कोई कल्पना की जा सकती है? जहां एक मनुष्य जाति है वहां फिर राजनीति नहीं चलेगी। वहां न राष्ट्र होगा, न अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र होगा। जहां मनुष्य जाति की एकता का प्रकल्प है, वहां फिर राजनीति क्या करेगी? यह एक प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर भी हमें खोजना होगा। मनुष्य जाति की एकता—यह ध्रुव सिद्धान्त है, आधारभूत सिद्धान्त है, एक सचाई है। सचाई को अस्वीकार नहीं किया जा सकता और अणुव्रत के मंच पर तो होगा ही नहीं। राजनीति में भी कोई बाधा नहीं है। अगर मानवीय जाति को एक मानकर राजनीति का विकास हो तो वह स्वस्थ राजनीति की प्रणाली होगी। फिर राष्ट्र, अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र कैसे होगा—इसमें कोई विरोध नहीं है, यह मात्र एक व्यवस्था है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

व्यवस्था और विरोध—दो बातें हैं। बीकानेर-गंगाशहर में हजारों मकान हैं, हर मकान पर एक चारदीवारी है, एक सीमा बनाई हुई है। तेरापंथ भवन है, चारों तरफ सीमा बनी हुई है। यह स्वतंत्र भवन है, दूसरा अलग है तो क्या दोनों में विरोध है? कोई विरोध नहीं। पास में स्कूल है, स्कूल की अपनी चारदीवारी है, तेरापंथ भवन की अपनी चारदीवारी है, दोनों में कोई विरोध नहीं है। यह एक व्यवस्था है। आधार एक है—एक गांव है, एक भूमि है और व्यवस्था की दृष्टि से अलग-अलग चारदीवारियां बना दी गई हैं। यह राष्ट्र भी एक चारदीवारी है, एक व्यवस्था की दृष्टि से इतने लोगों का जिम्मा इस राष्ट्र ने लिया है। हिन्दुस्तान ने नब्बे

करोड़ आदमियों की व्यवस्था का जिम्मा लिया है, नेपाल ने दो करोड़ आदमियों का जिम्मा अपने पर ले रखा है। पाकिस्तान, बांग्लादेश और श्रीलंका—किसी ने बारह करोड़, किसी ने दस करोड़, किसी ने पांच करोड़ लोगों की व्यवस्था का जिम्मा अपने पर लिया है। इसमें मनुष्य जाति की एकता का सिद्धान्त खण्डित नहीं होता, वह तो मूलभूत एकता है, यह है मात्र व्यवस्था। व्यवस्था के बिना काम नहीं चलता।

व्यवस्थाकरण और एकता में कोई विरोध भी नहीं है। जब राजनीति की आधारशिला मानवीय जाति की एकता रहेगी तब युद्ध की संभावना कम होगी, सीमातिक्रमण की संभावना कम होगी, उग्रवादियों के संप्रेषण की संभावना कम होगी, मार-काट की संभावना कम होगी और भारी शस्त्रास्त्रों के निर्माण की संभावना भी कम होगी क्योंकि हमारा मूल आधार है मानव जाति की एकता, मनुष्य को कोई हानि न पहुंचाना। राज्य का काम व्यवस्था करना है, न कि दूसरे राष्ट्र को क्षति पहुंचाना, हानि पहुंचाना।

स्वार्थ का संतुलन

दूसरी बात है—अपने स्वार्थों का संतुलन। अपने स्वार्थ भी इतने हो कि दूसरे राष्ट्र को हानि पहुंचा कर अपने स्वार्थों की पूर्ति नहीं करना है। इस प्रकार मानवीय एकता के आधार पर राज्य की कल्पना और राजनीति की कल्पना हो, यह अणुव्रत का अभीष्ट सिद्धान्त है। हम एक दूसरे को बांटें नहीं। आज तो ऐसा बांट दिया, राजनीति प्रेरित लोगों ने इतना जहर फैला दिया कि आदमी आदमी का दुश्मन जैसा बन गया। यह बहुत आत्मघाती प्रयत्न है। अणुव्रत के आधार पर हम राजनीति की कल्पना करें तो सबसे पहले हमें मानवीय एकता के सिद्धान्त को विस्तार देना होगा। उसके लिए फिर केवल राष्ट्रहित की बात नहीं, सापेक्षता की बात आणी यानी एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के हितों की उपेक्षा कर जी नहीं सकता। सब सापेक्ष हैं, एक का विकास दूसरे पर निर्भर है।

पश्चिम एशिया में ऐसे राष्ट्र हैं, जहां अन्न उत्पन्न नहीं होता, खेती नहीं होती, किन्तु तेल बहुत है, पेट्रोल है। उनके पास अनाज नहीं है तो अनाज-सापेक्ष जीवन है, उनको अनाज की पूर्ति होती है और जिनको वाहन चलाने के लिए, यंत्रों को चलाने के लिए पेट्रोल की जरूरत है वहां पेट्रोल की आपूर्ति होती है। सापेक्षता है—एक के बिना दूसरे का काम नहीं चलता। यह सापेक्षता का सिद्धान्त राजनीति का बहुत बड़ा सिद्धान्त है।

हम भारत का उदाहरण लें। हिन्दुस्तान में भी अनेक दल हैं। क्या एक दल की अपेक्षा के बिना कोई काम ठीक पूरा हो सकता है? कोई भी ऐसा प्रस्ताव लाना है जहां दो तिहाई मतों की जरूरत है, भारी बहुमत की जरूरत है, कोई अमेंडमेंट करना है, कोई परिवर्तन लाना है, बिना राजनीतिक दलों के सहयोग के बिना वह संभव नहीं हो सकता, इसलिए कि सापेक्षता है। सापेक्षता के आधार पर राजनीति का जो सिद्धान्त है, बहुत अच्छा चल सकता है।

मैत्री का विकास

अणुव्रत के आधार पर राजनीति का एक सूत्र बनता है मैत्री। यह मान लिया गया—राजनीति में वास्तविक मैत्री का कोई स्थान नहीं है। वहां शत्रुता को आधार मान लिया, इसीलिए कहा गया—वारांगनेव



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

नृपनीतिरनेकरूपा वेश्या की तरह राजनीति अनेक रूपों वाली है, उसका कोई निश्चित रूप नहीं होता। **न कश्चिद् कस्यचिद् मित्रम् न कश्चित् कश्यचिद् रिपुः**—राजनीति में कोई किसी का मित्र नहीं होता और कोई किसी का शत्रु नहीं होता। जहां स्वार्थ है वहां भारी शत्रु भी मित्र बन जाएगा। जब प्रसंग आया तब हिटलरवाद और स्टालिनवाद बिल्कुल एक हो गए। रूस और जर्मनी में प्रगाढ़ मैत्री हो गई। फिर स्थिति आई तो रूस और जर्मनी—दोनों शत्रु बन गए। संबंध अपने स्वार्थों पर चलता है, इसीलिए माना गया कि राजनीति में न कोई शत्रु होता, न कोई मित्र होता। शत्रु मित्र बन जाता है और मित्र शत्रु बन जाता है। अणुव्रत की राजनीति में यह मान्य नहीं है, वहां मैत्री का सिद्धान्त व्यापक सिद्धान्त है। जब तक मनुष्य मनुष्य के साथ मैत्री व्यापक नहीं बनेगी, समस्या का कोई समाधान नहीं होगा। मानवीय एकता का व्यावहारिक रूप है मैत्री। मैत्री का विकास हो और वह मैत्री हो वास्तविक। बदलने वाली मैत्री नहीं कि जब स्वार्थ का प्रसंग आया तो मित्र और जब स्वार्थ नहीं सधा तो शत्रु। अर्थवान् मैत्री होगी और उस मित्रता के आधार पर बहुत सारी समस्याओं का समाधान अपने आप हो जाएगा। जहां मित्रता है, वहां समस्या उलझती नहीं है।

वहां नहीं उलझती है समस्या

दिल्ली की घटना है। एक कॉलेज में हम लोग ठहरे हुए थे। रात का समय। साहू शांतिप्रसादजी जैन आए। गुरुदेव ने पूछा—‘कहिए, कैसे काम चल रहा है?’ शांतिप्रसादजी बोले—‘महावीर की पचीससौवीं निर्वाण शताब्दी का इतना बड़ा अवसर है पर अभी तक कुछ नहीं हो रहा है। हम मिलते हैं, गोष्ठियां करते हैं, कल्पना करते हैं, कहीं भी पहुंच नहीं पा रहे हैं, समय सामने आ गया है पर काम नहीं हो रहा है कुछ भी।’

गुरुदेव ने कहा—‘बोलो, क्या करना है?’

‘क्या करना है? नेतृत्व आपको संभालना है। आप ही कुछ करें।’

‘आप क्या चाहते हैं?’

‘मुनि नथमलजी को अनाथाश्रम में भेज दीजिए, जहां विद्यानंद जी हैं।’

गुरुदेव ने सुबह मुझे भेज दिया। मैं वहां गया, जैसे ही हम पहुंचे, मुनि विद्यानंदजी ने इतना स्वागत किया कि मैं आश्चर्य में रह गया। फिर हम बैठे, बात हुई तो ऐसा लगा कि आंतरिक मैत्री है। जो उलझनें थीं, उससे ऐसा लगा कि एक सप्ताह तक रहना होगा। एक ध्वज, एक ग्रंथ, एक नीति, एक प्रतीक और महावीर निर्वाण शताब्दी मनाने की पद्धति—ये मुख्य मुद्दे थे। हम बैठे, आधा घण्टा भी नहीं लगा और सारा निर्णय हो गया। मुनि विद्यानंदजी ने कहा—मुनि नथमलजी कर दें वह मुझे मान्य है। मैंने कहा—विद्यानंदजी कर दें वह मुझे मान्य है। मैत्री बोल रही थी, आधा घण्टा में काम हो गया।

जहां आंतरिक मैत्री होती है, वहां समस्या नहीं उलझती। अगर आज हिन्दुस्तान, पाकिस्तान, बांग्लादेश में आंतरिक मैत्री हो तो न कश्मीर का मसला, न और कोई मसला खड़ा रह सकता है किन्तु भीतर मैत्री नहीं है, केवल उपचार है। हर प्रधानमंत्री, विदेश मंत्री यह देखता है कि राष्ट्र की जनता कहीं बिगड़ न जाए, हमारे वोट कहीं कम न हो जाएं, हमारा बहुमत कहीं कम न हो जाए—इस आधार पर सारा निर्णय होता है, मैत्री का कोई प्रश्न नहीं है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अगर अणुव्रत के राजनीति-दर्शन की बात करें तो उसका ध्रुव सिद्धान्त होगा—मैत्री। मैत्री का जितना विकास होगा, समस्याएं अपने आप सुलझ जाएंगी। कोई बड़ी समस्या होती नहीं है। यह भी निश्चित विश्वास करें कि आज तक बड़ी समस्या को लेकर कोई युद्ध नहीं हुआ, कोई बड़ी बात को लेकर लड़ाइयां नहीं हुईं। सब छोटी-छोटी बातों को लेकर होती हैं। दो महायुद्धों का इतिहास देख लें, प्राचीन युद्धों का इतिहास देखें, छोटी-छोटी बातों को लेकर युद्ध हुए हैं। बड़ी बात तो इतनी साफ होती है कि लड़ने का अवकाश ही नहीं रहता। हाथी को लेकर कभी लड़ाई नहीं होती, पूंछ को लेकर लड़ाई होती है। हाथी निकल जाता है, अटकती है पूंछ। पदार्थ तो छोटा दिखता है पर भीतर में शत्रुता का भाव बहुत बड़ा रहता है। अगर उसके स्थान पर मैत्री को आधार मान लें तो बड़ी लगने वाली समस्या छोटी बन जाएगी, न हाथी अटकेगा, न पूंछ अटकेगी।

राजनीति के मूलभूत सिद्धांत

मानव जाति की एकता, मैत्री और परस्पर सहयोग की भावना—ये राजनीति के कुछ मूलभूत सिद्धांत हैं। इन सिद्धान्तों पर हम विचार करें, उद्देश्य पर विचार करें तो राजनीति एक पवित्र काम है। राजनीति का काम केवल जनता को सुखी बनाना नहीं है, केवल जनता की आवश्यकताओं की संपूर्ति करना नहीं है, उससे पहला काम है—मनुष्य का निर्माण करना। राजनीति का काम केवल अपराधी को दंड देना नहीं है, केवल अपराध करने पर न्यायालय में केश चलाना या कारावास में डाल देना नहीं है। यह तो बाद की प्रक्रिया है, व्यवस्था की प्रक्रिया है। उससे पहले वैसा मनुष्य बनाना है, जो अपराध करे ही नहीं।

पूज्य गुरुदेव के पास राजस्थान के डायरेक्टर जनरल ऑफ पुलिस आए थे। उन्होंने भी यही प्रश्न उठाया, ऐसा लगा कि एक चिन्तनपूर्ण व्यक्ति बात कर रहा था। उन्होंने कहा—‘महाराज! आज आदमी को कैसे बदला जाए? और सब हो रहा है पर मनुष्य नहीं बदल रहा है। वह कैसे बदले? यह बदलने की प्रक्रिया चलनी चाहिए।’

गुरुदेव ने कहा—‘हमारे यहां तो यह प्रक्रिया चल रही है।’

उनको लगा कि वास्तव में एक काम हो रहा है। हम अणुव्रत की परिक्रमा में, अणुव्रत की परिधि में चिन्तन करें तो राजनीति का स्वरूप बदल जाएगा और जो आज मान्य है, वह नहीं रहेगा। जहां मैत्री, एकता, सहयोग, सेवा की भावना होगी वहां दण्डनीति की अपेक्षा कम होती चली जाएगी, अपराध अपने आप कम हो जाएंगे।

अणुव्रत के सिद्धांत राजनीति का आधार

लोहार हथकड़ी बनाता था। प्रसिद्ध था मजबूत हथकड़ी बनाने में। इतनी मजबूत बनाता कि कैदी चाहता तो भी तोड़ नहीं सकता। बहुत सारी हथकड़ियां बनाकर रखी थी। किसी विदेशी राजा ने आक्रमण कर दिया और बड़े-बड़े अधिकारियों को वे हथकड़ियां पहनाकर जेल में डाल दिया। जो बनाने वाला था, उस लोहार को सबसे मजबूत हथकड़ी पहना दी। अब वह सोचता है—देखो, मैंने इतनी मजबूत बनाई, कच्ची बनाता तो तोड़कर भाग जाता, पर अब कैसे भागूं। अब इससे छुटकारा नहीं पा सकता।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

आज ऐसा लग रहा है कि राजनीति का लोहार मजबूत हथकड़ियां बना रहा है दूसरों को पहनाने के लिए और हो यह रहा है कि वह हथकड़ी कभी-कभी उसी के हाथ में आ रही है। वह सोचता होगा—अच्छा होता, यदि इतनी मजबूत हथकड़ियां नहीं बनाता। आज राजनीति का जो वात्याचक्र हो गया, उस वात्याचक्र को बदलने के लिए अणुव्रत के सिद्धान्तों पर विचार करना जरूरी है। यदि ये सिद्धान्त—मानवीय एकता, सापेक्षता, मैत्री, परस्पर सहयोग की भावना—राजनीति का आधार बनें तो विश्वास है कि राजनीति का स्वरूप बदलेगा फिर उसमें अहिंसा, सत्य, प्रामाणिकता, ईमानदारी, सचाई—इनको प्रश्रय मिलेगा और मानव को मानव बनने का अवसर मिलेगा।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अणुव्रत का शिक्षा दर्शन

जीवन के निर्माण का और जीवन की दिशा को बदलने का एक सशक्त माध्यम है—शिक्षा। अणुव्रत का शिक्षा दर्शन है—जीवन विज्ञान, जिसकी कल्पना है—संतुलित विकास। विकास का प्रतिरोधी दृष्टिकोण नहीं। विकास को रोकना नहीं है किन्तु संतुलित विकास। कोरा पदार्थ का विकास हो और चेतना कुंठित होती चली जाए, वह विकास मानव के लिए हितकर नहीं है। वह विकास मानव को राहु बनकर ग्रस लेगा। विकास वह है जहां पदार्थ के विकास के साथ साथ पदार्थ का प्रयोग करने वाली चेतना का भी विकास होता रहे। पदार्थ और चेतना—दोनों का संतुलित विकास, जिससे मानसिक शांति बनी रहे, आदमी अपराधी न बने, हत्यारा न बने और पदार्थ के प्रति इतना आसक्त न बने कि हजारों को भूखों मारकर अकेला ही सब कुछ डकार जाए। इस संतुलित विकास की शिक्षा के पांच फलित हैं। फलित के आधार पर हम उसकी दृष्टि को समझ पाएंगे।

कर्मजा शक्ति का विकास

शिक्षा का पहला फलित है—कर्मजा शक्ति का विकास। वह शिक्षा अच्छी शिक्षा नहीं कही जा सकती जिसमें कर्मजा शक्ति कुंठित हो जाए, काम करने की शक्ति शून्य हो जाए। कर्मजा शक्ति का विकास हो, यह शिक्षा का पहला फलित है।

सृजनात्मक शक्ति का विकास

शिक्षा का दूसरा फलित है—सृजनात्मक शक्ति का विकास। जिस शिक्षा से हमारी सृजनात्मक शक्ति न बढ़े, रचनात्मक शक्ति का विकास न हो वह अधूरी शिक्षा होगी। केवल गणित का, आंकड़ों का भार लादने वाली शिक्षा होगी।

संवेग-संतुलन

शिक्षा का तीसरा फलित है—संवेग संतुलन। कर्मजा शक्ति भी है, सृजनात्मक शक्ति का भी विकास है पर अपने संवेगों पर, कषायों पर, इमोशन्स पर नियंत्रण नहीं है तो आत्मघाती प्रयत्न होता है। ये जितने द्वन्द्व, लड़ाइयां, झगड़े हैं, सबका कारण है—अपने संवेगों पर संतुलन का न होना। असंतुलित संवेग समाज में हमेशा विग्रह पैदा करते हैं, लड़ाइयां पैदा करते हैं।

संवेदनशीलता की चेतना का जागरण

शिक्षा का चौथा फलित है—संवेदनशीलता की चेतना का जागरण। जहां संवेदनशीलता नहीं है, समाज अच्छा नहीं रह सकता। करुणा है, संवेदनशीलता है, एक आदमी दूसरे आदमी की पीड़ा को समझता है, दर्द का अनुभव करता है, व्यथा को जानता है—जहां इतनी संवेदना है वहां स्वस्थ समाज की कल्पना की जा सकती है।

विवेक चेतना का जागरण

शिक्षा का पांचवां फलित है—विवेक चेतना का जागरण। जहां हित और अहित का विवेक है, भक्ष्य और अभक्ष्य का विवेक है, कर्तव्य और अकर्तव्य का विवेक है यानी विश्लेषण की, विवेक की इतनी चेतना है कि सबको एक समान कभी नहीं समझता।

हित क्या है और अहित क्या है? हेय क्या है और उपादेय क्या है? हमारी यह चेतना जाग्रत् हो जाए—इसका नाम है—संतुलित शिक्षा। यदि कोरा बुद्धि का जागरण हो गया, यांत्रिक चेतना जाग गई—इफिशिएंसी बढ़ गई, तो वह एकांगी शिक्षा है। इस एकांगी शिक्षा ने ही आज बहुत सारी समस्याएं पैदा की हैं। बहुत चिंतन के बाद अणुव्रत की पार्श्वभूमि में जीवन विज्ञान का विकास हुआ और अणुव्रत की वह शिक्षा-दृष्टि बन गई—वह संतुलित शिक्षा या शिक्षा का समग्र दृष्टिकोण है, जिससे हमारी समग्र चेतना का विकास हो।

अणुव्रत प्रचेता : त्रिवर्गीय समूह

अणुव्रत प्रचेता शिविर में एक दिन अणुव्रत प्रचेताओं की गोष्ठी थी। पूर्व कुलपति मोहनसिंहजी भंडारी ने भी एक बात रखी—एक अणुव्रती का कार्य स्पष्ट होना चाहिए। अणुव्रत समिति एक व्यवस्था करने वाली समिति है। अणुव्रती का दायित्व और कर्तव्य क्या है? इसका दिशा-निर्देश जरूरी है।

प्रोफेसर मुसाफिर सिंह ने कहा—आप शाश्वत मूल्यों की चर्चा कर रहे हैं। जो स्थायी हैं उनकी चर्चा हो रही है पर पश्चिमी जगत् में नई दृष्टि, नई खोज, नया चिन्तन, नया विकास है। यहां ऐसा कुछ नहीं है, जो है वह शाश्वत है—हम नया क्या कर पाएंगे? क्या हमारे समाज में यह स्थायित्व नहीं आ गया है? एक परम्परा रूढ़ नहीं हो गई है?

मैंने सोचा—शिक्षा दर्शन के साथ उसकी भी एक चर्चा होनी चाहिए। अणुव्रत प्रचेता का क्या संकल्प होना चाहिए? क्या कर्म और क्या गतिविधि होनी चाहिए? वह किसके साथ जुड़ा रहे और यह अनुभव करे कि मुझे कुछ करना है। इसकी एक कल्पना की गई। उस कल्पना को बहुत चिन्तन के बाद आकार देना



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

संभव है। एक कल्पना के स्वरूप को मैं प्रस्तुत करूँ तो वह यह है—अब एक अणुव्रत के समूह का निर्माण होना चाहिए और वह त्रिवर्गीय समूह रहे। उस समूह के तीन वर्ग—प्रथम वैज्ञानिक वर्ग, दूसरा प्रयोक्ता वर्ग—प्रयोग करने वाला और तीसरा प्रतिरोधी वर्ग।

हमें अहिंसक समाज की बात करनी है, स्वस्थ समाज की बात करनी है और आज विज्ञान के साथ चलना है, रूढ़ नहीं बनना है। हमारी जो रचनात्मक शक्ति है उसका उपयोग करना है, नई बात खोजना है। मैं समझता हूँ कि यह त्रिवर्गात्मक समूह इन सबकी पूर्ति करने वाला हो सकता है।

वैज्ञानिक वर्ग का काम

वैज्ञानिक वर्ग का काम है सत्य की खोज करना। एक दल ऐसा हो, जो निरन्तर खोज में लगा रहे। मुख्यतः चेतना के रहस्यों की खोज क्योंकि अणुव्रत का संबंध चेतना के परिवर्तन के साथ ज्यादा है। कैसे परिवर्तन किया जा सकता है? परिवर्तन कैसे मान्य हो सकता है? भौतिकता की बढ़ती हुई शक्ति उसे कैसे मान्य कर सकती है? चेतना के रहस्यों की खोज करना, चेतना के विकास की खोज करना और विकल्पों की खोज करना वैज्ञानिक वर्ग का कार्य होगा।

हम कहते हैं कि व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा हो, उपभोग की सीमा हो तो क्या उनको रूखा जीवन जीने की बात कहें? बिल्कुल नहीं। ऐसे विकल्पों की खोज करना कि एक व्यक्ति दिन में हजार रुपए का उपभोग कर जो तृप्ति और आनंद का अनुभव नहीं कर सकता वह पचास रुपए में कर सकता है। इस प्रकार की खोज करना कि खाने में कौन सा अच्छा विकल्प है? पहनने में कौन सा अच्छा विकल्प है? दिनचर्या का कौनसा अच्छा विकल्प है? जब तक अच्छे विकल्प प्रस्तुत न किए जाएं, कोई आदमी बदल नहीं सकता, बदलता नहीं है।

छोटे बच्चे मिट्टी खाते हैं तब मिट्टी खाना छुड़ाना बड़ा मुश्किल होता है। मां पकड़ कर लाती है घर के भीतर। बच्चा वापस गली में जाकर मिट्टी खाना शुरू कर देता है। जबरदस्ती तो रोका नहीं जा सकता। कितनी बार पकड़ कर लाए। आखिर उसको वंशलोचन खिलाना शुरू किया। विकल्प आ गया, मिट्टी खाना छूट गया।

सन् 1997 में ब्रिटेन में सर्वे हुआ कि आज कितने लोग मांसाहार को छोड़ रहे हैं। उससे दो वर्ष पूर्व ब्रिटेन के खाद्य मंत्री ने एक वक्तव्य दिया था कि ये शाकाहारी क्या खाते हैं? घास फूस खाते हैं? इनका कोई खाना है क्या? उसी ब्रिटेन में आज शाकाहार बढ़ता जा रहा है और शाकाहारी होटलों में भीड़ लगी रहती है। इसका कारण है एक विकल्प—शाकाहारी भोजन तो मांस से भी स्वादिष्ट भोजन है। आप विकल्प अच्छा न दें तब तक आपकी बात मान्य नहीं होगी।

विकल्पों की खोज करते रहना, निरन्तर उसमें लगे रहना, अच्छा विकल्प हम दे सकें—यह आवश्यकता है इस वैज्ञानिक वर्ग की। एक ऐसा दल हो अणुव्रत समाज का, अणुव्रत समूह का पांच दस व्यक्ति इसी में लगे रहें, विकल्पों को खोजते रहें और वैज्ञानिक परीक्षण करते रहें और समाज के सामने प्रस्तुत करते रहें। मैं मानता हूँ कि एक नई दिशा और समाज रचना की एक बड़ी अपेक्षा की पूर्ति होगी।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

प्रयोक्ता वर्ग का काम

दूसरा है प्रयोक्ता वर्ग, प्रयोग करने वाला। सौ, दो सौ या पांच सौ व्यक्ति ऐसे मिलें, जो उन विकल्पों का प्रयोग करें। प्रयोग करके समाज के सामने प्रस्तुत करें। बहुत अपेक्षा है प्रयोग करने वालों की। अगर प्रयोग न हो तो कोरी सत्य बात भी अधूरी रह जाती है। जहां तक इसका आध्यात्मिक प्रश्न है, इसका प्रयोक्ता है प्रेक्षाध्यान में भाग लेने वाला व्यक्ति। जैसे मैंने विकल्प की बात कही, अनुभव है मेरा। बहुत वर्ष पहले शिविर में मारवाड़ के लोग आए, बोले—शिविर में तो आना चाहते हैं पर बिना मिर्ची की सब्जी खाई नहीं जाती। जब शिविर में आए, रहे और वह भोजन किया तो कहा—‘अरे! यह तो बड़ा अच्छा है। इसे तो खाया जा सकता है।’

एक प्रयोग करने वाला वर्ग हो, जो हर सत्य का परीक्षण, प्रयोग करे तथा उसका परिणाम जनता के सामने प्रस्तुत करे।

प्रतिरोधी वर्ग का काम

तीसरा है प्रतिरोधी वर्ग, जिनमें अहिंसक प्रतिरोध की शक्ति है, जुझारूपन है। युद्ध को महावीर ने बहुत खराब बताया। युद्ध पर जितना प्रहार महावीर ने किया उतना शायद किसी ने नहीं किया। किन्तु दूसरी ओर महावीर ने कहा—‘जुद्धारिहं खलु दुल्लहं—युद्ध का अवसर दुर्लभ है। तुम्हें मिल गया है तो खूब लड़ो।’

बड़ी विचित्र बात है—अहिंसा की लड़ाई तो लड़ो, हिंसक लड़ाई मत लड़ो। यह क्षमता भी सबमें नहीं होती। अप्पणा जुझाहि—अपने आप से लड़ो। जहां भी लगे कि यह गलत काम हो रहा है वहां अहिंसा की लड़ाई लड़ो, प्रतिरोध करना सीखो। एक वर्ग वह हो, जिसमें सत्याग्रह की क्षमता हो। आप यह न मानें कि सत्याग्रह कोई गांधी का चलाया हुआ है। उन्होंने इसका प्रयोग किया था। इतिहास में सत्याग्रह का पहला प्रयोग किसने किया? हमारी जानकारी के अनुसार सुदर्शन ने सत्याग्रह का पहला प्रयोग किया। इतना सत्य पर अड़ा रहा कि मारे तो मारे पर मैं तो जाऊंगा ही। पिता ने रोका, मां ने रोका, कहा—‘अर्जुनमाली सबकी हत्या कर रहा है, तुम मत जाओ।’ सुदर्शन बोला—‘कैसे हो सकता है कि महावीर आए और मैं न जाऊं। मैं तो जाऊंगा।’ माता पिता को आज्ञा देनी पड़ी। सुदर्शन गया और ऐसा प्रतिरोध किया कि अर्जुनमाली को बदल दिया। पुराना शब्द है—अभिग्रह और गांधी का शब्द है—सत्याग्रह। दोनों का तात्पर्य एक ही है। अभिग्रह करने की जैन लोगों में बहुत परम्परा है। आज भी करते हैं। हमारी साध्वियों ने विचित्र अभिग्रह किए हैं, श्रावकों ने किए हैं। अभिग्रह करना यानी एक संकल्प ले लेना—जब तक यह बात पूरी नहीं होती तब तक मैं भोजन भी नहीं करूंगा, पानी भी नहीं पीऊंगा। इतना कठोर संकल्प। यह है हमारी संघर्षात्मक वृत्ति, प्रतिरोधात्मक वृत्ति।

जिस समूह के साथ ये तीन शक्तियां होती हैं—सत्य की खोज करने की शक्ति, प्रयोग करने की शक्ति और प्रतिरोध करने की शक्ति—उसे कहीं रुकने की जरूरत नहीं है। उसके सामने विकास का दरवाजा खुला रहता है। अणुव्रत शिक्षा दर्शन इस त्रि-समूह की संक्षिप्त चर्चा है। प्रस्तुत संदर्भ में विचार मंथन की बहुत बड़ी अपेक्षा रहेगी।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अणुव्रत का अध्यात्म दर्शन

नैतिकता की बात अणुव्रत के मंच से होती है, समाज और राजनीति के मंच से भी होती है। सन् 1996 में प्रधानमंत्री ने मुख्यमंत्रियों की एक गोष्ठी आयोजित की। इसलिए कि नैतिक मूल्यों का विकास कैसे हो। चर्चाएं हुईं और कुछ सूत्र भी सामने आए। नैतिकता की बात हर मंच से होती है। पर अणुव्रत प्रचेता को अनुभव करना है कि उनका आधार नैतिकता नहीं है, उनका व्यवहार नैतिकता है। उनका आधार है—अध्यात्म। अणुव्रत प्रचेता, अणुव्रत कार्यकर्ता और अणुव्रत प्रशिक्षक इस बात को जानता है कि उसे अध्यात्म तक पहुंचना है, आधारशिला तक पहुंचना है।

ममता और समता

दो शब्दों पर आप ध्यान दें—ममता और समता। ममता का मतलब है भौतिकता और समता का मतलब है अध्यात्म।

मैं आपसे पूछना चाहता हूं कि स्फटिक सफेद है या रंगीन? स्फटिक सफेद होता है, निर्मल होता है, रंगीन नहीं होता। पर उसके सामने लाल वस्तु लाकर रख दें तो स्फटिक लाल बन जाएगा। पीला रख दें तो पीला हो जाएगा, हरा रख दें तो हरा हो जाएगा और उन सबको हटा दो तो सफेद का सफेद।

हमारी चेतना निर्मल है। उसमें स्फटिक की तरह निर्मलता है। उसके सामने प्रियता का भाव रख दो तो वह प्रिय बन जाएगी। अप्रिय वस्तु लाकर रख दो तो वह अप्रिय बन जाएगी। राग में निमग्न हो जाएगी, द्वेष में चली जाएगी। हमारा मूल स्वभाव है समता। ये सारे रंग औपाधिक हैं। इसलिए अणुव्रत को वहां पहुंचना है जहां समता है। समता तक पहुंचेंगे तो ममता छूटेगी।

मतलब भौतिकता का

चीन में एक समय साम्यवाद का प्रयोग प्रबल था। अब तो थोड़ा शिथिल हुआ है। वहां बच्चों को

माता-पिता के साथ नहीं रखा जाता और उन्हें यह बच्चा 'मेरा नहीं है', 'मेरा नहीं है' यह पाठ पढ़ाया जाता था। पाठ अध्यात्म का है। आप अध्यात्म किसको कहें, भौतिकता किसको कहें? पदार्थ सामने है—मेरा है, मेरा है, मेरा है—हम भीतर से बाहर की ओर जा रहे हैं। मेरा, मेरा....मेरा—इसका मतलब भौतिकता और बाहर का आयाम हो गया। जहां यह भाषा है—'मेरा नहीं, मेरा नहीं, मेरा नहीं'—नेति नेति करते चले जाएं वहां कहां पहुंचेंगे, बस केवल चेतना रह गई और कुछ भी नहीं बचा। जहां मेरा नहीं, इसका मतलब है अध्यात्म। मेरा है, मेरा है, मेरा है—इसका मतलब है भौतिकवाद और पौद्गलिकवाद।

क्या है मिथ्यावाद?

हमें अणुव्रत की भूमिका पर विचार करना है, सचाई तक पहुंचना है। अध्यात्म एक सचाई है। एक ऐंद्रजालिक आया। इंद्रजाल भारत की प्रसिद्ध विद्या रही है। ऐंद्रजालिक आया, राजा से कहा—मैं इंद्रजाल का कौतुक दिखाना चाहता हूं। राज्यसभा में आयोजना हो गई। राजा बैठा, सांसद और जनता बैठी। ऐंद्रजालिक ने अपना काम शुरू किया और करते करते एक क्षण ऐसा आया कि जितने लोग बैठे थे सबको लड्डू खिलाना शुरू कर दिया। सब लड्डू खा रहे हैं। सबने लड्डू खाया। इंद्रजाल समाप्त हुआ। वहां एक तत्वज्ञानी आत्मवेत्ता था, राजा के पास आकर बोला—'महाराज! लड्डू खाया?'

'हां खाया।'

'कैसा लगा?'

'मीठा लगा।'

'क्या पेट भरा?'

'पेट तो नहीं भरा।'

'महाराज! मिथ्यावाद था सारा। आपने खाया क्या? कुछ भी नहीं खाया। कोरा लड्डू का भ्रम कर दिया और आपने कहा कि लड्डू खाया। यदि खाते तो पेट भरता, भूख बुझती। आप कितने ही इंद्रजाल के लड्डू खा लें पर भूख नहीं बुझेगी। सारा मायाजाल और इंद्रजाल मिथ्यावाद है।'

अगर हम सचाई पर जाएं तो 'मेरा' 'मेरा'—सारा मिथ्यावाद है। मेरा किसी का हुआ नहीं। साम्यवाद ने इस सचाई को पकड़ा था पर निभ नहीं सकी क्योंकि अध्यात्म की भूमिका नहीं थी।

हमारा लक्ष्य दूरगामी है। कोरी नैतिकता लक्ष्य नहीं है। नैतिकता तो हमारा व्यवहार है। हमें उस चेतना तक पहुंचना है जहां 'मेरा' 'मेरा' नहीं है। इस भूमिका पर जो चला जाता है वहां फिर न भ्रष्टाचार, न मिथ्याचार, न छीना-झपटी, न रिश्वत, न अपराध—कुछ भी नहीं बचता। जब मेरा है ही नहीं तो बचेगा क्या? यदि अणुव्रत की आधारशिला को ठीक पकड़ें तो वह एक विशद दर्शन है सत्य का।

अध्यात्म का अर्थ

आप अणुव्रत को केवल ग्यारह नियमों तक सीमित न करें। वह तो एक निदर्शन है। जैसे जैन परम्परा में कहा जाता है कि आत्मा कितनी? आठ। फिर आता है—यह अनेरी आत्मा है। अनेरी आत्मा कितनी?



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

असंख्य। जिसकी कोई संख्या ही नहीं है। ग्यारह व्रत तो आठ आत्मा की तरह हैं। अनेरा व्रत कितना? कोई अंत ही नहीं है। आप अध्यात्म तक चले जाएं। जिस दिन अणुव्रत के इस आधारभूत दर्शन को समझा जाएगा—अध्यात्म की चेतना का विकास करना है और ममताशून्य चेतना का विकास करना है। जहां ममता नहीं, इसका मतलब समता की चेतना। अगर कोई पूछे कि महावीर की साधना का एक शब्द में प्रतिनिधि शब्द क्या है तो उत्तर होगा—**समया धम्म मुदाहरे मुणी**—महावीर ने समता धर्म का प्रतिपादन किया। अध्यात्म का अर्थ ही है समता। इससे अलग उसकी परिभाषा नहीं हो सकती। समता चेतना का शुद्ध रूप है, निर्मल रूप है, जहां कोई औपाधिक चेतना नहीं है। अणुव्रत के इस अध्यात्म दर्शन को समझना बहुत जरूरी है।

अणुव्रत का कार्यकर्ता है, अणुव्रत का प्रचेता है, अणुव्रत का प्रशिक्षक है, प्रचारक है और वह अगर अध्यात्म को नहीं जानता तो वह अणुव्रत की आत्मा को ही नहीं जानता। इसलिए अणुव्रत को व्यापक संदर्भ में देखें, उसकी आधार भित्ति को पकड़ने का प्रयत्न करें और अध्यात्म तक पहुंचने का प्रयत्न करें तो मैं विश्वास करता हूं कि अणुव्रत का जो मौलिक स्वरूप है, आधार है उससे जुड़कर आप अणुव्रत को एक व्यापक धरातल पर प्रस्तुत करने में सक्षम बन सकेंगे।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

भूदान यज्ञ, व्यवहार-शुद्धि और अणुव्रत आन्दोलन

सुख-दुःख की अनुभूति आत्मा का धर्म

सुख-दुःख की अनुभूति व्यक्ति की अपनी होती है। उनके साधन सामूहिक हो सकते हैं पर वे व्यक्ति के 'स्व' नहीं; उसे प्रभावित करते हैं किन्तु उससे भिन्न होते हैं।

सुख-दुःख नितांत अपनी मान्यता ही है ऐसा तो नहीं है। सुख आत्मा का सहज गुण है। दुःख भ्रम, अज्ञान, व्यामोह से पैदा होता है। तात्पर्य-दुःख अपना 'स्व' नहीं किन्तु वह प्रमाद-कृत है। भगवान् महावीर के शब्दों में- 'प्राणी दुःख से घबराते हैं और दुःख स्व-कृत है। जो सहज सुख नहीं, सुख की कल्पना या वैकारिक सुखानुभूति है वह भी आत्म-कृत होता है। सहज आनंद के सिवाय सुख और दुःख जो हैं वे साधन-सापेक्ष हैं। रोटी के बिना दुःख होता है और उसके मिलने पर सुख।

कहना यूँ चाहिए कि सुख-दुःख की वेदना का मूल भाव-तनाव और संयोग-वियोग है। इष्ट का भाव और अनिष्ट का अभाव सुख का निमित्त बनता है, अनिष्ट का भाव और इष्ट का अभाव दुःख का।

सुख-दुःख की अनुभूति आत्मा का भाव है, यों मान लेने पर भी उनके सर्जन का श्रेय साधन पर निर्भर होता है। जितना वाद-विवाद है वह सब साधन-सामग्री का है। अप्रिय साधन अपेक्षित नहीं पर वे आते हैं। प्रिय साधन अपेक्षित हैं पर वे सुलभ नहीं होते। कारण उनके संग्रह की स्पर्धा चलती है और वही अशांति या कलह का मूल बीज है।

सहज आनन्द उन्हीं के साध्य होता है जो आत्म-विकास की उच्चतम भूमिका पर पहुंच चुके। वे

अपरिग्रही बन जाते हैं। बाहरी साधनों का ग्रहण उनका ध्येय नहीं होता और वे उनके द्वारा सुख-प्राप्ति की कल्पना को भी स्वाभाविक नहीं मानते।

संग्रह का हेतु और उसका परिणाम

99 प्रतिशत व्यक्ति बाहरी साधनों से सधने वाले सुख के लिए ही क्रियाशील हैं। वे सुखी बन जाएं इसलिए उनका संग्रह करते हैं। वे प्रत्यक्ष रूप में दूसरों को दुःखी बनाने नहीं चलते। उनमें अपने सुख की वृत्ति होती है पर इस प्रक्रिया में वे दूसरों को दुःखी किए बिना रह नहीं सकते। शोषण और वंचना के बिना संग्रह नहीं होता। संग्रह के बिना उन्हें मानसिक सुखानुभूति नहीं होती। स्वल्प संग्रह दैहिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए हो सकता है। यह सुखानुभूति नहीं है। आवश्यकता एक व्याधि है और पूर्ति है उसकी चिकित्सा। रोग मिटाने के लिए औषधि ली, उसमें सुख की कल्पना कौन करे?

आवश्यकता नहीं, केवल तृप्ति मिले वहां सुख की कल्पना जुड़ती है। उसके लिए अतिरिक्त संग्रह चाहिए। वह हो तब अपेक्षा-पूर्ति का नहीं, विलासी जीवन बिताया जा सकता है। विलासी व्यक्ति अपने लिए ही देखता है, दूसरों के लिए उसकी आंखें खुली नहीं रहती। यहीं आकर क्रूरता, निर्ममता और शोषण के बीज विकास पाते हैं।

समस्याएं और समाधान

यह एक चक्र है—क्रूरता से शोषण, शोषण से संग्रह, संग्रह से विलास और विलास से क्रूरता को पोषण मिलता है।

यही सब समस्याओं की मौलिक समस्या है; सब कठिनाइयों में कठिनतम कठिनाई है। इसी को स्थूल रूप में 'आर्थिक समस्या' जो आज के युग की सबसे बड़ी समस्या है, कहा जाता है। इसे सुलझाने के लिए सामाजिक नेता दान की, त्याग और अपरिग्रह की बात बताते हैं।

सूक्ष्म रूप में वह आत्मिक समस्या है। आध्यात्मिक क्षेत्र में वह सबसे बड़ी समस्या मानी जाती है इसलिए आध्यात्मिक नेता कहते हैं—त्यागी बनो, अपरिग्रही बनो।

इस समूचे संसार के मानपट पर दृष्टि डालें—जहां कहीं आन्दोलन हैं, वे इसी धुरी के लगभग हैं। आर्थिक समस्या अधिक जटिल होती है तब क्रांति होती है, रक्त की होली खेती जाती है, पाशविक शक्तियों को नग्न नाच का मौका मिलता है। फ्रान्स में ऐसा हुआ, चीन में हुआ, और-और जगह भी वैसे खेल खेले जा रहे हैं। भविष्य इससे नहीं सीखेगा तो वह इससे कैसे बचेगा?

विनोबा की मांग है—'सम विभाग भारत की उपज है; भारतीय हृदय सदा से इसकी प्रयोगशाला रहा है। क्रूरता और विलास का चक्र यों ही चलता रहा तो हिंसा अहिंसा को नोच डालेगी। सही मानिए, आखिर प्रवाह जो है, वह कैसे रुक सकता है? इसलिए भूदान में सहयोग कीजिए। यह आर्थिक क्षेत्र में अहिंसक क्रांति है। भूदान यज्ञ की दो अपेक्षाएं हैं—दान और अपरिग्रह।'

अब आध्यात्मिक जगत् पर दृष्टि डालिए—मानव समाज का जितना पतन हो रहा है उसका मूल स्रोत है—इच्छा का अनियंत्रण। इच्छा का नियंत्रण नहीं होता तब संग्रह होता है। सब राष्ट्र और व्यक्ति इसके



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

इंगित पर नाच रहे हैं। मूल स्वस्थ नहीं होगा तो भूल नहीं सुधरेगी। हिंसा का वेग न बढ़े, यह इसके कारण परिशोधन पर अवलम्बित है।

आचार्यश्री तुलसी की अपेक्षा है—संयम या अहिंसा भारत की देन है। भारतीय जीवन उसमें ओत-प्रोत रहा है। हिंसा परिग्रह से बढ़ती है या परिग्रह के लिए बढ़ती है। परिग्रही बनते हिंसा नहीं छोड़ी जा सकती और अहिंसक बनते परिग्रह नहीं बढ़ाया जा सकता। इच्छाएं खुली हैं तब तक अपरिग्रह नहीं आ सकता इसलिए अणुव्रती बनिए। यह आध्यात्मिक क्रांति है। अणुव्रत आन्दोलन की दो अपेक्षाएं हैं—त्याग और अपरिग्रह।

समाधान की पद्धति

भूदान आन्दोलन के प्रवर्तक हैं—आचार्य विनोबा और अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक हैं—आचार्यश्री तुलसी। दोनों आन्दोलन आर्थिक समस्या को छूते हैं। उसे छूने की पद्धति दोनों की अपनी-अपनी है। आचार्य विनोबा जनता की आवश्यकता पूर्ति के द्वारा वर्तमान समस्या को सुलझाना चाहते हैं। उसके साधन दो हैं—दान और अपरिग्रह। दान इसलिए कि अभाव मिट जाए जिससे कि हिंसा को वेग न मिले। अपरिग्रह इसलिए कि अपने अधिकारों से अधिक लेना अधर्म का मूल है। यह तत्त्व जन-मानस में रम जाए।

आचार्यश्री तुलसी व्रत निष्ठा के द्वारा आत्मा की सनातन समस्या को सुलझाना चाहते हैं। उसके साधन दो हैं—त्याग और अपरिग्रह। त्याग का प्रयोजन है—स्व-नियंत्रण की क्षमता बढ़े। स्व से स्व का नियमन किए बिना बुराई से बचाव नहीं होता। अपरिग्रह का प्रयोजन है—बुराई या उन्माद बढ़ाने वाले साधनों से बचा जाए, उनका अग्रहण हो। ग्रहण की मर्यादा किए बिना दान से क्या बने? शोषण और दान दोनों चले, इसमें तो समस्या घुलती है, सरल नहीं होती। भूदान यज्ञ में 'दान' शब्द है किन्तु इसका अर्थ पुराने दान से भिन्न है। विनोबा कहते हैं—'धर्म और पुण्य की भावना से मत दो; भाईचारे की भावना से दो।'

भावना अणुव्रत आंदोलन और भूदान की

अणुव्रत-आन्दोलन की भावना यह है कि अतिरिक्त संग्रह पर तुम्हारा अधिकार नहीं है। अनधिकार वृत्ति से जो तुमने संग्रह कर रखा है उसे त्याग दो। अनधिकार संग्रह, जो तुम्हारा नहीं है उसे देने का नहीं, त्यागने का अधिकार है। तुम त्याग दो, उसका क्या होगा, यह चिन्ता मत करो।

अतिरिक्त संग्रह वह है जो तुमने आवश्यकता-पूर्ति के लिए नहीं किन्तु आकांक्षा की पूर्ति के लिए जोड़ा है। अतिरिक्त संग्रह को देने की बात कर्म-प्रधान है, समाज के अधिक निकट है और उसे त्यागने की बात धर्म-प्रधान है, आत्मा के अधिक निकट है।

भूदान का स्थूल रूप दान है और सूक्ष्म रूप त्याग। धनी लोग अपने अतिरिक्त धन का कुछ अंश दे दें तो समाज की अत्यन्त विषमता मिट जाए। यह वर्तमान की चिकित्सा है। अपरिग्रह की प्रवृत्ति बढ़े बिना स्थायी चिकित्सा नहीं होगी—भूदान के प्रवर्तक यह मानते हैं।

अणुव्रत का स्थूल रूप त्याग है, सूक्ष्म रूप आत्म-शोधन। यह समाज की वर्तमान आर्थिक समस्या का सीधा समाधान प्रस्तुत नहीं करता किन्तु आनुषंगिक फल के रूप में इससे उसका स्थिर समाधान मिलता है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

भूदान की भावना बाहरी स्थिति के सुधार के द्वारा व्यक्ति के सुधार की ओर जाती है। अणुव्रत-भावना व्यक्ति-सुधार के द्वारा बाह्य स्थिति के सुधार तक पहुंचती है।

ध्येय और फलित

अणुव्रत और भूदान के प्रवर्तक अध्यात्मनिष्ठ हैं। दोनों ही अहिंसा और सत्य को जीवन का केन्द्र-बिन्दु मानकर चलते हैं। दोनों की जीवन भूमिका सर्वथा सदृश नहीं है इसलिए आन्दोलन के रूप और ध्येय में अन्तर है, गौण और मुख्य का भेद है किंतु फलित रूप में दोनों लगभग एक रेखा पर आ जाते हैं।

श्रम बढ़े, शोषण मिटे—भूदान की प्रवृत्ति इस ओर है।

अणुव्रत दृष्टि यह है—शोषण मिटेगा तब श्रम अपने-आप बढ़ेगा। श्रम जीवन की आवश्यकता है, साध्य नहीं। साध्य है जीवन की पवित्रता या आनन्द।

शोषण से पवित्रता मर जाती है, आनन्द लुप्त जाता है। अन्याय करने वाला स्वयं को शांत नहीं पाता। मनुष्य बुराई करने के लिए क्रूर है, बुराई के प्रति ग्लानि न हो इतना क्रूर नहीं। आत्म-वंचना भले ही ऊपर से रंग न लाए, अंतरात्मा में वह अवश्य खलती है। उसके रंग में रंगा मनुष्य बाहरी साधन पाकर भी अपने को खोया हुआ सा अनुभव करता है।

जीवन का सर्वोपरि मूल्य शांति है। वह बनी रहे इसके लिए पवित्रता की अपेक्षा है। पवित्रता को संयम की अपेक्षा है, संयम को आत्म-रमण की अपेक्षा है। संयमी वह है जो दूसरों का सुख न लूटे। जो ऐसा होगा उसे स्व-निर्भर या अपने श्रम पर निर्भर होना ही पड़ेगा।

अणुव्रत और भूदान दोनों का अन्तिम रूप विलास और शोषण का अभाव है। दोनों की अपेक्षा सुन्दर है किन्तु स्थिति जटिल। जटिल मनुष्य की सहज स्थिति विलास की ओर जाती है। विलास आत्मा का सहज धर्म नहीं है। मोह मूढ़ दशा में वह सहज जैसा बन जाता है। उससे तृप्ति नहीं मिलती किन्तु क्षणिक सुख की प्रतीति होती है। उस व्यामोह में फंसकर मनुष्य उसे सहसा त्याग नहीं सकता इसलिए भोग सहज यत्न-साध्य हो रहा है। भोग के लिए परिग्रह और परिग्रह के लिए हिंसा—यह क्रम चलता है।

कल्पना अहिंसक समाज की

अहिंसक समाज की रचना दोनों आन्दोलनों की कल्पना है—अहिंसक समाज बने। अहिंसक का अर्थ सर्व हिंसा त्यागी मुनि बने यह नहीं है। सर्वोपरि साध्य अहिंसा और सत्य को मानकर चले वैसा समाज बने।

अहिंसक समाज में हिंसा, भोग और परिग्रह नहीं होंगे, ऐसी बात नहीं किन्तु उसमें आवश्यकताओं से बढ़कर इनका मूल्य नहीं होगा। ये साध्य तो नहीं ही होंगे।

भारतीय मानस अहिंसा का पुजारी है इसलिए किसी भी समस्या का समाधान करते समय वह दृष्टि से ओझल नहीं होती। प्रेम और शुद्ध व्यवहार के द्वारा समस्याएं सुलझ सकती हैं यह विश्वास टूटा नहीं है। व्यवहार-शुद्धि आन्दोलन और भारत सेवक समाज आदि संस्थाएं उसी के साकार परिणाम हैं।

सामाजिक व्यक्ति अपनी सारी समस्याएं पूर्ण अहिंसा से सुलझा सकें, ऐसी बात नहीं है। हिंसा को उग्र किए बिना अहिंसा को आदर्श मानकर चलते हैं, यह अहिंसक चेतना का ही फल है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

जन जीवन को पवित्र बनाने वाले या समृद्ध बनाने वाले भारतीय आन्दोलनों में ये चार प्रसिद्ध आन्दोलन हैं। तात्पर्य कि मूल्यवान आन्दोलन हैं। मूल्यांकन एक दृष्टि से ही किया जाए तो यह भूल होगी। ये विभिन्न मूल्यों पर आधारित हैं इसलिए इनका मूल्यांकन भी भिन्न-भिन्न दृष्टि-बिन्दुओं से होना चाहिए।

अणुव्रत आन्दोलन का दृष्टिकोण

समाज का घटक व्यक्ति है और व्यक्ति का घटक चरित्र। व्यक्ति का स्थूल रूप चरित्र से नहीं बनता। अणुव्रत आंदोलन चरित्र को मुख्य मानकर संयम पर अधिक बल देता है। उसकी साधना का मुख्य अंग संयम है।

भूदान यज्ञ का दृष्टिकोण

समाज में असंयम होता है यह खास बात नहीं किन्तु उसकी मात्रा बढ़ती है, यह चिन्ता की बात बनती है। मनुष्य जीवन का आधार रोटी पानी है। उसका साधन है भूमि। रोटी मिलती रहे तो मनुष्य अधिक क्रूर नहीं बनता। भूखा आदमी क्या पाप नहीं करता? वह सब कुछ कर लेता है। क्रूरता बढ़ी उसके पीछे भूख का इतिहास है। भूमि का सम वितरण हो जाए तो असंयम की बढ़ती मात्रा रुक सकती है—इस दृष्टि को मुख्य मानकर भूदान आन्दोलन चल रहा है।

अणुव्रत आन्दोलन के प्रयत्न से संयम की मात्रा बढ़ती है, उससे भूदान को सहयोग मिलता है और भूदान से रोटी की समस्या सरल होती है, रोटी के लिए होने वाला असंयम कम होता है, उससे अणुव्रत-आन्दोलन को सहयोग मिलता है। कारण साफ है—

1. चरित्र आत्मा को सुधारता है फलस्वरूप बाहरी स्थितियां स्वयं सुधरती हैं।
2. बाहरी स्थितियां विकृत होती हैं फलतः चरित्र में विकार बढ़ता है।

यद्यपि चरित्र बाहरी स्थितियों के विकार और सुधार पर एकान्ततः निर्भर नहीं है और न होना ही चाहिए। फिर भी बाहरी परिस्थितियों के प्रभाव से वह सर्वथा निर्लेप रहता है—यह नहीं माना जा सकता। बाहरी स्थितियां सरल होने पर चरित्र के विकास की अधिक संभावनाएं होती हैं और उनकी जटिलता में कम।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

व्यवहार-शुद्धि आन्दोलन का दृष्टिकोण

राष्ट्र का व्यवहार शुद्ध होता है, वस्तुएं सुलभ हो जाती हैं। व्यवहार अशुद्ध होता है, वे दुर्लभ बन जाती हैं। वस्तुएं सुलभ होती हैं उससे राष्ट्र को संकट का सामना नहीं करना पड़ता किन्तु यह कोई उत्थान नहीं है। वस्तुएं दुर्लभ होने पर उसे संकट में से गुजरना पड़ता है किन्तु वह गिरता नहीं। वह शुद्ध व्यवहार से उठता है और अशुद्ध से गिरता है, इस दृष्टि से व्यवहार-शुद्धि आन्दोलन भी मूल्यवान है।

व्यवहार-शुद्धि का आधार

व्यवहार-शुद्धि स्वतः प्रवृत्त क्रिया नहीं किन्तु परिणाम है। संयम की आन्तरिक साधना के बिना व्यवहार शुद्ध नहीं बनता। समूचे संसार के साथ आत्मीयता की अनुभूति नहीं होती, वेदान्त की भाषा में

एकता और जैन दर्शन की भाषा में समता का रहस्य आत्मसात् नहीं होता तब तक असंयम की वृत्ति नहीं छूटती। दूसरे के सुख-हरण और दुःख-दान से ग्लानि हुए बिना व्यवहार यथार्थ नहीं बनता इसलिए उक्त आन्दोलन के मूल में संयम की ही भावना है। यह अणुव्रत आन्दोलन के कुछ समय बाद और भूदान से पहले चलने वाला संस्थान है।

भारत सेवक समाज

अणुव्रत, भूदान-यज्ञ और व्यवहार-शुद्धि-ये तीनों आन्दोलन राजनीति से सम्बन्ध नहीं रखते। भारत-सेवक समाज भी राजनीति से संबद्ध नहीं है। किन्तु उसका संस्थान राजनीतिक वातावरण के निकट है। इसलिए उसे राजनीतिक रूप मिल जाता है। वह मिलना चाहिए या नहीं, यह दूसरी बात है। आखिर ये आन्दोलन हैं-जनमानस को जगाने के साधन हैं। इनके पास अहिंसा, प्रेम, उपदेश या सेवा की शक्ति है।

निराशा में आशा की किरण

हिंसा के पीछे कानून की शक्ति होती है। कोई चाहे या न चाहे वह मानना पड़ता है। फल यह हुआ कि जनता शक्ति की उपासक बन गई। हिंसा सुख नहीं देती, शान्ति नहीं लाती फिर भी उसमें उत्तेजना होती है इसलिए लोग उस ओर खिंच आते हैं। व्यक्ति गाली देने वाले को वापिस गाली देने में आकर्षण पाता है-मौन रहने में नहीं। हिंसा में दूसरों को उत्तेजित करने की शक्ति है और वही प्रतिशोध, प्रतिक्रिया का मूल है।

अहिंसा के पीछे शक्ति है व्रत की। व्रत हृदय की वस्तु है। उसे कोई चाहे तो पाले, नहीं तो नहीं। व्रत का मार्ग स्वयं कठोर होता है। जनमानस इतना साधनारत नहीं होता कि वह विलास के मार्ग को छोड़कर व्रत के कठोर मार्ग पर चले। दूसरे अहिंसा में आकर्षण कौन सा है? उसका साधना-क्रम है-मौन, शान्ति और सद्भावना। हिंसा के राज्य में ये मूल्यवान नहीं लगते। किन्तु हिंसा की उत्तेजना उग्र बन जाती है तब मनुष्य अहिंसा की ओर मुड़ते हैं। अशान्ति का विकराल रूप उन्हें शान्ति की ओर गति देता है। बोलते-बोलते थक जाते हैं तब मौन मीठा लगता है। आज का संसार इस बिन्दु पर अवस्थित है।

अहिंसा का जीवन में प्रयोग

बौद्धिक चिन्तन वालों ने समझ लिया कि अहिंसा ही एकमात्र शांति है या शांति का अधिष्ठान है। जो ऐसा मानते हैं उनके जीवन में भी वह बड़ी कठिनाई से आती है। अधिकांश लोग इस सत्य को समझ भी नहीं पाते हैं। अहिंसा अच्छी है-इसे प्रमाणित करने की अपेक्षा वह जीवनव्यापी हो सकती है इसे प्रमाणित करने की अधिक आवश्यकता है। अणुव्रत-आंदोलन उसी दिशा में एक चरण-न्यास है।

कठोर व्रत का आचरण

व्रत अहिंसा का जीवन में प्रयोग है। प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति का आचरण कठोर होता है। असत्प्रवृत्ति से सत्प्रवृत्ति कठिन और सत्प्रवृत्ति से निवृत्ति कठिनतर होती है। निकृष्ट वाणी पर नियंत्रण करने (वाणी की सत्प्रवृत्ति) की अपेक्षा मौन (वाग्निवृत्ति) दुःसाध्य होता है। वैसे निवृत्ति स्वयं सत्प्रवृत्ति को निखारती है। लेने की अपेक्षा देने की बात कठिन होगी किन्तु न लेने की बात कठिनतर। स्थूल दृष्टि से देखें तब अच्छा कार्य करने की बात ही अच्छी लगती है। सूक्ष्म-दृष्टि से कुछ और ही बनता है। बुरा कार्य न करने



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

का नियंत्रण आत्मा में आता है तभी अच्छा कार्य करने की वृत्ति बनती है। सत्य यह है—कर्मण्यता को अकर्मण्यता से भावित किए बिना सत्कर्म नहीं फलता। स्वयं पर नियन्त्रण की प्रकृति बन जाती है फिर उसका विधि-मार्ग या कर्तव्य पक्ष अपने आप सत् बन जाता है। ऐसा न हो तब कर्तव्य की सूची प्रेरणा नहीं देती। अणुव्रत के नियम निषेध की सूची है। निषेध से नियंत्रण का भाव बढ़ता है। स्व-नियंत्रण से सत्कर्म का मार्ग अपने आप खुल जाता है।

व्यापकता में बाधा

अणुव्रत आंदोलन मात्र व्रत-निष्ठ है इसलिए लोग इसमें रस नहीं लेते। यदि इसके साथ समाज-परिवर्तन की प्रत्यक्ष रेखा या भौतिक अपेक्षा जुड़ी होती तो यह अधिक व्यापक होता। किन्तु इसका वैसा न होना ही इसकी अपनी विशेषता है। भौतिक अपेक्षा का पूरक होकर वह शुद्ध दृष्टिकोण नहीं दे पाता जो कि उसका प्रत्यक्षतः पूरक न होकर दे सकता है। वस्तु-निष्ठा समाज की व्यवस्था है। स्व-निष्ठा या सत्-निष्ठा स्वतः मूल्यवान है। सत्य-निष्ठ अभाव में भी दूसरे का अधिकार नहीं लेता। वस्तु-निष्ठ भाव में भी शोषण से नहीं बचता। किन्तु सत्य अन्तर-शुद्धि की अपेक्षा है और वस्तु जीवन की, आगे बढ़ें तो विलास की। स्थूल जीवन की अपेक्षा को त्याग कर सूक्ष्म जीवन की अपेक्षा साधने वाले विरले होते हैं। अधिकांश व्यक्ति स्थूल जीवन की अपेक्षाओं को ही सर्वोपरि मानते हैं इसलिए बहुमत वस्तु-निष्ठा का है। अणुव्रत-आंदोलन रहा सत्य-निष्ठ इसलिए वस्तु-निष्ठ व्यक्तियों में यह यथेष्ट व्यापक बने, यह स्वयंभूत समस्या है।

स्वरूप-गत विशेषताएं

अणुव्रत प्रसार में इसका भौतिक निरपेक्ष संस्थान आकर्षण का केन्द्र नहीं बनता फिर भी इस संघ में व्यापकता की संभावनाएं हैं। उसका पहला हेतु—इसका असाम्प्रदायिक संस्थान है। यह जाति, वर्ग और सम्प्रदाय से उतना बचा है जितना कि किसी भी व्यापक-संस्थान को बचना चाहिए।

दूसरा—यह सब धर्मों के सर्वमान्य मौलिक आदर्शों का समन्वय है। किसी भी धर्म का अनुयायी इसे अपना धर्म मान कर स्वीकार कर सकता है।

तीसरा—इसके पीछे कोई मतवाद या विचार का आग्रह नहीं है। यह चरित्र-विकास या शुद्धि का प्रतीक है।

चौथा—इसमें कर्तव्य का मतभेद नहीं है। इसमें सिर्फ मनुष्य के लिए अकर्तव्य विधियों का निषेध है।

ये चार स्वरूपगत विशेषताएं इसकी व्यापकता का द्वार खोलती हैं।

पांचवां हेतु आज की परिस्थिति है। अनैतिकता से संतुष्ट युग आध्यात्मिक-नियंत्रण चाहता है।

उपयुक्त सामग्री का आकलन हुआ, जन-साधारण तक इसका स्वर पहुंचा तो यह अवश्य ही जन-मानस को जगाने वाला एक महान् अनुष्ठान होगा।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अणुव्रत आन्दोलन : कुछ प्रश्न, जो समाधान चाहते हैं

अणुव्रत आन्दोलन नैतिकता का आन्दोलन है। इसकी पृष्ठभूमि में संयम है, अध्यात्म है। नैतिकता समाज के लिए आवश्यक है। संयम और अध्यात्म को समाज की मंचभूमि पर प्रतिष्ठित किया भी जा सकता है और नहीं भी किया जा सकता। हिन्दुस्तान के मानस का संस्कार धर्म से जुड़ा हुआ है। संयम और अध्यात्म दोनों धर्म से जुड़े हुए हैं। लोग धर्म को मानते हैं, पर संयम और अध्यात्म को कम मानते हैं। धर्म से परलोक सुधरता है—इस धारणा ने उन्हें कल्पनावादी बना दिया है। वे परलोक में धर्म के फल की आकांक्षा करते हैं, वर्तमान को बदलने की बात नहीं सोचते। संयम और अध्यात्म से वर्तमान बदलता है। संयम और अध्यात्म-विहीन धर्म के अनुशीलन से वर्तमान में कोई अन्तर नहीं आता, इसीलिए धर्म और अनैतिकता दोनों साथ-साथ चल रहे हैं।

यह सचाई है कि सब लोग धार्मिक नहीं होते। जितने धर्म के अनुयायी होते हैं उतने धर्म-श्रद्धालु नहीं होते। जितने श्रद्धालु होते हैं उतने धर्म के प्रति सम्यक् दृष्टि रखने वाले नहीं होते। जितने सम्यक् दृष्टि रखने वाले होते हैं उतने उसका आचरण करने वाले नहीं होते। इस पृष्ठभूमि पर धर्म के द्वारा नैतिक आन्दोलन को सर्वव्यापी नहीं बनाया जा सकता।

सामाजिक जीवन के प्राण-कोष

सामाजिक जीवन के दो प्राण-कोष हैं—अर्थ और सत्ता। ये दोनों ही नैतिकता को संबल नहीं देते। इनके लिए अनैतिकता होती है। फिर ये नैतिकता को संबल कैसे दे सकते हैं? अर्थ का अर्थ से और सत्ता का सत्ता से टकराव होता है तब नैतिकता की बात सूझती है। उस समय नैतिकता का एक हथियार के रूप

में प्रयोग किया जाता है, किन्तु उसका स्वतंत्र मूल्य नहीं आंका जाता। स्वार्थ के साथ जुड़कर नैतिकता सीमित हो जाती है। फिर अमुक देश-काल तथा व्यक्ति या वर्ग के प्रति नैतिकता का व्यवहार होता है और अमुक देश-काल तथा व्यक्ति या वर्ग के प्रति उसका व्यवहार नहीं होता। यह खंडित नैतिकता अखंड व्यक्तित्व का निर्माण नहीं कर सकती।

शासन व्यवस्था, अर्थ व्यवस्था, धर्म और नैतिकता

मुझे लगता है कि धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक—ये तीनों ही मंच नैतिक आन्दोलन के द्वारा जन-मानस को आन्दोलित नहीं कर सकते। इन तीनों के अतिरिक्त चौथा कोई मंच नहीं है जो नैतिकता का आन्दोलन चला सके। नैतिक आन्दोलन स्वयं समस्या है। जो स्वयं समस्या है उसके द्वारा समस्या के समाधान की आशा नहीं की जा सकती।

अणुव्रत आन्दोलन धर्म के मंच से संचालित आन्दोलन है। आचार्यश्री तुलसी धर्मनेता हैं। यह आन्दोलन उनके द्वारा संचालित है। उन्होंने संयम और अध्यात्म से जुड़े हुए धर्म को उसकी पृष्ठभूमि में रखा है, फिर भी इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि यह धर्म के द्वारा संचालित है। धर्म की आवश्यकता अनुभव करने वालों से नैतिकता की आवश्यकता अनुभव करने वाले अधिक हैं। नैतिकता की अपेक्षा आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव करने वाले और अधिक हैं। आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तन के लिए समाजवादी शासन-व्यवस्था को अनिवार्य मानने वाले उनसे भी अधिक हैं। इस प्रकार शासन-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था और धर्म—इन तीनों की छत्रछाया में ही नैतिकता पनप सकती है।

समाज का चेतना-स्तर

समाज की जिस अर्थ-व्यवस्था में जनता को आश्वासन उपलब्ध हो, जीविका, बीमारी और बुढ़ापे की चिन्ता से मुक्ति हो, उसमें अनैतिकता की संभावनाएं कम होती हैं। जिस व्यक्ति में धर्म-चेतना जाग्रत हो, दूसरे के सुख-दुःख का संवेदन अपने ही सुख-दुःख के संवेदन की भांति आत्मगत हो, उस व्यक्ति में अनैतिकता की संभावनाएं सर्वथा नहीं होतीं। पर व्यक्ति की भांति पूरा समाज क्या धार्मिक हो सकता है? क्या वह एकात्मकता का अनुभव कर सकता है? इस प्रश्न का निश्चित समाधान दिया नहीं जा सकता। समाज का वर्तमान चेतना-स्तर इस कोटि का नहीं है। भविष्य में इस कोटि के चेतना-स्तर का निर्माण हो सकेगा, इसकी आशा और कल्पना की जा सकती है। किन्तु निश्चय की भाषा में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए गुणात्मकता की दृष्टि से धर्म के क्षेत्र में अनैतिकता की संभावनाएं नहीं हैं। उन संभावनाओं को समाजव्यापी बनाने की प्रक्रिया अभी ज्ञात नहीं है। व्यापकता की दृष्टि से आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तन को अधिक मूल्य दिया जा सकता है, किन्तु उसमें समाज के मानस-परिवर्तन को स्वीकृति नहीं दी जा सकती।

धर्म का काम

जिस व्यवस्था में सुख-सुविधा के साधन उपलब्ध होते हैं उस व्यवस्था में जीने वाला यदि अप्रामाणिक व्यवहार नहीं करता तो यह उसकी कोई विशेषता नहीं है। सुख-सुविधा के साधनों की उपलब्धि न होने



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

पर भी जो व्यक्ति अनैतिक व्यवहार नहीं करता, उसमें कोई विशेष चेतना जाग्रत् होती है, अन्यथा वह ऐसा नहीं कर सकता। धर्म का काम है—मनुष्य में विशेष चेतना को जाग्रत् करना, जिससे वह साधनों की उपलब्धि या अनुपलब्धि—किसी भी स्थिति में अप्रामाणिक व्यवहार न करे।

परिवर्तित अर्थ-व्यवस्था का काम मनुष्य में विशेष चेतना को जाग्रत् करना नहीं है, किन्तु अपेक्षा या आकांक्षा या साधना में समीकरण लाना है, उनमें संतुलन स्थापित करना है। जब अपेक्षा और आवश्यक साधनों में संतुलन नहीं होता तब अनैतिकता के कीटाणुओं को पल्लवित होने का अवसर अधिक मिलता है। उनमें संतुलन स्थापित करने का अर्थ है अनैतिकता के कीटाणुओं को पल्लवित होने का अवसर न देना। इसका यह अर्थ नहीं है कि संतुलित स्थिति में अनैतिकता के कीटाणु समाप्त हो जाते हैं। उनकी समाप्ति विशेष चेतना को जाग्रत् करने पर ही होती है। इस वास्तविकता के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि नैतिकता का आन्दोलन केवल धर्म के मंच द्वारा ही संचालित किया जा सकता है। वह पूरे समाज के मानस का स्पर्श करे या न करे, समाजव्यापी बने या न बने, किन्तु विशेष चेतना का जागरण वही कर सकता है, दूसरा नहीं कर सकता।

रजत-जयन्ती का संकल्प

चेतना को जाग्रत् करना अणुव्रत आंदोलन का उद्देश्य है। यह एक ज्योतिपुंज है। इससे व्यक्ति आलोकित होता है और समाज भी आलोक प्राप्त करता है। दीप हो या सूर्य, दूसरे को वही प्रकाशित कर सकता है जो स्वयं प्रकाशित होता है। अणुव्रत स्वयं प्रकाश है इसीलिए उससे व्यक्ति और समाज दोनों प्रकाशित होते हैं। अणुव्रत आंदोलन ने सचमुच प्रकाश की रेखाएं विकीर्ण की हैं। इस वास्तविकता को मुक्तभाव से स्वीकार करना चाहिए कि प्रकाश-रश्मियों के विकिरण की जो गति पहले दशक में थी, वह अब नहीं है। उसमें कुछ मन्दता आई है। वह किन कारणों से आई है, इस चर्चा में मैं नहीं जाऊंगा, किन्तु वह आई है, इस सचाई को स्वीकार कर गति में तीव्रता लानी चाहिए, यह रजत जयन्ती का संकल्प हो सकता है।

मीमांसा सफलता और असफलता की

शुद्धता और व्यापकता—इन दोनों में तालमेल नहीं रहा है। कुंड या तालाब का पानी शुद्ध रह सकता है पर वह व्यापक नहीं बन सकता। नदी का प्रवाह व्यापक होता है, पर वह शुद्ध नहीं रह पाता। नैतिकता का आन्दोलन शुद्धि का आन्दोलन है, इसलिए इसकी व्यापकता स्वयं एक समस्या है। किन्तु इस समस्या को समाधान मानकर चलना चाहिए। कोई भी समस्या ऐसी नहीं है जो किसी रूप में समाधान न हो और कोई भी ऐसा समाधान नहीं है जो किसी रूप में समस्या न हो। अणुव्रत कार्यकर्ताओं की निष्ठा अडिग होनी चाहिए कि अणुव्रत समस्या होते हुए भी बहुत बड़ा समाधान है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का अपना एक चरित्र होता है और चरित्रवान् व्यक्ति, समाज और राष्ट्र प्रतिष्ठा को प्राप्त करते हैं। अणुव्रत आन्दोलन ने वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय चरित्र की आचार-संहिता प्रस्तुत की है और वह असाम्प्रदायिक रूप में मान्य हो चुकी है। यह कम सफलता नहीं है। आचार-संहिता के अनुशीलन की जिस स्तर पर अपेक्षा थी, वह



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

पूरी नहीं हुई। इसे असफलता भी कहा जा सकता है। सफलता और असफलता—दोनों साथ-साथ चलती हैं। अणुव्रत कार्यकर्ताओं का पुरुषार्थ तीव्र होना चाहिए, जिससे असफलता सफलता पर आवरण न डाल सके।

अणुव्रत आन्दोलन तीसरे दशक में भी कार्यकर्ताओं की अभीप्सित शक्ति अर्जित नहीं कर पाया, यह उसका दुर्बल पक्ष रहा है। इस पक्ष पर पुनर्विचार होना अपेक्षित है। क्या परमार्थ स्वार्थ से अभिभूत हो गया है या परमार्थ के भाव को जाग्रत करने का प्रयत्न कम हुआ है?

कुछ प्रश्न उपस्थित हैं। रजत जयन्ती का वर्ष उनके उत्तर खोजने का वर्ष है। सही खोज, सही दिशा और सही प्रयत्न करें, जिससे अणुव्रत की ज्योति-रेखा से व्यक्ति और समाज अभीप्सित प्रकाश प्राप्त कर सके।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अणुव्रत आन्दोलन की मंजिल

विश्व का कण-कण गतिशील है। कोई भी पदार्थ सदा एकरूप नहीं रह सकता। पहले क्षण में जो पदार्थ जैसा होता है, वह दूसरे क्षण में वैसा नहीं रहता। वह अपने अस्तित्व की धुरी में स्थिर रहकर भी कुछ छोड़ देता है और कुछ नया जोड़ लेता है। इस प्रकार पदार्थ के केन्द्र में स्थिति और परिधि में निरंतर गतिशीलता व्याप्त रहती है। यह स्थितिमूलक गतिशीलता का सिद्धांत प्रत्येक विचार, व्यवस्था व प्रवृत्ति पर घटित होता है। मनुष्य के विचार और उससे प्रतिबिम्बित होने वाली व्यवस्था भी निरंतर गतिशील है। हजारों वर्षों में मनुष्य के विचारों के अनगिन संस्करण हुए हैं और उनके आधार पर अनगिन व्यवस्थाएं रूपान्तरित हुई हैं।

आज हमें अनुभव होता है कि वर्तमान विचार प्रशस्ततम विचार है और वर्तमान व्यवस्था सुन्दरतम व्यवस्था है, किंतु आने वाली पीढ़ी उस विचार में अपूर्णता और व्यवस्था में खामियां देख उन्हें बदल देती है। इस प्रकार विचार और व्यवस्था का प्रवाह बदल जाता है। ऐसे परिवर्तन न जाने कितनी बार घटित हुए हैं।

मनुष्य स्वयं अपूर्ण है। विचार और व्यवस्था उसकी कृति है। अपूर्ण मनुष्य की कोई भी कृति परिपूर्ण कैसे हो सकती है? हमें यह मानकर ही चलना चाहिए कि कोई भी विचार पूर्ण नहीं है, इसलिए उसमें परिवर्तन का निरंतर अवकाश है। उस अवकाश को खो देने वाला यथार्थ से विमुख होकर पिछड़ जाता है और उस अवकाश को समझने वाला यथार्थ से अभिमुख होकर आगे बढ़ जाता है। अणुव्रत आंदोलन को आगे बढ़ाना है—इस दृष्टि से मैंने गतिशीलता के सिद्धांत पर एक विमर्श प्रस्तुत किया है।

अब तक आंदोलन का मुख्य स्वरूप विचारात्मक रहा है। व्रत का विचार समझे बिना कोई आदमी व्रती कैसे बन सकता है? नैतिकता का विचार समझे बिना कोई आदमी नैतिक कैसे बन सकता है? जो वस्तु चलेगी उसका विचारात्मक रूप सदा ही चलेगा। उसके बिना वह चल नहीं सकती। विचार का दूसरा

पहलू है आचार या क्रियान्विति। वह विचार अपना मूल्य खो देता है, जो क्रियान्विति की कसौटी से नहीं कसा जाता। अणुव्रत-आंदोलन का भावी कार्यक्रम होगा—व्रत के विचार को सामाजिक संदर्भ में क्रियान्वित करना।

सामुदायिकता की ओर

हजार-दो हजार वर्ष पहले के विचार व्यक्ति-प्रधान रहे हैं। फलतः व्यवस्था भी व्यक्ति-प्रधान रही है। विचार से व्यवस्था प्रतिफलित होती है और व्यवस्था के अनुरूप ही विचार का प्रवाह चलता जाता है। लम्बे समय से चली आ रही वैयक्तिकता को वर्तमान युग ने चुनौती दी है। आज विचार और व्यवस्था दोनों का झुकाव सामुदायिकता की ओर है। व्यवस्था का सामुदायिक दृष्टिकोण प्राप्त रूपों में सर्वोत्तम रूप है। आंतरिक क्षमताओं का समाजीकरण नहीं किया जा सकता किंतु समाज की व्यवस्था में समरसता नहीं लाई जा सकती, ऐसा नहीं है। भगवान् महावीर ने कहा—‘कोई भी आत्मा हीन नहीं है और कोई भी आत्मा उच्च नहीं है।’ यह आत्मा के अंतिम विकास की स्थिति का चित्रण है। मध्य विकास की स्थिति में आंतरिक क्षमता का तारतम्य रहता है। उसके आधार पर ही विकसित बुद्धि वाले लोग अपना एक वर्ग बना लेते हैं और अल्पबुद्धि वाले लोगों का एक भिन्न वर्ग बन जाता है। इस प्रकार दो वर्ग बन जाते हैं—एक सम्पन्न और दूसरा विपन्न। उसमें समरसता नहीं रह पाती। बड़प्पन और छुटपन के आधार पर अहं और घृणा तथा हीन भावना और प्रतिशोध के भाव स्थिर हो जाते हैं। इस स्थिति में सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा समता के आधार को खो देती है।

प्रश्न सामाजिक सामंजस्य का

जिस स्थिति का मैंने विश्लेषण किया, वह हजारों वर्षों से चली आ रही है। इस शताब्दी में सामाजिक विचार का तीव्रगति से विकास हुआ है। लोक चेतना जाग्रत हुई है। फलस्वरूप अनेक राष्ट्रों में क्रांतियां हुई हैं। उनके द्वारा सामाजिक सामंजस्य की स्थापना का प्रयत्न किया गया है। किंतु वैसा करने में, सामाजिक मूल्यों को बदलने में दंड-शक्ति को अधिक तीव्र करना पड़ा। वहां मानवीय चेतना का यांत्रिकीकरण हुआ और स्वतंत्रता सीमित हो गई। दंड-शक्ति की तीव्रता होने पर इससे भिन्न परिणाम की आशा नहीं की जा सकती।

क्या तलवार की धार को तेज किए बिना सामाजिक सामंजस्य नहीं लाया जा सकता? इस प्रश्न पर उन सबको विचार करना जरूरी है, जो अहिंसा की शक्ति या स्वतंत्रता में विश्वास रखते हैं। अणुव्रत आन्दोलन सामाजिक समरसता में विश्वास करता है। उसके सामने भी वही प्रश्न है कि वह इस दिशा में क्या सोचता है और क्या करता है? लोग कहते हैं—हजारों वर्ष हो गए, धर्म का इतना उपदेश होता है, उससे क्या परिवर्तन हुआ? इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार नहीं हुआ है। पुराने जमाने में यानी हजारों वर्षों की लम्बी परम्पराओं में धर्म के सामने सामाजिक सामंजस्य का उद्देश्य नहीं रहा है। उसके सामने उद्देश्य रहा है व्यक्तिगत आत्म-शुद्धि का। उसके चिंतन का विकास और कार्य उसी क्षेत्र में हुआ है। सामाजिक सामंजस्य का प्रश्न नया है। इस पर नये दृष्टिकोण से ही विचार करना है। वर्तमान समस्या के संदर्भ में अणुव्रत आंदोलन के सामने दो मुख्य कार्य हैं—दृष्टिकोण का परिवर्तन और सामाजिक मूल्यों का परिवर्तन।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

सामाजिक सामंजस्य और कर्मवाद का सिद्धांत

अभी हिन्दुस्तान के हजारों लोगों का दृष्टिकोण यह है कि कर्मवाद का सिद्धांत अटल सिद्धांत है। इसलिए सब लोग समान कैसे हो सकते हैं? हर व्यक्ति का अपना पुण्य और अपना पाप होता है। पुण्यवान लोग पुण्य का फल भोगते हैं और पापी आदमी पाप का फल भोगते हैं। क्या पुण्य और पाप का फल एक हो जाएगा? इस कर्मवादी धारणा के आधार पर वे सामाजिक सामंजस्य की संभावना ही स्वीकार नहीं करते। जहां तक मैं समझ पाया हूं, मुझे ऐसा नहीं लगता कि कर्म इसमें हस्तक्षेप करता है कि एक आदमी को रोटी, मकान और कपड़ा मिले और दूसरे को वे न मिलें। सामाजिक सामंजस्य की एक सीमा है। उस सीमा में कर्मवाद बाधक नहीं है। इस दृष्टिकोण को स्थापित करना और इसके विरोधी दृष्टिकोण को बदलना अहिंसक क्रांति के लिए नितान्त आवश्यक है।

अपेक्षित है लोक-शिक्षण का कार्य

दृष्टिकोण का परिवर्तन होने पर सामाजिक मूल्यों के परिवर्तन की प्रक्रिया चालू हो जाती है। किंतु दृष्टिकोण का परिवर्तन करना सरल कार्य नहीं है। परम्परागत धारणाओं, मान्यताओं और सिद्धांतों तथा न्यस्त स्वार्थों के लोहावरण को हटाकर जनता की दृष्टि को स्वच्छ और यथार्थ बनाना सचमुच कठिन कार्य है। पर विचार की प्रक्रिया जो चालू हो जाती है वह जन-मानस को कभी न कभी अवश्य ही प्रभावित करती है। इस सिद्धांत के आधार पर ही हम दिशा का निर्णय कर सकते हैं। प्रस्तुत दिशा में गति करने के लिए अणुव्रत-आंदोलन को लोकशिक्षण का कार्य सुनियोजित ढंग से हाथ में लेना चाहिए। लोकमानस को जिस दिशा में प्रशिक्षित किया जाता है, उसी दिशा में वह गतिशील हो जाता है। विकास के ऐतिहासिक क्रम का अध्ययन करने वाला व्यक्ति इस तथ्य को भलीभांति समझता है।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के मूल्यों की व्याख्या अभी तक मोक्ष के संदर्भ में ही हुई है। सुखी और स्वतंत्र सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में उनकी व्याख्या की जाए तो निश्चित ही नई दिशा उद्घाटित होगी। नई व्याख्याओं को समझने के लिए लोक-शिक्षण की व्यवस्था का दायित्व उठाना और उनकी क्रियान्विति के लिए प्रयोगात्मक शिविरों का आयोजन करना, अणुव्रत आंदोलन के सामने एक रचनात्मक कार्य है। इसको उठाए बिना दंड-शक्ति व उसके द्वारा स्थापित होने वाले सामाजिक सामंजस्य के स्थान पर नैतिक-शक्ति व उसके द्वारा स्थापित होने वाले सामाजिक सामंजस्य की स्थापना नहीं की जा सकती।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

अणुव्रत : प्रगति है, प्रवंचना नहीं

श्री भंवरलाल सिंधी की पुस्तिका 'अणुव्रत : प्रगति या प्रवंचना?' को पढ़कर लगा कि उसमें अणुव्रत-आंदोलन की अपेक्षा तेरापंथ की सैद्धांतिक मान्यताओं पर कटाक्ष अधिक है। अणुव्रत संयम है। उस पर किसी की आस्था हो या न हो यह दूसरा प्रश्न है, पर उसमें स्वतः सम्भूत आलोच्यता नहीं है। आलोच्य हो सकते हैं उनके प्रसारकर्ता, उनकी कार्य पद्धति और उनका अभिमत। श्री सिंधीजी ने पहला लक्ष्य अभिमत को ही चुना है। आचार्यश्री तुलसी का अभिमत वह है जो जैन धर्म का है या तेरापंथ का है। तेरापंथ की आलोचना की जाती है दान और दया के पहलुओं को छूकर—'वैज्ञानिक प्रगति की दृष्टि से आज विश्व अणुयुग में पहुंच चुका है, जिसमें जीवन के समस्त मूल्य और मान्यताएं बदलने वाली हैं। जो व्यक्ति अथवा समाज परम्परागत बद्ध-मूल संस्कारों से ऊंचे उठकर युग के नये आलोक में जीवन के नये मूल्यों को समझेगा, वही कायम रहेगा और अपना जीवन सफल व सार्थक कर सकेगा'—इन पंक्तियों के लेखक यदि सुदूर-अतीत की समाज-व्यवस्था में, पोषित दान और दया की मान्यता को बनाए रखने का आग्रह करे और तेरापंथ, जिसका दान और दया के विषय में एक स्पष्ट दृष्टिकोण है, जो सिद्धान्त सम्मत होने के साथ-साथ युग मानस के अनुकूल भी है, में खामी दिखाने का यत्न करे—यह संगत नहीं लगता। अणुव्रत-आंदोलन की आलोचना का स्पर्श करने से पूर्व मैं तेरापंथ के दान-दया सम्बन्धी अभिमत को स्पष्ट करना चाहूंगा।

अभ्युदय और विकास या लौकिक और आध्यात्मिक

चिन्तन एक द्रुतगामिनी धारा है, जिसमें ऊर्मियों के उतार-चढ़ाव होते हैं, ऊर्मि ऊपर उठती है तब ऊर्ध्वगमन की कल्पना होती है, वह नीचे आती है तब निम्न-गमन की कल्पना होती है। देखने वाला कह सकता है, यह असंगति है। पर जलधारा को यह कैसे मान्य होगा? वह विसंगति नहीं, किन्तु गति का क्रम है। ऐसा क्रम सब में होता है। जीवन में जो नानात्व है वह विसंगति नहीं है। हमारा जीवन अनेक विरोधी

तत्त्वों का सहज सामंजस्य है। वह लौकिक भी है और अलौकिक भी है। यदि वह लौकिक ही हो तो अलौकिकता की कल्पना व्यर्थ होगी और यदि वह अलौकिक ही हो तो उसे लौकिक मानने का कोई अर्थ नहीं होगा।

शरीर लौकिक है इसलिए शरीर-प्रधान-दृष्टि को हम लौकिक जीवन कहते हैं। आत्मा अलौकिक है इसलिए आत्म-प्रधान दृष्टिकोण को हम अलौकिक या आध्यात्मिक जीवन कहते हैं। इसी तथ्य के आधार पर हम जीवन को दो दृष्टियों से देखते हैं। यह जीवन का बंटवारा नहीं है, यह उसकी गतिविधियों का बंटवारा है।

धर्म हमारे शरीर की आवश्यकता नहीं है। शरीर की आवश्यकता है—भोजन की, पानी की और पदार्थों की। वह स्वयं पदार्थ है और पदार्थ तक ही उसकी गति है। धर्म की आवश्यकता है आत्मा को। जिन्हें आत्मा में आस्था है, उनके लिए धर्म का मूल्य सर्वोपरि है। जिन्हें आत्मा में विश्वास नहीं, उनके लिए धर्म उतना ही मूल्यहीन है, जितना कि एक आध्यात्मिक के लिए पदार्थ। धार्मिक व्यक्ति भी पदार्थ का उपयोग किए बिना नहीं जी सकते पर उनकी दृष्टि में उनका कोई स्वतंत्र मूल्य नहीं होता। अनात्मवादी भी धर्म के सामान्य नियमों का अनुगमन करते हैं, पर उनका लक्ष्य धर्म के द्वारा आत्मा को मुक्त करने का नहीं होता।

इस समय हमारे सामने तीन दृष्टिकोण हैं—

कुछ लोग धर्म को स्वीकार ही नहीं करते। उनके कर्तव्य निर्णय के माध्यम देश, काल और परिस्थिति होते हैं।

कुछ लोग धर्म को स्वीकार करते हैं और समाज की हर आवश्यक सेवा को धर्म मान, कर्तव्य और धर्म को एक ही मानते हैं।

कुछ लोग धर्म को स्वीकार करते हुए भी समाज का आत्म-विकास करने वाली सेवा को ही धर्म मानते हैं। वे धर्म और कर्तव्य को सर्वथा एक नहीं मानते। सामाजिक अभ्युदय की दृष्टि से पहला विकल्प जितना सरल है, उतना दूसरा या तीसरा नहीं है। तीसरा इसलिए सरल नहीं है कि वह धर्म को समाज के अभ्युदय का प्रमुख साधन नहीं मानता, दूसरा इसलिए नहीं कि वह समाज के अभ्युदय को प्रधानता देता है और उसका साधन बनाता है मोक्ष के हेतुभूत धर्म को। वह जिस साध्य की प्राप्ति के लिए धर्म है उसे गौण करता है और जो साध्य गौण है उसे प्रधान बनाता है।

तेरापंथ का दृष्टिकोण यह है कि समाज के अभ्युदय के लिए जितना महत्त्व अर्थनीति और व्यवस्था का है उतना धर्म का नहीं है और समाज विकास के लिए जितना महत्त्व धर्म का है उतना अर्थनीति और व्यवस्था का नहीं है। अभ्युदय से हमारा अभिप्राय है भौतिक प्रगति और विकास से हमारा अभिप्राय है चारित्रिक प्रगति।

समाज का भौतिक संस्थान अर्थ से आगे बढ़ता है। धर्म का उससे यदि कोई सम्बन्ध है तो वह इतना ही है कि उसका अर्थनीति पर अंकुश रहे, उसे विकृत न होने दे। समाज का चारित्रिक विकास धर्म से होता है। अर्थ का उससे यदि कोई सम्बन्ध है तो वह इतना ही है कि परिष्कृत अर्थनीति में धर्म को विकसित होने से बाह्य परिस्थितिजनित कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। किन्तु 'अर्थनीति और धर्म एक



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

ही है, राजनीति और धर्म एक ही है, इन्हें लौकिक और लोकोत्तर पक्षों में बांटा नहीं जा सकता। जीवन अविभक्त है, उसे विभक्त नहीं किया जा सकता—यह तेरापंथ को मान्य नहीं है, हम जीवन के अभ्युदय और विकास को पृथक् मानते हैं। इसी को श्री भंवरमल सिंघी धर्म और समाज के बीच कृत्रिम पृथक्ता बतलाते¹ हैं। उनका तर्क है—साधु भी समाज में रहें, समाज के माध्यम से प्रचार करें और जीवन-धारणा के लिए समाज से भोजन और वस्त्र प्राप्त करें, फिर भी समाज के कार्यों को धर्म के बाहर समझें, जिस पर अस्तित्व आधारित है उसे ही अनस्तित्व मानकर चलें, यह एक बड़ी विडम्बना ही लगती² थी। इसका अर्थ यही हुआ कि साधु समाज से लेते हैं इसलिए कृतज्ञता के नाते वे समाज के कार्यों पर धर्म की मोहर लगा दें। अभ्युदय व विकास को पृथक् मानने में जैसे उन्हें त्रुटि दिखाई देती है वैसे ही अभ्युदय और विकास को एक मानना हमें त्रुटिपूर्ण लगता है। अभ्युदय और विकास को एक मानने पर इधर धार्मिक जटिलताएं बढ़ीं तो उधर समाज-व्यवस्था भी जटिल बनी, इसीलिए समय-समय पर समाज के प्रमुखों और चिन्तकों को कहना पड़ा—धर्म और समाज-व्यवस्था का मिश्रण न किया जाए।

डॉ. ताराचंद ने अपने रेडियो भाषण में कहा—‘जहां तक धर्म का सम्बन्ध आध्यात्मिक अनुभव से और सत्य, त्याग जैसे शाश्वत सिद्धान्तों से है, वहां तक इसके बारे में कोई झगड़े की गुंजाइश नहीं। अर्थ और राजनीति से इसका सम्बन्ध जोड़ना उचित नहीं। क्योंकि ये बातें देश-काल के अनुसार बदलती रहती हैं। इनमें परिवर्तन का विरोध किया जाए तो समाज गतिहीन और जड़ हो जाता है। इसलिए समाज या राजनीति के सामयिक परिवर्तनों को धर्म में परिवर्तन नहीं समझना चाहिए। आज के युग में इहलौकिक और पारलौकिक विषयों को अलग रखना ही ठीक है।’

दैनिक ‘हिन्दुस्तान’ के सम्पादक ने इनके भाषण का सारांश इन शब्दों में दिया है—‘आकाशवाणी दिल्ली से 6 अगस्त 1958 को राष्ट्रीय कार्यक्रम में डॉ. ताराचंद ने ‘धर्म और राजनीति’ विषय पर अंग्रेजी में भाषण किया। उन्होंने कहा—धर्म का जो आध्यात्मिक रूप है वह नहीं बदलता, न उसके बारे में कोई विवाद होना चाहिए। पर धर्म का जो सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक रूप है उसमें जमाने के साथ परिवर्तन जरूर होता है। इस परिवर्तन का अर्थ धर्म में परिवर्तन या हस्तक्षेप न समझा जाना चाहिए। उचित यह है कि आध्यात्मिक बातों में राज्य का हस्तक्षेप न हो और राजनीतिक या सामाजिक विषयों में धर्म दखल न दे।’

धर्म क्यों ?

अनात्मवादी धर्म को नहीं मानते, वे नीति को स्वीकार करते हैं और उसके उद्देश्य में वे स्पष्ट हैं। उनके अभिमत में—‘नीति एक सामाजिक आवश्यकता है और मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।’ बस यही विचार नीति का समर्थन करने के लिए पर्याप्त³ है।

भगवान् महावीर ने धर्म का उद्देश्य आत्म-शोधन बतलाया है। उनकी वाणी है—‘इहलौकिक सुख-सुविधा के लिए धर्म मत करो, पारलौकिक सुख-सुविधा के लिए धर्म मत करो, यश आदि के लिए धर्म

1. अणुव्रत : प्रगति या प्रवंचना, पृ. 3

3. जड़वाद पृष्ठ 55

2. वही, पृ. 3



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

मत करो, केवल आत्म-शुद्धि के लिए धर्म करो¹।' इसी आशय को मैंने गद्यकाव्य में इन शब्दों में रखा था—

ए भोले!
कीचड़ के लिए पानी मत बहा,
सांस मौत के लिए नहीं है।
लौ काजल के लिए नहीं है।
बीज भूसे के लिए नहीं है।
बीज के साथ भूसा आता है।
लौ के साथ काजल,
सांस के साथ मौत।
किन्तु,
सांस जीने को ले,
लौ आलोक के लिए जला,
बीज अनाज के लिए बो²।

इसका भावार्थ इन शब्दों में है—केवल आत्मा की पवित्रता के लिए धर्म कर, धर्म के आनुषंगिक फल के रूप में सुख-सुविधाएं मिलें, उन्हें विवशता मान। उन्हें बन्धन मानते हुए उनसे मुक्ति पाने का प्रयत्न कर।³ जिनका दृष्टिकोण न पूरा सामाजिक है और न पूरा आध्यात्मिक, वे न केवल समाज के अभ्युदय के लिए ही नीति को स्वीकार करते हैं और न विकास के लिए ही धर्म को। वे अभ्युदय और विकास दोनों के लिए धर्म का सहारा लेना चाहते हैं। परिणाम यह होता है कि न नीति सफल होती है और न धर्म, न अभ्युदय होता है और न विकास। कोई भी सामाजिक व्यक्ति अभ्युदय और नीति की तब तक उपेक्षा नहीं कर सकता जब तक वह सामाजिक जीवन जीता है, किन्तु विकास की भावना उद्बुद्ध होने के कारण वह धर्म की आराधना भी करता है। यह अभ्युदय और विकास, नीति और धर्म के प्रति सामंजस्यपूर्ण दृष्टिकोण है।

धर्म क्या है?

धर्म शब्द अपने आपमें उलझन-भरा है। वह अभ्युदय के हेतुभूत विधि-विधानों व मोक्ष के साधनों तथा और भी अनेक अर्थों का वाचक है। अधिक उलझन का कारण भी यही है। यदि धर्म शब्द मोक्ष के साधनों का ही वाचक होता तो संभवतः इतनी उलझनें नहीं बढ़तीं। अपने आपको सुधारक या क्रान्तदर्शी मानने वाले भी अपनी हर सामाजिक प्रवृत्ति को धर्म का रूप देने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहे हैं—यह बहुत बड़ा आश्चर्य है। अभ्युदय और विकास में कोई अन्तर ही न हो, नीति और धर्म एक ही हो तो धर्म को अभ्युदय की भूमि से आगे ले जाने का अर्थ ही क्या है? समाज नीति से पृथक् उसके अस्तित्व का स्वीकार ही क्यों? धर्म का स्वीकार इसीलिए तो है कि उसका साध्य अभ्युदय से



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

1. दशवैकालिक 9/4

3. विजय-यात्रा, पृ. 83

2. विजय-यात्रा, पृ. 82

भिन्न है। धर्म का स्वतन्त्र अस्तित्व इसीलिए तो है कि उसका स्वरूप नीति से भिन्न है। नीति से हमारा अभिप्राय है जीवनयापन की व्यवस्थित पद्धति, अभ्युदयकारक व्यवस्था। इसका स्वरूप धर्म से इसलिए भिन्न है कि धर्म का आदि, मध्य या अन्त जो कुछ भी है वह अहिंसा है और नीति के सामने सर्वोपरि प्रश्न होता है सामाजिक जीवन की उपयोगिता। सामाजिक उपयोगिता के लिए हिंसा आवश्यक हो तो वह नीति को मान्य हो सकती है, होती है, पर धर्म को वह नहीं हो सकती। खेती सामाजिक जीवन की अपेक्षा है इसलिए वह हिंसा होते हुए भी नीति द्वारा सम्मत है, धर्मसम्मत इसलिए नहीं कि वह हिंसा है, भले फिर वह अनिवार्य हो। एक दिन मोक्षार्थी को उससे मुक्त होना होता है, जैसाकि महात्मा गांधी ने लिखा है—‘खेती इत्यादि आवश्यक कर्म शरीर-व्यापार की तरह अनिवार्य हिंसा है। उसका हिंसापन चला नहीं जाता है और मनुष्य ज्ञान और भक्ति के द्वारा अन्त में इन अनिवार्य दोषों से मोक्ष प्राप्त करके इस हिंसा से भी मुक्त हो जाता है।¹ दूसरी जगह वे इस तथ्य को इन शब्दों में स्वीकार करते हैं—‘यह बात सच है कि खेती में सूक्ष्म जीवों की अपार हिंसा² है।’ तब भी सिंघीजी इस पंक्ति के द्वारा—‘इन बातों के विपरीत वे इस प्रकार के कथन करते हैं जैसे कृषि में हिंसा है’—आचार्यश्री तुलसी की किस अनहोनी बात का परिचय देना चाहते हैं?’

भगवान् महावीर ने कृषि को हिंसा कहा है तब आचार्यश्री क्या नई बात कहते हैं? धर्म की भूमिका पर चिन्तन करने वाले प्रायः सभी धर्माचार्यों ने कृषि को अहिंसा धर्म नहीं माना है। बड़ा आश्चर्य तो यह है कि राजनीति की कसौटी पर धर्म को परखा जाता है। धर्म मोक्ष की कसौटी पर ही खरा उतर सकता है, राजनीति की कसौटी पर नहीं। धर्म की चर्चा निर्विकल्प-समाधि, जीवन-मुक्ति, पूर्ण-संवर, पूर्ण-अक्रिया और शरीर-मुक्ति तक चली जाती है, पर राजनीति इसे कब मान्य करेगी? आखिर हमें अपनी-अपनी सीमा के विधि-निषेधों का ध्यान रखना चाहिए। धर्म के विधि-निषेधों को राजनीति या समाज नीति की दृष्टि से तोलें और उनके विधि-निषेधों को धर्म की दृष्टि से तोलें तो उनमें पूर्ण सामंजस्य कैसे होगा?

प्रवृत्ति और निवृत्ति

जब से मोक्ष की मान्यता चली है तब से ही प्रवृत्ति और निवृत्ति की चर्चा भी चल रही है। कुछ लोग प्रवृत्ति को अधिक महत्त्व देते हैं और कुछ लोग निवृत्ति को। सच तो यह है कि जीवनकाल में प्रवृत्ति को छोड़ा ही नहीं जा सकता और मोक्ष के लिए निवृत्ति की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जैन मुनि के लिए पांच समितियां प्रवृत्त्यात्मक धर्म हैं और तीन गुप्तियां निवृत्त्यात्मक धर्म।³ कहा जाता है तेरापंथ प्रवृत्ति को धर्म नहीं मानता—इसमें पूरी सचाई नहीं है।

धर्म दो प्रकार के हैं—संवर और निर्जरा। इनमें निर्जरा प्रवृत्त्यात्मक धर्म है। अनागत कर्म परमाणुओं का निरोध संवर से होता है और संचित कर्म परमाणुओं का विनाश निर्जरा से होता है। ये निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों मिलकर मोक्ष की प्रक्रिया को पूर्ण बनाते हैं। केवल निवृत्ति से भी मोक्ष नहीं होता और वह केवल प्रवृत्ति से भी नहीं होता।

1. अहिंसा भाग 1, पृ. 35,36

3. उत्तराध्ययन 26/4

2. अहिंसा भाग 1, पृ. 35,36



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

तेरापंथ के अनुसार निवृत्ति से परिष्कृत प्रवृत्ति धर्म है। असंयममय प्रवृत्ति धर्म नहीं है। प्रेम, आत्मौपम्य, सत्य-वचन, संतोष और त्याग—ये धर्म हैं। प्रज्ञाचक्षु पंडित सुखलालजी की निम्न पंक्तियों का अभिमत तेरापंथ को कब अमान्य रहा है? वे पंक्तियां ये हैं—‘जो व्यक्ति सार्वभौम महाव्रतों को धारण करने की शक्ति नहीं रखता उसके लिए जैन परम्परा में अणुव्रतों की सृष्टि करके धीरे-धीरे निवृत्ति की ओर आगे बढ़ने का मार्ग भी रखा है। ऐसे गृहस्थों के लिए हिंसा आदि दोषों से अंशतः बचने का विधान किया है। उसका मतलब यही है कि गृहस्थ पहले दोषों से बचने का अभ्यास करें। पर साथ ही यह आदेश है कि जिस-जिस दोष को वे दूर करें, उस-उस दोष के विरोधी सदगुणों को जीवन में स्थान देते जाएं। हिंसा को दूर करना हो तो प्रेम और आत्मौपम्य के सदगुणों को जीवन में व्यक्त करना होगा। सत्य बिना बोले और सत्य बोलने का बल बिना पाए असत्य से निवृत्ति कैसे होगी? परिग्रह और लोभ से बचना हो तो संतोष और त्याग जैसी गुणपोषक प्रवृत्तियों में अपने आपको खपाना होगा।’¹ परन्तु उनकी ये पंक्तियां, जिनकी रचना इन शब्दों में है—‘दान का निषेध सार्वजनिक हित प्रवृत्ति का निषेध, इतना ही नहीं, जीव-दया पालन का भी निषेध, यह हुई तेरापंथ की निवृत्ति²—चिन्तन की गहराई लिए हुए नहीं है। तेरापंथ की मान्यता का यह वैसा ही चित्रण है जैसा कि स्याद्वाद का निरसन करते समय शंकराचार्य ने किया है। दान संग्रह का आवरण है—इस ऐतिहासिक तथ्य को पंडितजी जैसे मनीषी व्यक्ति दृष्टि से ओझल कर देते हैं—यह आश्चर्य की बात है। क्या जैन-आगम साहित्य में असंयति-दान को धर्म माना है? असंयति को दान देकर जो पुण्य-फल की इच्छा करता है वह जलती हुई अग्नि में बीज बोकर अनाज पाना चाहता है।’³ क्या यह आचार्य अमितगति की वाणी नहीं है? कन्यादान, गोदान, भूमिदान आदि को धर्म की कोटि में मानने से इन्कार नहीं किया है?⁴ यदि यह है तो फिर ‘तेरापंथ दान का निषेध करता है’—इस उक्ति के पीछे रहस्य क्या है?⁵ किसी कार्य को धर्म न मानना और उसका निषेध करना—ये दोनों एक तो नहीं हैं। तेरापंथी लोग असंयति-दान को मोक्ष-धर्म नहीं मानते—यह दान का निषेध कैसे? तत्त्व-चिन्तन की भूमिका में महात्मा गांधी ने माना कि खेती में हिंसा है, पर खेती में हिंसा मानने का अर्थ उसका निषेध कैसे होगा? आवश्यक कार्यों का निषेध नहीं किया जा सकता—यह जितना सच है उतना ही सच यह भी है कि आवश्यक होने के कारण हिंसा को अहिंसा और असंयम को मोक्ष धर्म नहीं माना जा सकता।

कृषि में हिंसा है, खाने में भी हिंसा है, जीवन चलाने में भी हिंसा है। जो हिंसा है वह है। उसे स्वीकार करने का अर्थ है—तथ्य का स्वीकार। मनुस्मृतिकार ने लिखा है—‘गृहस्थ के घर पांच वधस्थान हैं—चूल्हा, चक्की, बुहारी, ओखली और जल का घर।’⁶ यह तथ्य की स्वीकृति है। इसका अर्थ निषेध कैसे होगा? जीवन की आवश्यकताओं व सामाजिक अपेक्षाओं का निषेध किया भी कैसे जा सकता है?

विनोबाजी ने लिखा है—‘कुछ जैन बन्धु तो खेती करना पाप मानते हैं। खेती के काम से जन्तुओं की हिंसा होती है। पर वह हिंसा लाचारी की हिंसा है। शरीर के साथ-साथ कुछ न कुछ हिंसा जुड़ी हुई

1. अणुव्रत : प्रगति या प्रवंचना? पृ. 2 (पंडित सुखलालजी :
‘दर्शन और चिन्तन’ (जैनधर्म और दर्शन, पृ. 146-147)

2. वही, पृ. 3

3. भगवती सूत्र

4. अमितगति श्रावकाचार

5. अमितगति श्रावकाचार, आचारांग टीका आदि-आदि।

6. मनुस्मृति 3/68



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

है, इसलिए उससे बचकर आप नहीं रह सकते। धान्य उत्पादन करने में हिंसा होती है, तो क्या धान्य का व्यापार करने में हिंसा नहीं होती? खाना पैदा करने में पाप है, तो क्या खाना खाना पाप नहीं है? ¹ इसमें तथ्यों का विश्लेषण है। यह सत्य है—हिंसा धान्य उत्पन्न करने में भी होती है और उसके व्यापार में भी, वह खाना पैदा करने में भी होती है और खाने में भी। पर जैन दृष्टि से इसका फलित यह नहीं कि खेती मत करो, व्यापार मत करो, यह मत खाओ। आनन्द श्रावक भगवान् महावीर का प्रधान उपासक था। उसके बहुत बड़ी खेती थी। वह किसान भी था और बारह व्रती श्रावक भी। खेती हिंसक धन्धा है और ब्याज का धन्धा या व्यापार हिंसक धन्धा नहीं है—ऐसा गलत विचार भी कुछ लोगों में दृढमूल बना, पर यह वास्तविक नहीं है। महापुराण में ब्याज को आर्तध्यान माना है—महाहिंसा का हेतु माना है। वर्तमान के अधिकांश जैनी खेती नहीं करते इसका कारण अहिंसा-दृष्टि नहीं है, उसका कारण है—सुविधावाद, ऐश्वर्य और आरामपरता। कुछ स्थान के जैसे कच्छ में जैन बन्धु अभी भी खेतिहर हैं। 19वीं शताब्दी में राजस्थान में भी बहुत जैनी खेती करते थे, जो लोग आज लखपति या करोड़पति हैं उनके बाप-दादा किसान भी थे। जैन धर्म की अहिंसा का खेती से विरोध कहां है? आचार्य भिक्षु ने श्रावक के बारह व्रतों की विवेचना की है। उसमें उन्होंने श्रावक को खेतिहर के रूप में प्रस्तुत किया है। श्रावक गुरु के पास आता है और बारह व्रतों को स्वीकार करने की प्रार्थना करता है। पहला व्रत अहिंसा है। उसे स्वीकार करते समय वह कहता है—‘प्रभो! पहले व्रत में हिंसा का प्रत्याख्यान होता है। हिंसा दो प्रकार की है—त्रस जीवों की हिंसा और स्थावर जीवों की हिंसा। स्थावर जीवों की हिंसा न करूं तो पेट नहीं भरता। इसलिए मैं त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करता हूं और स्थावर जीवों की हिंसा का परिमाण करता हूं। एक बात और है—मैं इतना सहिष्णु नहीं हूं कि अपराधी को क्षमा कर सकूं, मैं उन्हीं त्रस-जीवों को नहीं मारूंगा जो अपराधी नहीं हैं। अहिंसा में सावधानी की बहुत आवश्यकता है, मैं इतना सावधान नहीं हूं। मैं धन तौलता हूं, गाड़ी पर चढ़कर गांवों में जाता हूं, खेती करता हूं वहां बहुत जीव मर जाते हैं इसलिए वहां संकल्पपूर्वक त्रस-जीवों को मारने का प्रत्याख्यान करता हूं।’²

1. भूदान 17 अप्रैल 1959 का पेज 7वां

2. बारह व्रत की चौपई ढाल पहली
पहला व्रत इम जाण, तिण में हिंसा ना पचखाण।
हिंसा तस तणी ए, बीजी थावर भणी ए॥1॥
वसतां गृहस्थावास, हिंसा होवे जास।
आरम्भ बिन करिये ए, पेट किम भरिये ए॥2॥
करूं तस तणा पचखाण, थावर नो परमाण।
भेद तस तणा ए, ज्ञानी कद्धा घणा ए॥3॥
कोई मोने घाले घात, मांहरो अपराधी साख्यात।
खमतां दोहिलो ए, नहिं मोने सोहिलो ए॥4॥
सांतो दे धन ले जाय, अथवा लूटे आय।
खून करे जरे ए, सूंस नहीं तरे ए॥5॥
विण अपराधी होय, तिणरी हिंसा दोय।
मरे जाणतां ए, बले अजाणतां ए॥6॥
म्हारे धान जोखण रो काम, गाड़ी चढ़ जाऊं गाम।
खेती हल खडू ए, सूंड निनाण करूं ए॥7॥

तिहां बहु जीव हणाय, किम पालूँ मुनिराय।
नहीं सझे इसो ए, गृहवासे फस्यो ए॥8॥
आकुटा ने साम, जीव मारण रे काम।
व्रत छै जाणतां ए, नहीं अजाणतां ए॥9॥
म्हारी इसड़ी इर्या नांहि, चालू अंधारा मांहि।
वस्तु पूंजूं नहीं ए, लेवूं मूकूं सही ए॥10॥
थाप लाठी रो नेम, मोसूं चाले केम।
चोपद हाकणा ए, दोपद हठकणा ए॥11॥
इम करतां जीव मराय, जीव काया जूदा थाय।
हणवा बुध नहिं धरी ए, बिना बुध मरी ए॥12॥
हणवा री बुध होय, जीव न मारूं कोय।
से उपयोगे करी ए, ऐसी विगत धरी ए॥13॥



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

यह प्रसंग आचार्य भिक्षु के दृष्टिकोण पर भी प्रकाश डालता है। उनका दृष्टिकोण यही था कि हिंसा को, भले फिर वह अनिवार्य हो, अहिंसा न माना जाए। जो अहिंसा नहीं है, उसे मोक्ष धर्म की बुद्धि से न किया जाए। सामाजिक प्राणी समाज की आवश्यकताओं को पूरा न करे—यह प्रतिपाद्य न उनका था और न किसी भी तेरापंथ के आचार्य का कभी रहा है।

दान कभी सामाजिक तत्त्व रहा है, पर आज तो वह पूरा सामाजिक भी नहीं रहा है। इस अधिकार जागरण के युग में लोग दान नहीं चाहते, संविभाग चाहते हैं या अपना अधिकार चाहते हैं। भूदान के कार्यकर्ताओं ने अनेक बार ऐसे विचार व्यक्त किए हैं—‘किन्तु जो लोग इसमें भूमि देते हैं वे यदि यह खयाल करेंगे कि वे यह दान कर रहे हैं तो उसका अभीष्ट फल न निकलेगा। दान शब्द का अर्थ वही न होना चाहिए जो पुराना चला आता है। यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि वे गरीबों को अधिकार दे रहे हैं दान नहीं।’ दान और त्याग का अन्तर आचार्य विनोबा भावे ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है।¹

काका कालेलकर ने लिखा है—‘सा धर्म, प्रधान धर्म दान नहीं, किन्तु त्याग है। समाज द्रोह करके धन इकट्ठा करना और उसमें थोड़ा सा विपद्ग्रस्तों को देकर अपने को पुनीत मानना, यह अपने को और समाज को धोखा देना है। सच्चा धर्म है—समाज सेवा के लिए इन्द्रिय-निग्रह करना, उद्योग परायण सादगी से रहना और समूचे समाज के साथ अपनी एकता का अनुभव करना। केवल मनुष्य समाज के लिए ही नहीं, किन्तु सचराचर विश्व के साथ एक रूप हो जाना, यही है सच्चा जीवनानन्द।’

दान के बारे में जिन चिन्तकों ने गहराई से सोचा है वे इसे बहुत बड़ा तत्त्व नहीं मान रहे हैं। किसी समय यह समाज-व्यवस्था का एक अंग रहा था। आज की परिवर्तित समाज व्यवस्था में उसका कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है।

विधि और निषेध

जब तक जीवन है तब तक उसमें कोरी विधि या कोरा निषेध हो नहीं सकता। ये दोनों सापेक्ष हैं। एक भूमिका पर जिसे हम निषेध कहते हैं उसे ही दूसरी भूमिका में विधि कहते हैं। अहिंसा द्व्यर्थक है—यह कोरा निषेध भी नहीं है, कोरी विधि भी नहीं है। इसमें असंयम का निषेध है और संयम का आचरण भी है, विरोध या उत्पीड़न का निषेध है और मैत्री का अनुसरण भी है। सब जीवों को आत्म तुल्य समझकर आचरण करो—यह विधि है। किसी को मत मारो—यह निषेध है। विधेयात्मक अहिंसा में असंयत प्रवृत्ति का निषेध है और संयम प्रवृत्ति का विधान है। निषेधात्मक अहिंसा में प्रवृत्तिमात्र का निषेध है। इस प्रकार विधि निषेध की मर्यादाएं हैं। जीवन-यापन में आवश्यक हिंसा होती है। उसके निषेध के द्वारा ही संयम या आत्म मुक्ति, जो विधि भी है, प्राप्त होती है। महात्मा गांधी के अभिमतानुसार—‘मानवों में जीवन संचार किसी न किसी की हिंसा से होता है इसीलिए सर्वोपरि धर्म की परिभाषा एक नकारात्मक कार्य अहिंसा से की गई है। यह शब्द-संहार की संकड़ी में बंधा हुआ है। दूसरे शब्दों में यह कि शरीर में जीवन संचार के लिए अहिंसा स्वाभाविक रूप से आवश्यक है। इसी कारण अहिंसा का पुजारी सदैव प्रार्थना करता है कि उसे शरीर के बन्धन से मुक्ति प्राप्त हो।’²

1. विनोबा विचार

2. सी.एफ. एंड्रूज—महात्मा गांधी के विचार 5/138



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

आचार्य भिक्षु यह व्याख्या लगभग दो शताब्दी पूर्व ही दे चुके हैं। जो लोग कहते हैं कि तेरापंथ में दान-दया का निषेध है, उसका तात्पर्य उक्त तथ्य की (हिंसा को हिंसा मानने की) स्वीकृति-मात्र है।

श्री भंवरलाल सिंघी ने अपनी पुस्तिका में जो असंगतियां दिखाने का यत्न किया है उनका सारांश निम्न चार सूत्रों में आ जाता है। उनके अभिमतानुसार—

‘एक ओर आचार्यश्री तुलसी तेरापंथ की मान्यताओं में विश्वास करते हैं तो दूसरी ओर समाज सेवा की बात कहते हैं। एक ओर वे व्यक्तिगत धर्म की बात करते हैं तो दूसरी ओर श्री जयप्रकाश नारायण के उन शब्दों को—‘आज उस धर्म की आवश्यकता नहीं है जिससे वैयक्तिक मोक्ष की प्राप्ति होती हो—हजम कर लेते हैं।¹ एक ओर तो वे नकारात्मक भाषा में बोलते हैं और दूसरी ओर वे, अणुव्रत के प्रशंसक अणुव्रत-आंदोलन की समाजवादी समाज-व्यवस्था की रचना का स्वप्न देखते हैं।² एक ओर वे ‘हम धार्मिक काम ही कर सकते हैं³, यह विश्वास लेकर चलते हैं और दूसरी ओर मानव धर्म की बातें करते हैं—ये असंगतियां हैं।’

असंगतियों की समीक्षा

(1) हम पहली असंगति की ही समीक्षा करें। समाज सेवा का अर्थ क्या भौतिक पदार्थों के सहयोग तक ही सीमित है? चारित्रिक उन्नयन का मार्गदर्शन देना क्या समाज सेवा नहीं है? यदि नहीं है तो श्री सिंघीजी के ये शब्द—‘तुलसीगणी सेवा के काम में नहीं उतर सकते’⁴—सही है। आचार्यश्री तुलसी ने जो कहा—‘हम सेवा को आध्यात्मिक धर्म नहीं मानते⁵, उसका आशय है कि हम भौतिक सेवा को मोक्ष धर्म नहीं मानते। समाज का चारित्रिक विकास करने का यत्न करना सेवा है, उसके लिए आचार्यश्री तुलसी सदा यत्नशील हैं। इसलिए वे अपने लिए जिस समाज सेवा की बात कहते हैं उसमें और उनके अभिमत में कोई असंगति नहीं है।

चरित्र विकास की समस्या आज सर्वाधिक जटिल है। पंडित नेहरू जैसे राजनयिक का अभिमत है—‘विज्ञान ने जो सफलताएं प्राप्त की हैं उन पर हर एक व्यक्ति को गर्व होना चाहिए। किन्तु इसके साथ ही सम्पूर्ण मानव समाज में नैतिक-बल और आत्म-नियंत्रण की कमी का अद्भुत तमाशा भी दिखाई पड़ रहा है।⁶ नैतिक-बल और आत्म-नियंत्रण की स्थिर प्रतिष्ठा के लिए अणुव्रत-आंदोलन का प्रयत्न है, वह आज के युग की सबसे बड़ी समाज सेवा है।

(2) दूसरी बात—धर्म व्यक्तिगत है। अणुव्रत-आंदोलन व्यक्ति सुधार के लिए है—यह आचार्यश्री का अभिमत है। संसार के लगभग सभी धार्मिक महापुरुषों का यही अभिमत रहा है। महात्मा गांधी ने लिखा है—‘धर्म एक व्यक्तिगत संग्रह है, तेने माणस पोते, राखी शके है ने पोतेज खूए है’⁷ धर्म में विनिमय की क्षमता नहीं है। जिसका विनिमय न किया जा सके वह वैयक्तिक ही होता है।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

1. अणुव्रत : प्रगति या प्रवंचना ? पृ. 9
2. अणुव्रत : प्रगति या प्रवंचना ? पृ. 9
3. अणुव्रत : प्रगति या प्रवंचना ? पृ. 11
4. अणुव्रत : प्रगति या प्रवंचना ? पृ. 11
5. अणुव्रत : प्रगति या प्रवंचना ? पृ. 11
6. दैनिक विश्वमित्र 28 अप्रैल 1959, कलकत्ता
7. नव जीवन 24-1951

जयप्रकाश नारायण ने कहा—‘आज उस धर्म की आवश्यकता नहीं है जिससे वैयक्तिक मोक्ष की प्राप्ति होती हो।’ यह उनका अपना अभिप्राय है। रही बात वर्तमान आंदोलन के साथ उनके समन्वय की। जो अपेक्षा को समझता है उसके लिए असमन्वय की बात ही क्या है? वे करुणा की भूमिका पर बोल रहे थे, साधना की भूमिका इससे भिन्न है। शंकराचार्य ने साधना की भूमिका में कहा—‘कोहं कस्त्वं कुत आयातः का मे जननी को मे तातः।’

दोनों दृष्टिकोण हैं। सामाजिक लोग समाजोपयोगी तत्व को महत्त्व देते हैं और साधनाशील पुरुष साधना को। जैन भिक्षुओं के भी दो वर्ग होते हैं—1. आत्मानुकम्पी और 2. उभयानुकम्पी। पहले वर्ग के भिक्षु केवल अपने मोक्ष की साधना में ही रत रहते हैं और दूसरी कोटि के भिक्षु अपनी और दूसरों की दोनों की मुक्ति की चिन्ता में रहते हैं। दोनों में से कोई व्यक्ति किसी को पसन्द करता है, कोई किसी को। यह अपनी रुचि का प्रश्न है। जयप्रकाश की रुचि दूसरे विकल्प की ओर थी। इसीलिए उन्होंने वैसा कहा। धर्म से मोक्ष होता है। उसका आचरण व्यक्ति अकेला करे या समूह को साथ लेकर करे? उन्हें यह नहीं रुचा कि व्यक्ति अकेला धर्म करे। वे चाहते हैं कि धर्म सबके लिए हो, मुक्ति का द्वार सबके लिए खुला हो। अणुव्रत आंदोलन धर्म के सामूहिक आचरण का प्रेरक है इसीलिए उसमें असमन्वय जैसा क्या है? और सच तो यह है कि वैयक्तिकता रहित सामाजिकता है भी कहां? सामूहिक भोज का अर्थ क्या वैयक्तिकता से शून्य है? व्यक्ति ही खाता है, समूह कभी नहीं खाता। व्यक्ति ही भला या बुरा होता है, समूह कभी वैसा नहीं होता। समूह हमारी सापेक्ष कल्पना है। सचाई व्यक्ति ही है। व्यक्ति खाता है फिर भी हम उसे सामूहिक भोज इसलिए कहते हैं कि बहुत सारे व्यक्ति सामूहिक रूप में खाते हैं। व्यक्ति-व्यक्ति धर्म करता है, नैतिक बनता है फिर भी हम उसे धर्म का सामूहिक आचरण इसलिए कहते हैं कि बहुत सारे व्यक्ति संगठित रूप में धर्म करते हैं। व्यक्ति-व्यक्ति मोक्ष प्राप्त करता है फिर भी हम उसे सामूहिक मोक्ष इसलिए कहते हैं कि बहुत सारे लोग संगठित रूप से मोक्ष पाते हैं। वक्ता की अपेक्षा को समझने का यत्न किया जाए तो शब्द हमें उलझन में नहीं डाल सकते। होता यह है कि हम वक्ता के शब्दों को पकड़ लेते हैं, उसके भाव को नहीं पकड़ते। असंगति का पौधा यहीं पनप जाता है।

(3) तीसरी बात—श्री श्रीमन्नारायण ने अणुव्रत-आंदोलन को समाजवादी समाज-व्यवस्था की रचना में सहायक माना है। इसकी असंगति आचार्यश्री के उस विचार के साथ दिखलाई गई है कि ‘अणुव्रत व्यवस्था में क्षितिज के उस पार की चिन्ता का ही मुख्य स्थान है, गौण स्थान प्रत्यक्ष समाज-व्यवस्था का’ और कि ‘आत्म-धर्म आत्म-साधना का प्रतीक व मोक्ष का साधक है और लोक-धर्म लोक-मर्यादा व व्यवस्था का निर्वाहक है। दोनों का एकीकरण करना गम्भीर भूल है।’¹ पर आचार्यश्री ने जो कहा वह नैतिक मूल्यों की स्थिर प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है। केवल अभ्युदय की चिन्ता करने वाले नैतिकता का स्वयम्भूत मूल्य नहीं आंक सकते, जैसा कि पंडित नेहरू ने लिखा है—‘एक कम्युनिष्ट के दृष्टिकोण से उसका कोई वास्तविक अर्थ नहीं रह जाता। यदि मनुष्य में कोई सनातन तत्व नहीं है, कोई ऐसी चेतना-शक्ति नहीं है, जो शारीरिक सीमा से परे हो, जो कुछ वर्तमान है, वह सभी भौतिक है और चेतना कुछ नहीं



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

1. अणुव्रत : प्रगति या प्रवंचना? पृ. 1, में टिप्पण 4, जैन भारती 17-1-54

को सर्वथा विभक्त भी नहीं कर सकते। इस सापेक्ष दृष्टि को ही श्री सिंघीजी ने उलझन भरा, असंगति रूप और प्रवंचना कहा है। ऐसा कहने में अपेक्षा दृष्टि का तिरस्कार है। सापेक्ष दृष्टि से देखा जाए तो इसमें असंगति या प्रवंचना जैसा कुछ भी नहीं है।

सम्प्रदाय को छोड़ने की बात कहना शायद इस युग की सभ्यता होगी। पर उससे मुक्त है कौन? और हो कौन सकता है? हर एक व्यक्ति किसी न किसी रूप में थोड़ी बहुत मात्रा में दूसरों से विचार लेता ही है। वही तो सम्प्रदाय है। हमारी रुचि कहीं होती है और कहीं नहीं होती। जिस ओर हमारा झुकाव होता है उसे हम असाम्प्रदायिक और बौद्धिक कहते हैं और जिस ओर हमारा झुकाव नहीं होता उसे साम्प्रदायिक और अबौद्धिक कह डालते हैं। यह समता का अनुशीलन नहीं है। बुद्धि की अपेक्षा समता की भूमिका बहुत ऊंची है। बुद्धिवाद में ऐसे विकल्प हो सकते हैं।

‘श्रीतुलसीगणीजी’ करें तो क्या करें? पंथ का चोला फेंकने पर कहां रहें? कौन माने? चोला रखें, तो पुरानी लकीर फेंकी नहीं जा सकती। इससे कार्य, भाषा सब संदिग्ध व बेमेल हैं।¹ किन्तु समभाव की भूमिका इन विकल्पों से अतीत है। हम यही चाहते हैं कि बुद्धि और समभाव में ऐसा द्वन्द्व न हो। दूसरों के मूल्यांकन का स्तर भी इतना नीचा न हो। हम हमारी विशालता में ही दूसरों की विशालता को लीन न करें किन्तु अपनी दृष्टि को स्वच्छ रख कर ही उसमें दूसरों की विशालता को प्रतिबिम्बित होने दें। आचार्यश्री ने अपने प्रवचन में कहा—‘संकीर्णता और विशालता की पहचान बाहरी आकार नहीं है। दूरवीक्षण का संकरा कांच विशाल दर्शन देता है, क्या हम उसे संकीर्ण मानें? हमारी दृष्टि को विशाल बनाए वह संकीर्ण नहीं होता, भले फिर उसका बाहरी रूप कैसा ही क्यों न हो।’ साम्प्रदायिक संकीर्णता की बात करने वाले कुछ गहराई से इस पर मनन करें और केवल बाहरी स्वच्छता को सर्वोपरि महत्त्व देने वाले एक बार अणु आभा वैज्ञानिक अमेरिकन महिला डॉ. जे.सी. ट्रस्ट की ‘अणु और आत्मा’ पृष्ठ (160-161) पढ़ लें।



नैतिकता, चरित्र
और
अणुव्रत

1. अणुव्रत : प्रगति या प्रवंचना? पृ. 1